THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182158

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83 S11T Accession No. H 2723

Author सब्बरवाल, कंकलता

Title त्रिवेणी १९५७

This book should be returned on or before the date last marked below.

त्रि वे णी

—सामाजिक उपन्यास—

लेखिका :

कञ्चनलता सब्बरवाल, एम० ए०

प्रिंसीपल, महिला कालेज, लखनऊ



प्रकाशक :
साहित्य सदन,
देहरादून

प्रथम संस्करण : १९००
मूल्य पाँच रुपए

मुद्रक :
भास्कर प्रेस
देहरादून

कहूँ !

कुछ कहना पड़ता है, किन्तु क्या कहा जाय यही जान नहीं पड़ता। विशेषतया मेरे जैसे व्यक्ति के लिए, जिसे लेखिका होने का कोई, तनिक सा भी दावा मन में कहीं खोजे भी मिलता नहीं है, कुछ आरम्भ में कहना अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। मैं तो यही जानती हूं कि मुझे आस-पास के जगत में बहुत कुछ सामग्री मिल जाती है सोचने, विचारने और उससे भी अधिक अनुभव करने को.....। अपने उन्हीं यथार्थ जगत् के चित्रों में कल्पना द्वारा रंग भर कर रख देती हूं। और बस रंग तो रंग ही है, भले ही आपकी आँखों को न जंचे, पर फीका नहीं है.....

और यही रंग का महत्व भी है। श्रीयुत सुरेन्द्र नाथ ने उन्हीं रंग भरे चित्रों को प्रकाशित कर डाला है।

लखनऊ
मार्च २७, १६५०

—कञ्चनलता सब्बरवाल

विषय-सूचि

१	चन्द्रिका की आत्मकथा	१—७७
२	सुरभि देवी की आत्मकथा	७८—१६८
३	विजयश्री की आत्मकथा	१६६—३४८

त्रिवेणी

—:०:—

"पागल"

तब क्या मैं सचमुच ही पागल हूं ? यह कैसे हो सकता हैं ? जब मैं कॉलेज में पढ़ती थी तो साइकलौजी में पागलपन के लक्षण पढ़े थे। .....पागल तो वस्तुएं नष्ट करते हैं.....मैं तो कभी करती नहीं.... और.....और.....अच्छा जाने दो, सिर जो चकराता है। सिर के अन्दर जान पड़ता है दो पहलवानों की कुश्ती हो रही है, तब होने दो, पर यह तारे टूट टूट कर पृथ्वी पर क्यों गिर रहे हैं ? ओह, सिर फटा फटा..... लेटती हूं।

अब तो ठीक हूं..... मैं.....हां तो लोग कहते हैं मैं पागल हूं। .. ..क्यों ? क्या लोग पागल हैं ? वही तो..... वही पागल हैं.....मुन्नी रानी.....मेरी नन्ही बहिन कितनी प्यारी है, आज वह मुझे देखने आई थी। अभागी, मुझे देख-कर रो पड़ी। हाँ, मैं उससे बोली जो नहीं थी। क्या करती मेरी ज़ुबान तो किसी ने पकड़ ली थी, बड़े ज़ोर से। मुन्नी चली गई, यह समझ कर कि उसकी बहिन पागल है। धुत, कितनी पागल है स्वयं मुन्नी। .....वास्तव में स्वयं दुनियां पागल है। मैं नहीं बोलती... ...मेरा मन बोलने को नहीं करता तो क्या कोई ज़बरदस्ती है हम नहीं बोलते, भला विश्व हमें इतनी

भी स्वतन्त्रता नहीं दे सकता। यह भी कोई बात है? यह तो बिलकुल पागलों की सी ही बात है। सब..... यह सब पागल हैं और कहते हैं कि मैं पागल हूं। किया क्या जाय? बहुमत इनका है ना तब ही इतना उछलते हैं।..... अच्छा अब मैं सोऊँगी, बिदा।.....पर नहीं, सोऊँगी नहीं .....कितनी सुन्दर थी वह सन्ध्या.....और कितनी उल्लास भरी थी मैं..... पिता कहते थे गर्व से, "मेरी गुटरु जैसी लड़की कोई देश-विदेश में निकाल तो दे। कितनी सयानी है और कितनी प्यारी?"

अम्मा कहती—"हां गुटरु तुम्हारी ही तो है ना? किस की है बेटा? मेरी या अपने बाबू जी की?"

मैं संशय में पड़ जाती। पिता प्यार करते थे, साथ खेलते थे और अच्छी-अच्छी चीजें लाकर देते थे। मां मधुर वस्तुयें खाने को देती थीं और रात को लोरी गाकर सुलाती थी। दोनों में से किसी को भी अप्रसन्न करके गुजर करना कठिन है यह मेरी बाल-बुद्धि में भी आ गया। बड़ी कठिनाई में पड़कर मैं निश्चय ही नहीं कर पा रही थी कि यकायक ही पिता के गले से चिपट कर बोल उठी—"पपा!" मां रूठ गई।

"अच्छा बिट्टी अब आना रात को कहानी सुनने?"

मैं सहम गई। पिता हँसकर बोले—"मेरी बिटिया का नाम है चन्द्रिका जानती हो? चन्द्रिका किसी पर आश्रित नहीं होती यहां तक कि चन्द्र पर भी नहीं। स्वयं चन्द्र भी अपने अस्तित्व, अपनी प्रसिद्धि के लिए चन्द्रिका पर ही आश्रित है। चन्द्रिका न होने पर चन्द्र को जानेगा ही कौन? मेरी बच्ची भी किसी पर आश्रित रहेगी नहीं।"

"मैं चन्द्रिका, मैं किसी पर आश्रित नहीं।" अटकते हुए मैंने पिता के गले के चारों ओर अपनी नन्हीं बाहों का घेरा डाल कर उनकी छाती में मुंह छिपा कर कह डाला। माँ और पिता दोनों खिलखिला कर हँस पड़े। हँसी का प्रवाह रुकने पर माँ ने कहा—"वाह री, चन्द्रिका!"

पिता ने कहा—"सचमुच ही अपनी चन्द्रिका को सदा सर्वदा सुखी और स्वतन्त्र ही रक्खूंगा।" माँ कुछ गम्भीर हो उठी। उनका मुख लटक सा गया। कुछ गम्भीरतापूर्वक धीरे धीरे उन्होंने कहा—"हिन्दू के घर की लड़की का भाग्य कौन जानता है, कैसा हो?"

पिता उल्लास से भरे बोले—"मेरी चन्द्रिका की कर्मरेखा बहुत उज्जल है, नहीं तो इतनी ढेर-सी बुद्धि और इतना अतुल सौन्दर्य्य ही लेकर क्यों आती?"

पर माँ का मुख धूमिल ही रहा। कुछ सहमी हुई-सी कह गई—"भगवान् ऐसा ही करें।"

"अवश्य ऐसा हो करेंगे, भगवान्। जिसके शरीर में सौन्दर्य्य हो, जिसके पिता की तिजोरी में अगनित सोने-चांदी के टुकड़े हों, जिसमें विद्या-बुद्धि की कमी न हो, ऐसी भी लड़की सुखी न हो पायेगी तो और होगा ही कौन? चिन्ता न करो, सुशीला, तुम्हारी गुटरू राजरानी होयेगी। इसका पति इसका मुंह-जोहा करेगा।" पिता के स्वर में दृढ़ता थी। माता शायद आश्वासित होकर चुप हो रही। माता-पिता की बातचीत मैं उस समय भली प्रकार समझ तो नहीं पाई किन्तु यह अवश्य जान गई कि संसार में मेरा बड़ा ही आवश्यक स्थान है। लाड़

प्यार के बीच इससे अधिक और मैं जान ही क्या पाती? पिता से लेकर घर की मेहतरानी तक एक स्वर से कहती थीं कि चन्द्रबीबी जैसी सुशील तथा सुन्दरी और कोई बच्ची कभी देखी ही नहीं। जान पड़ता है मैं बहुत ही सुन्दर थी। और कल्लू कहार के माँगने पर स्वीटज़रलैण्ड का पनीर का डिब्बा या जैम की आधी बोतल या ताजे सेब, अंगूर आदि दे डालना तो मेरी साधारण आदतों में से था। माँ कभी-कभी मेरा आदतों पर खीज उठती थी, डांट भी देती थी, पर पिता सदा ही हँसकर कहते—"रहने दो, रहने दो सुशीला! कौन मेरे कोई दो-चार बालक हैं, एक गुटरु ही तो है अगर चार-छः रुपये रोज़ बिगाड़ भी दे तो है तो सब कुछ उसका ही, इतनी धन-सम्पत्ति हम तुम थोड़े ही सिर पर उठाकर ले जायेंगे।"

मैं यद्यपि उस समय सात साल की थी, पर पिता के प्यार ने मुझे तीन साल का बच्चा ही बना रक्खा था। अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि होने से पाठशाला में भी मेरा अत्यन्ताधिक सम्मान था। कितने सुन्दर थे मेरे जीवन के वह पृष्ठ कितने उज्ज्वल.....जो चाहता है एक बार फिर उन्हें बुला लूं। ओह! आ तो गये वह देखो मेरे पिता खड़े हैं.....कहां पिता जी लोग कहते हैं तुम तो मर गये थे। आओ, आओ, बैठो अरे वह सब तो मूर्ख हैं, पागल हैं और जानते हो वह क्या कहते हैं, वह कहते हैं तुम्हारी चन्द्रिका पागल है, कितने भारी मूर्ख हैं ना वह, और जानते हो उनमें ही हैं मेरे..... अच्छा जाने दो अब तुम से उनकी बात क्या कहूं पपा। जाने दो.....ओह, तुम कितने अच्छे हो पपा। तुम इतने दिन बाद आये.....मैं तो तुम्हें याद कर-करके अक्सर रोती

रहती हूं। अब, बस तुम्हें जाने नहीं दूंगी। हूं, देखूं तो कैसे जाओगे.....लो जाओ, भला देखूं गले से हाथ निकालो तो .....हूं कौन कहता है मैं बड़ी हो गई हूं मैं तो उतनी ही बड़ी हूं पापा.....नहीं ! हां यही तो बात है। चलो, पापा, सोयें नींद लग रही है। यहीं सो जाते हैं जाने भी दो क्या रक्खा है शिमले वाली कोठी में। मेरे पापा.....मेरे पप्पा, मेरे पपा.....पपा बैठेंगे बेटी सोयेगी, गुटरु सोयेगा। अम्मा नहीं आती तो न आने दो। तुम जो बैठे हो देखो जाना ना पपा, नहीं तो लड़ाई हो जावेगी।" लिखा पाया गया था। पगली की डायरी में यह अन्तिम अध्याय। किन्तु इससे पूर्व भी बहुत कुछ लिखा था।

कालिज

"छीः, उर्वशी और रम्भा ही रह गई क्या ? हमारी चन्द्र तो इन सबको पीछे छोड़ जाती है।"

"तब ही इतने मनोयोग से उसे यशोधरा बनाने में लगी है।"

"यशोधरा तो वह बनी बनाई ही है रूप में भी और गुण में भी। विधाता ही जिसे सम्पूर्ण रूप से एक सांचे में ढाल सके उसे भला हम क्या बनायेंगे ?"

विजय-गर्व की आकुल हंसी मेरी आंखों में भरी थी किन्तु अपनी प्रशंसा को चाहे कितनी कर्णप्रिय क्यों न हो अधिक देर तक सुनते रहना प्रायः अच्छा नहीं लगता। मैंने कुछ मधुर स्वर में कहा—"बिज्जी तुझे तो बनाना ही आता है सब को।

अब भला बिन्दी खतम भी कर, फिर अभी आकर मिस शर्मा नाराज होने लगेंगी।"

"अरी बन जाये तब तो छोड़ूं। क्यों बहिन भला हम चन्द्र को बना रहे हैं।"

"सचमुच चन्द्र तू आज बहुत ही सुन्दर दिख रही है। हमारा ड्रामा मुझे तो पूरी आशा है बहुत ही सफल होगा।" कुछ गम्भीरता से दूसरी छात्रा ने कहा।

"तो अब तक क्या तुझे सन्देह ही था?" कुछ वक्र गरदन करके मैंने कहा।

"नहीं, तू हो भला करने वाली तो सन्देह का तो स्थान ही नहीं है फिर भी पहला दृश्य तूने किस सुन्दरता से निभाया है। मिस शर्मा तो कह रही थीं कि अभिनय बहुत ही सुन्दर और पूर्ण है।"

"अच्छा?" मैंने कहा। यद्यपि मुझे इस समाचार से बड़ी प्रसन्नता हो रही थी।

"कमल, तू तो पीछे खड़ी थी पहली पंक्ति की महिलाएँ तो वाहवाही के मारे सुनने भी नहीं देती थीं। अच्छा तू भी तैयार हो ले फिर विंग में जा खड़े होयें। चन्द्रिका के बाद ही तो हमारी बारी है। ले बिन्दी तो अब बन गई।"

दर्पण में खड़े होकर जिस समय मैंने अपने काले बालों से घिरे गोरे माथे पर ठीक बींचांबीच लाल कमल के ऊपर चित्रित एक छोटा सा भंवर देखा तो मैं स्वय मुग्ध हो उठी। कैसा सजीव था मेरा बचपन, कितना उज्ज्वल, कितना भोला। सखियों के आदर स्नेह, मां की शिक्षा और पिता के प्रेम के

बीच मेरा जीवन बढ़ रहा था। आनन्द भरा, नूतन, सुन्दर। सखियों की प्रशंसा, जनता की अत्यन्त उत्साहवर्धक वाक्य सुनकर मैं आत्मविभोर हो उठी। मुझे बाहरी संसार का ज्ञान हुआ जबकि मैं कह रही थी :—

"सखि वह मुझ से कह कर जाते।
कहकर क्या मुझको वह अपनी पथ बाधा ही पाते..."

सखि के कन्धे पर अपना सुन्दर मुख रख कर मैं रो पड़ी। जनता वाह वाह कर उठी। अभिनय अत्यन्त सजीव था अत्यन्त सुन्दर, अत्याधिक स्वाभाविक किन्तु कौन जानता है चन्द्रिका का हृदय वास्तव में ही उस समय नारी अपमान, नारी उपेक्षा की ज्वाला में यशोधरा के साथ ही जल रहा था। तब क्या सचमुच ही नारी इतनी दयनीय उपेक्षनीय वस्तु है ? नारी जीवन की इतिश्री क्या *"सजन सकारे जायेंगे नैन मरंगे रोय, विधना ऐसी रैन कर कि भोर कबहूं न होय"* में ही होती है। प्रियतम के चरणों की बेड़ी रूप ही क्या नारी का गौरवमय जीवन है। नहीं, नहीं नारी तो पति के धर्म कर्म की साथिनी भी है। तब ही तो उसे धर्मपत्नी कहते हैं। किन्तु यदि ऐसा था तो महात्मा बुद्ध क्या यशोधरा, अपनी प्रियतमा यशोधरा को पथ बाधा रूप में ही पहचान सके थे। न जाने क्यों मुझे जान पड़ा पूज्यादेवी यशोधरा के चरित्र में कोई त्रुटि अवश्य रह गई थी। सत्य ही यदि वह सम्पूर्ण रूप से स्वामी के ही चरणों में आत्मसमर्पण कर देती कुछ भी अपना रख कर कुछ भी न छुपा कर, मुक्त हस्त से अपना सर्वस्व उनके चरणों में चढ़ा देती तब क्या स्वामी उनके हृदय की यह वाणी न पढ़ पाते। असम्भव है। साध्वी माता के निकट शिक्षा पाई हुई चन्द्रिका को यह

असम्भवही लग रहा था किन्तु नजाने किस अज्ञात नक्षत्र के पीछे बैठा विधाता उसी समय खिलखिला कर अट्टहास कर उठा। अट्टहास की भंयकर ध्वनि मैं उस समय तो नहीं सुन पाई किन्तु आज निरन्तर रात दिन पल क्षण सुनती ही रहती हूं। मेरे कानों के पर्दे उस ध्वनि को सुनकर फटने लगते हैं फिर भी सुनना ही पड़ता है वह ध्वनि जो है और कानों का धर्म सुनना जो है।

अभिनय समाप्त करके ग्रीन रूम में आई पर मन कुछ भारी हो उठा था। रंगमंच पर अब प्रहसन हो रहा था मेरे अभिनय में अभी देर थी। विजया भी ग्रीन रुम की एक कुर्सी पर बैठी मेरे अभिनय की प्रशंसा कर रही थी।

"बिज्जी," मैंने कहा "मुझे तो यशोधरा का आत्मसमर्पण कुछ अधूरा सा लगता है।"

"क्यों ? उस बेचारी ने सब कुछ ही तो स्वामी को दे डाला, यहां तक कि अन्त में अपना पला पलाया पुत्र तक दे डाला, यह क्या आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा नहीं है ?" विजया ने कहा।

"उसने पूर्ण आत्मसमर्पण का पाठ सीखा होगा शायद अन्त में, जब वह नारी होकर माता होकर अपने पुत्र राहुल की बांह पकड़ कर उसे भी अपने दिव्य स्वामी के चरणों में चढ़ा पाई किन्तु मुझे जान पड़ता है कि बुद्ध के गृहत्याग से पूर्व तक उसका आत्मसमर्पण पूर्ण न था अन्यथा नारी और नर एक ही न हो जाते। फिर उसे यह वेदना व्यक्त करने का मौका ही क्यों मिलता ! 'सखि वह मुझसे कहकर जाते।' दो के भेद से जो परे हो उठे उनके लिये तो स्वामी को अपने मन की बात

समझाना कठिन नहीं रह पाता।" कृत्रिम यशोधरा का स्वर भीगा था।

"तू नहीं जानती चन्द्रिका, संसार कल्पना नहीं है। कवि की कल्पना आदर्श हो सकती है सुन्दर भी हो सकती है, किन्तु संसार में सदैव आदर्श से ही टक्कर होती नहीं, यह किसी समय भी भूल न जाना। स्त्री और पुरुष परस्पर एक लौकिक कृत्रिम सम्बन्ध में बंधकर ही साथ रहने लगते हैं किन्तु सदा सर्वदा एक का अस्तित्व दूसरे में लय होकर एक नए ही अस्तित्व की सृष्टि कर बैठता हो, सो बात नहीं है। और फिर नारी ही क्यों अपना अस्तित्व उस हद तक खोयेगी? वह भी तो मानव ही है, देवता नहीं। और हम अपने अस्तित्व खोने को देवत्व माने ही क्यों?" कालिज के तृतीय वर्ष की छात्रा विजया ने कहा।

"क्यों खोये? कहकर ही यदि तुम उसे बचा पाती तो ठीक था किन्तु तुम वैसा कर सकोगी नहीं। दो व्यक्तियों के सम्मिलन में एक को अपना अस्तित्व खोना ही पड़ेगा और जब खोना ही है तो क्यों न नारी ही खोकर अधिक त्यागमयी, गौरवमयी बन उठे।" मैंने कहा।

"केवल खोने का ही तो प्रश्न है नहीं। अस्तित्व खोकर स्वामी में ही लय हो जाना चाहती हो किन्तु स्वामी का व्यक्तित्व भी तो तुम्हें लय कर सकने योग्य हो, तब ही ना?" विजया ने गम्भीर विवेचना की दृष्टि से कहा।

"न होने पर भी नारी का अस्तित्व पाने पर वह वैसा हो उठेगा। भिखारी को धन दे दो तो क्या वह धनी न हो जायेगा। अन्ध, बधिर, क्रोधी, अतिदीन स्वामी के चरणों की

रज भी मस्तक पर धारण कर नारी स्वयं ही उसे देवता बना देती है सो किसी दिन भी भूल न सकूंगी।" मैंने विश्वास से कहा।

"इतना आदर्श मुझे डर है चन्द्र किसी दिन तुझे बुरी तरह निराश न कर दे। खैर, जीवन में परीक्षा हो जायेगी। पर बहिन, मेरी एक बात सदा याद रखना। वह यह, कि मनुष्य मनुष्य ही है देवता नहीं। यदि वह देवता होता तो हमें हर कहीं इतने राक्षस न दिखाई पड़ते। अतः मानव को देवता मान कर निराश होने से कहीं अच्छा है उसे मनुष्य मान कर ही रहना।" विजया ने दुःख भरे स्वर से कहा।

"जान पड़ता है विदेशी तत्वज्ञान और फ्रौयड का मनोविज्ञान पढ़कर तुम्हारा माथा अपने आदर्शों की ओर से फिर गया है। तुम्हारी बात याद रखने का यत्न करूंगी किन्तु किसी दिन भी ऐसा कर सकूंगी या नहीं सो नहीं जानती।"

कमल इतनी देर से अनमनी हो दोनों का वाद-विवाद सुन रही थी शायद शरारत करने का कोई मौका ही ढूंढ रही थी। वह मुझे सदा ही छेड़ा करती थी चट से बोल उठी-- 'बिज्जी, तू नहीं जानती चन्द्र तो सोने के सिंहासन पर बिठा कर अपने स्वामी की पूजा करेगी। क्यों भई, कोर्ट भी जाने देगी या नहीं?"

मैं झेंप गई। उस समय तक मेरी सगाई हो गई थी, यद्यपि मैंने अपने भावी स्वामी के दर्शन केवल एक ही बार किए थे। वह हमारी नई फैक्टरी के उद्घाटन उत्सव पर आए थे। सम्भवतः उनके पिता मेरे पिता के मित्र थे। केवल एक ही बार ही देखने पर भी उनकी सौम्य मूर्ति आज भी मेरे हृदय

पर अङ्कित है। मैंने सुना था वह बार-एटला हैं, हाल ही में विलायत से परीक्षा पास करके लौटे हैं। मेरी माता के पास आकर उनकी मां ने स्वयं ही विवाह की बात छेड़ी थी।

मां तो कुछ आगा पीछा करने लगी किन्तु पिता तुरन्त राजी हो गये। सुना जाता था कि मेरे भावी श्वसुर भी अनन्त धनराशि के स्वामी हैं। पिता ने कहा—"सुशीला तुम्हें और क्या चाहिये, लड़का शिक्षित है, गुणी है, सुन्दर है, धन भी प्रचुर मात्रा में है और फिर वे लोग उत्सुक भी हैं इस सम्बन्ध के लिये। हमारी गुटरू राज करेगी। दो भाई हैं, वह छोटे हैं, उन्हें तो शिक्षा-दीक्षा भी गुटरू ही देगी। माता-पिता तो इसे आंख की पुतली की तरह रक्खेंगे।"

"हां सो सबतो है, सोचती हूँ, हमारे कोई दस पांच बच्चे तो हैं नहीं, सब कुछ तो गुटरू का ही है। हमें धन देखने की क्या आवश्यकता है। कहीं योग्य दरिद्र लड़का नहीं मिल सकता ?"

"इससे योग्य वर और कहां मिलेगा और यदि अन्य गुणों के साथ ही धन भी हो तो क्या बुरा है ? यदि और गुण न होते तो हमें केवल धन के लिये ही लड़की नहीं देनी थी। यह लाखों रुपये और किसके काम आयेंगे। अब सोच-विचार न करो, हमारी बिरादरी में पढ़े-लिखे लड़के मिलते भी तो नहीं और बी० ए० तक पढ़ाकर क्या लड़की किसी अपढ़ के गले बांधनी है ?"

मां ने कुछ देर तक सोच कर कहा—"अच्छा तब सगाई कर ही दो, पन्द्रह सोलह महीने में बी० ए० पास कर लेगी, तब

विवाह हो जायेगा।" न जाने क्यों माँ प्रसन्न न हो सकीं किन्तु मैंने मन ही मन उस सौम्य मूर्ति को प्रणाम करके कहा—"मेरे इस लोक और परलोक के स्वामी मेरे जीवन का एकमात्र ध्येय तुम्हीं बनो।" छिपाने पर भी मेरे मुख पर पड़ी प्रसन्नता की छाप माँ ने पढ़ ली। पर तब भी मां प्रसन्न न हो सकीं। क्यों? सो उस दिन नहीं जान पाई किन्तु आज पूरी तरह समझ रही हूँ। कितनी दूरदर्शी थी मेरी अशिक्षिता माँ।

बेचारी माँ सगाई के तीन चार मास पश्चात ही अचानक टाईफाइड ग्रस्त होकर चल बसीं। आज भी मुझे ठीक-ठीक याद है। रात्रि के कोई तीन बजे नर्स मुझे जगाने आई। पिता माँ के पलंग के पास ही बैठे रहते थे। उस दिन माँ को पलंग पकड़े चौदहवां दिन था। माँ ने रात्रि को मुझे देखने की इच्छा प्रकट की थी. मैं झटपट रात्रि के ही कपड़ों में माँ के कमरे में चली गई। मां ने पास बुलाकर प्यार किया। कष्ट से उनके होंठ नीले पड़े हुए थे।

"भगवान तुझे सुख और दुःख दोनों में ही बांह पकड़ कर सम्भाले रहें।" माँ फिर चुप हो गई। पिता के मना करने पर भी मैं वहीं आराम कुर्सी पर बैठ गई। नर्स बार बार इंजेक्शन और दवाई दे रही थी। मां भी शांत बच्चे की तरह सारे उत्पात सह रही थी। सूर्योदय होने लगा।

माँ की आंखों की पुतलियां पलटने लगीं। अत्यन्त धीमे स्वर में अतीव कष्ट से मां ने पिता से कहा :—"चन्द्र" पिता की आंखें बरस उठीं। मां फिर शांत हो गई। अब उनसे बोला जाता ही नहीं था, केवल कभी कभी देख भर लेती थीं। सूर्य की फैली हुई सुनहली धूप खिड़की से आई किन्तु साथ ही साथ

मेरी मां के प्राण पंखेरु उड़ गये। अपने करुण क्रन्दन और पिता के हाहाकार की तो मुझे सुधि नहीं किन्तु उनकी मृत्यु के ठीक पांच मास बाद मेरे स्वामी का एक बार और आगमन हमारे घर में हुआ। यद्यपि मैंने इस बार उन्हें नहीं देखा किन्तु न जाने कैसे मेरे कालेज में बिजली की भांति यह समाचार फैल गया। हमारे तृतीय वर्ष की परीक्षा में एक मास शेष था। उसके पश्चात् ही विवाह होना निश्चित हो गया। मेरे पिता की इच्छा तो इतनी जल्दी करने की न थी किन्तु उधर के लोग बहुत जोर डाल रहे थे। पिता भी कुछ जीवन से उदासीन से हो उठे थे। मेरी इच्छा होती थी कि पिता से कहूँ, अभी उन्हें एक दो वर्ष ठहरने को विवश करें। बी० ए० की परीक्षा भी मैं देना चाहती थी। और अभी पिता को छोड़ने की इच्छा भी न थी। किन्तु पिता का गम्भीर मुख देखकर और कुछ नारी सुलभ लज्जा के कारण भी न कह सकी। इसी को लेकर कमल कभी २ मुझे बहुत छेड़ती थी, मैं भी कुछ ठीक उत्तर न दे सकती थी। कालेज जीवन में ही किसी छात्रा की सगाई हो जाने से बढ़कर छेड़ने के लिये और चीज ही क्या होती है। इसका आनन्द तो प्रायः सारी ही सखियां उठाना चाहती हैं और फिर कमल तो थी ही शरारतों का समूह। विजया जितनी गम्भीर और बुद्धिमती थी कमल उतनी ही शरीर और खोटी। लड़कियों को छेड़ना और बनाना तो उसका नित्य का काम था। मैं जानती थी कि एक शब्द भी और बोली तो कुशल नहीं, अतः चुप ही रही। विजया और अन्य छात्रायें जोर से हंस पड़ी। इसी हंसी ने मुझे हतप्रभ कर दिया किन्तु छात्र जीवन में छात्राओं को न डांटा जा सकता है और न उनसे बिगाड़ा ही जा सकता है। कमल ने आरम्भ कर ही दिया

था, अब भला और सहपाठिनियां आनन्द क्यों छोड़ने लगी। सबने छेड़ना शुरू कर दिया। इस अचानक हमले में भी विजया शान्त थी, शायद छेड़ने की उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो रही थी। किन्तु सहायता करने की भी शायद उसकी प्रवृत्ति न थी। विजया ने कभी भी मुझे इस सम्बन्ध में न छेड़ा था। क्यों! सो उस दिन शायद न बता पाती, यहाँ तक मैंने लक्ष्य भी न किया था किन्तु आज बता सकती हूँ पर इस समय नहीं बताऊंगी। जी ही नहीं चाहता। चलो जाने भी दो। यह सब कभी कोई पढ़ेगा थोड़े ही, लिखती हूं इसलिये कि लिखे बिना रह सकती ही नहीं। कौन जाने भावों को हृदय में घोट कर रखने से पागल ही हो उठूँ। लोग कहते हैं पहले भी एक बार मेरा मानसिक संतुलन नष्ट हो गया था। कहीं फिर न वैसा ही हो जाये। आह! मुझे अपनी कहानी कह लेने दो। उससे मुझे सुख, अच्छा सुख ही सही, होगा।

'मित्र'

"बिज्जी, मेरा जैसा सौभाग्य भी तो संसार की अन्य किसी नारी को कदाचित ही मिला हो।"

"यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। भगवान तुम्हारा सौभाग्य चिरस्थायी करे।" उसने कहा।

"मेरी तो अब एक ही इच्छा शेष है और वह यह कि जिस प्रकार मेरी सौभाग्यवती माँ अपने स्वामी की गोद में अन्तिम साँस ले सकी वैसे ही उनकी पुत्री भी कर सके।" न जाने प्रसंग विजया को अच्छा लगा अथवा नहीं। मैं मनोविज्ञान

की पंडिता कभी भी नहीं थी किन्तु उसका मुख जिस प्रकार एक साथ ही धूमिल हो उठा वह मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा। शायद ईर्षा ही हो, एक बार पहले भी विवाह होने से पूर्व विजया ने मुझे संकेत किया था कि मेरे ही स्वामी ने, अपने मुख से, मैं कैसे कहूँ किन्तु खैर जब लिखने बैठी हूँ तो सब कुछ ही बिना कुछ भी छिपाये लिखूँगी ही। हाँ तो विजया ने कहा था कि मेरे स्वामी ने विलायत जाने से पूर्व उसको एक सखि से प्रेम किया था, विवाह की प्रतिज्ञा भी की थी किन्तु उनके पिता से अधिक दहेज न मिलने की सम्भावना से सम्बन्ध स्वीकार न कर सके और उन्होंने एक आज्ञाकारी पुत्र की भांति पिता की आज्ञा मान कर उस लड़की का जीवन नष्ट किया। विश्वास तो मुझे पहले भी नहीं आया था। मैंने विजया को डांट भी दिया था मुझे किसी प्रकार भी स्वामी पर अविश्वास करना उचित नहीं है, यही मेरा विचार था। उस दिन मैंने ऐसी ही चमक विजया की आंखों में देखी थी आज फिर वैसी ही चमक उसकी सदा गम्भीर उज्ज्वल आंखों में दिखाई दी। मैंने मन ही मन कहा—"विजया रानी विवाह होता तब तो भला दाम्पत्य जीवन के आनन्द को जान पाती। और यदि नहीं जान पाई हो तो यह ईर्षा क्यों?" उस दिन नहीं समझ पाई थी किन्तु आज सर्वाङ्ग से विजया की उस दृष्टि का अर्थ समझ कर अपने तुच्छ विचारों पर घृणा और लज्जा से मरी जा रही हूं।

विजया की दृष्टि क्षण भर में ही साधारण हो उठी। सहज भाव से वह बोली—"सुना है, बाबू जी दूसरा विवाह कर रहे हैं।" विजया मेरे पिता को बाबूजी ही कहती थी। कई बार

छुट्टियों में वह हमारे परिवार के साथ ही काशमीर रहकर आई थीं। माँ और पिता दोनों का ही उससे सहज स्नेह था। न जाने क्यों विजया विवाह करने को राजी ही नहीं होती थी, अनेकों बार अनेक लोगों के समझाने पर भी नहीं। बी० ए० करने के पश्चात बी०टी० करके वह एक स्कूल में पढ़ाने लगी थी। माता पिता भी हार कर चुप हो रहे थे। वेतन तो सौ रुपए ही मिलते थे किन्तु घर पर ही रहने से गुजर का प्रश्न उतना विकट न था। खर्च भी उसका कोई विशेष न था। मैंने सहज स्वर करके कहा—"बिज्जी, पपा करें भी क्या? जीवन भर हम तीन ही तो थे। मैं चली आई। मां भी आज हैं नहीं, पिता का जीवन नर्क तुल्य हो रहा है। कहीं नौकरों से भी स्नेह मिला है। यह वहां रह नहीं सकते। भला गांव में प्रेक्टिस कहां होगी और पिता भी इनका उज्ज्वल भविष्य देखना चाहते हैं। उधर यह, माता जी और पिता जी मेरे बिना नहीं रह सकते। अब पिता या तो आनन्द के कोई साधन जुटायें अथवा पागल हो जायें। मैंने तो स्वयं ही यह प्रबन्ध किया है। यद्यपि हमारे घर में कोई भी इसे अच्छी दृष्टि से नहीं देख रहा। माता जी तो कहती थीं कि पिता जी कहते हैं यदि मैं यह विवाह बन्द करा सकूं तो अच्छा हो। पर बहिन, पिता के स्वभाव से परिचित उनकी पुत्री होकर मैं उनका इतना सा सुख भी न देख सकूं! फिर अभी उम्र ही क्या है, चालीस वर्ष तक पहुंच पाये हैं सो लड़की भी बीस बाईस वर्ष की है।" मैंने ममत्व भरे स्वर में कहा "सचमुच ही मुझे पपा की अवस्था देखकर करुणा हो आती थी। मैं उन्हें उसी दृष्टि से सुखी देखना चाहती थी जिस दृष्टि से माता अपने पुत्र को सुखी देखना चाहती है।"

"चन्द्र, तू अच्छा नहीं कर रही है। अपने श्वसुर की सलाह मान कर विवाह बन्द करा दे। तो ही ठीक हो।" विजया ने गम्भीरता से कहा।

"न, न बिज्जी यह सलाह न दे। उनके जीवन के अन्तिम दिन सुख से बीतने दे। पिछली बार बड़ी मुशकिल से इन्होंने दो दिन को घर जाने दिया था तो देखा पपा का चेहरा एक दम सूख गया है। खाते पीते भी न समय से हैं और न ठीक परिमाण से। ऐसे कितने दिन चलेगा बिज्जी। उन्हें सचमुच ही देख रेख करने वाला अपना व्यक्ति चाहिये।" मैं ने व्याकुलता से कहा।

कुछ इधर उधर करके अनिच्छा से विजया ने कहा :— "और यदि तुम्हारी नई मां ने पुत्र उत्पन्न कर दिया।"

मैं स्वाभाविक आनन्द से उछल पड़ी:— "ओह. यदि ऐसा हो जाये तो कितना सुन्दर हो सचमुच बिज्जी। तेरे मुँह में घी शक्कर, फूल चन्दन। मैं तो सारे जीवन ही एक भाई को तरसती रही। अब तक भी भाई दूज और राखी के दिन मेरे रोते ही कटते हैं कैसा अच्छा हो यदि मेरा भाई हो जाये।

'जो तुझे अच्छा लगेगा वह निश्चय तो नहीं है कि तेरे स्वामी और उनके परिवार को भी अच्छा लगे।" उसने संशय से कहा।

"वाह, यह भी कोई बात है? परिवार की नहीं कहती किन्तु मैं और मेरे स्वामी तो दो हैं नहीं। जब मैं अपना अस्तित्व उन्हीं में लीन कर चुकी तो जो मुझे रुचेगा वह उन्हें भी अच्छा लगेगा।"

"किन्तु उन्होंने तो अपना अस्तित्व तुझमें लीन किया नहीं। तब तेरा फारमूला कैसे ठीक बैठेगा।" विजया का मुख भारी था। मैं यही समझती रही कि ईर्षा के कारण।

"देख बिज्जी, तू मेरे स्वामी को पहचानती नहीं तब ऐसी बात क्यों कहती है? जो अच्छा है वह उन्हें अच्छा न लगेगा इसका कोई कारण नहीं और फिर मैं तो उन्हें पहचानती हूं ना? उनकी इच्छा के विरुद्ध क्या मैं कुछ कर सकती हूं? हम दोनों तो एक ही है।" शायद मन ही मन विजया ने कहा हो कि मुझसे अधिक तुम उन्हें क्या जानोगी? पर प्रकट रूप से बोली:—"तब फिर तुम्हें अपने पिता की सम्पत्ति का लोभ छोड़ना होगा।"

"सो हमें किसी दिन भी न था, बिज्जी। पिता का नाम चलेगा सो क्या कम है।" मैंने सत्य हृदय से कहा।

"तुम्हारे स्वामी को भी नहीं क्या?"

"छी:, मेरे स्वामी के विषय में ऐसे विचार बिज्जी! उन्हें तो धन का तनिक भी लोभ नहीं है। मेरे विवाह पर पपा ने उन्हें पचास हजार का एक चेक उपहार में दिया था जो उन्होंने तुरन्त ही यह कहकर लौटा दिया कि पिता जी मैं तो आपका पुत्र हूं जो कुछ करूंगा बाहुबल से अर्जित कर लूंगा। हां जो कुछ आपको देना हो अपनी पुत्री को दें मुझे उससे कोई मतलब नहीं। धन का लोभ तो उन्हें छू नहीं गया।" इस बार विजया कुछ कठोरता-पूर्वक मुस्कराई। उस मुस्कान को देखकर न जाने क्यों मैं कांप उठी। उसमें सरलता भी न थी, आनन्द भी नहीं, व्यंग भी नहीं, केवल थी कठोरता। विजया कुछ मिनट चुप रह

कर उत्तर देने को ही होंठ हिला रही थी मानों उसे जबरदस्ती उत्तर होंठो से निकालना होगा कि कमल आ टपकी। कमल का विवाह एक साधारण गृहस्थ के एक योग्य डाक्टर लड़के से हो गया था। वह सब तरह सुखी थी और स्वभाव में उतनी ही अल्हड़, हंसोड़ और छेड़ने वाली। अत्यन्त कठिनता से अपने कालेज के उत्सव पर आज हम तीनों ही एकत्रित हुई थीं। कमल उधर लड़कियों की छेड़ाछाड़ी में लगी थी कि मैं विजया के साथ बाग के एक कोने में निकल आई। कमल ने आते ही हंसते हंसते हमें घसीटना शुरू किया:—

"अरे, तुम यहां क्या मन्त्रणा कर रही हो उधर देखो लड़कियां सरला की क्या दुर्गति बना रहीं हैं, मैं तो तुम्हें बुलाने दौड़ी आई, चलो जल्दी।" उसकी बहुमूल्य साड़ी का पल्ला जमीन में ही घसीट रहा था। हमें उसके साथ जाना ही पड़ा किन्तु विजया का मुंह के मुँह में ही रह जाने वाला उत्तर मेरे हृदय में न जाने कैसी एक अनजान पीड़ा सी पहुँचाने लगा पर फिर बात छेड़ने का अवसर ही न मिला। वह बड़ा ही अच्छा दिन बीता।

विवाह

पपा का विवाह हो गया। अपने और पराये सब ही ने बुरा कहा। उस अथाह जन समूह में यदि कोई उस कार्य की प्रशंसक थी तो मैं ही थी। न जाने क्यों मैं अपने पिता के इस कार्य को भी अश्रद्धा की दृष्टि से न देख सकी। यहां तक कि जब मेरे स्वामी ने भी मुझसे इस विवाह को बन्द करवाने का ही अनुरोध किया तो मैं चिढ़ उठी मन ही मन। न जाने

क्यों सृष्टि भर मेरे पिता के हृदय की कठिन वेदना को समझ पाते नहीं। पपा ने जीवन भर में किसी दिन भी यह न जाना था कि सुबह चाय कब पी जाती है और सन्ध्या भोजन का समय कब होता है। पपा जैसे व्यवसाय कुशल व्यक्ति अपने देह की ओर से सर्वथा लापरवाह थे। यहां तक कि माँ यदि अपने हाथ से उनकी कमीज में बटन न लगा देतीं तो वे बिना बटन ही कमीज पहन लेते थे। और तो क्या मां को पास बैठ कर फुलकों तथा टोस्ट का भी हिसाब खुद ही रखना पड़ता था। कभी-कभी कहे हुए मां के शब्द आज भी मेरे कान में गूँज उठते हैं—"सोचती हूं मैं मर जाऊंगी तो तुम्हारा क्या होगा? इतने बड़े हुए, अपने खाने की भी तो सुध नहीं। कोई एक लड़का ही होता तो बहू के हाथ में सौंप कर निश्चिन्त होकर मर सकती।"

पिता हँसकर कहते—"राम, राम इसीलिये तो तुम मरोगी नहीं, भगवान इतना बड़ा अनर्थ क्या कभी कर सकते हैं?"

"न, न मैं तो तुम्हारे ही कन्धों पर चढ़ कर चली जाऊं यही भला है" और हुआ भी यही। मेरे निरीह पपा को किसी देख-रेख करने वाले व्यक्ति की कितनी आवश्यकता है यह उसी मां की लड़की होकर भी यदि मैं न समझ पाऊं तो और समझेगा ही कौन? इच्छा करके भी स्वामी को यह बात समझा नहीं पाई। शायद उनका विचार था कि स्त्री की तरह पुरुष को भी यावज्जीवन एक पत्नी व्रती ही होना चाहिये। अवस्था युवा हो अथवा अधेड़। कितने महान् हैं मेरे इस लोक और

परलोक के स्वामी। मैं गर्व से फूल उठी। सुख की अश्रुधारा मेरी आँखों में उमड़ आई, किन्तु मैं उन्हें पी गई। स्वामी को आँसू देखकर दुःख जो होता। सचमुच कितना बड़ा, कितना महान् है मेरा सौभाग्य। मुंह फोड़कर चुपके-चुपके कह उठी—"सो क्या सब ही पुरुष कर पाते हैं? सब पुरुष क्या तुम्हारे समान महान् होते हैं?"

न जाने क्या सोच कर स्वामी कह उठे—"किन्तु करना ही उचित है। यदि स्त्री विधवा होकर रह सकती है तो भला पुरुष क्यों न रह सकेगा? उसे भी न्याय और धर्म के अनुसार रहना ही चाहिये।"

अचानक मेरे मुँह से निकल गया—"मेरे मर जाने पर तुम दूसरा विवाह नहीं करोगे?"

"कैसी बात करती हो? छीः ऐसी बात भी कोई कहता है?" कुछ ऐसे लहजे से उन्होंने कहा कि मैं स्वयं ही वैसा कहने पर पछताने लगी।

अधिक कुछ न कह सकने पर भी मैंने मन ही मन जो सब कुछ जानते हैं, सब के अन्तरतम में बैठे रहते हैं उनके चरणों के समीप सिर रख कर कहा—"नारायण यदि इतना अधिक सौभाग्य मेरे कर्म में तुम्हारी अमिट लेखनी द्वारा लिखा गया है तो फिर उसकी रक्षा भी तुम्हें करनी ही होगी। कहीं किसी भी अनजाने क्षण में कहीं अपनी देन लौटा लेने का प्रस्ताव न कर बैठना।" न जाने क्यों मैं वैसी अनोखी प्रार्थना कर बैठी। मेरा हृदय कुछ क्षण के लिये काँप उठा। किन्तु फिर सब पूर्ववत् था। स्वामी को भी न समझा पाई और

पिता का विवाह रोक भी न पाई। यद्यपि इस बीच में मुझे अपनी सास के कई बार ही कटु वाक्य इस सम्बन्ध में सुनने पड़े, पर आज दिन तक जो प्यार, आदर और सहज स्नेह मैंने सास, ससुर तथा पति के निकट पाया था उसके बल पर सहज ही मैं उन वाक्यों को पी गई।

विवाह के दिन से दो दिन पूर्व ही मैं पिता के घर पहुँची। कोई समारोह न था। आनन्द भी न था, यहां तक कि मेरे सास-ससुर भी नहीं आये थे, और उनका न आना ही ठीक था। स्वामी भी न आ सके, मैंने भी कुछ विशेष आग्रह नहीं किया। पर यहां भी आकर देखा जहां तहां पिता की निन्दा ही हो रही है। घर के दो एक पुराने दास-दासियों को छोड़ कर यह आशा नहीं हुई कि कोई भी नई मां का यथेष्ट आदर करेगा।

मन ही मन मैंने निश्चय किया कि इस युवती बालिका को इस नये परिवार में आकर आदर, स्नेह और अभ्यर्थना का अभाव खटकने न दूंगी। न जाने जी अभी से कैसा होने लगा। मां की मूर्ति रह-रहकर याद आने लगी। रोकते-रोकते भी आँखों में आँसू भर उठे। मां के कमरे में मां की एक बड़ी तस्वीर लगी थी, उसके सामने जाकर मैं फूट-फूटकर रोने लगी—"मां, मेरी मां, सब हो तो कहते हैं कि मैं इच्छा करते ही यह विवाह रोक सकता था किन्तु मैंने जान-बूझ कर नहीं रोका। यह कुछ बुरा हुआ क्या मां? मां मेरी, तुम्हारे आदर, स्नेह और यत्न की वस्तु कहीं अकाल में ही यत्न बिना सूख न जाय, यही तो मेरा उद्देश्य था। यह क्या हो रहा है मां?" न जाने कितनी देर तक रोती रहने के बाद मैं उठकर बाहर

आई। सन्ध्या होने में विलम्ब न था। सन्ध्या की अँधेरी छाया में ही इस घर की भावी स्वामिनी आने वाली थी।

झटपट नौकर-नौकरानियों को आदेश देकर मैं अपने कमरे में गई। मुँह धोया, बहुत देर सोच कर भी वस्त्रों का चुनाव कर ही नहीं पा रही थी। इसी बीच में मैंने अनेकों बार स्नान-गृह की ओर मुख करके "माँ" "मां" शब्द का उच्चारण भी कर डाला ताकि उस नवविवाहिता के सम्मुख भूल ही न कर बैठूं फिर भी न जाने कैसा कुछ संकोच सा हो रहा था। जान पड़ता था मानों उस लाल बनारसी साड़ी में लिपटी समवयस्का नारी को मैं "मां" कह ही नहीं पाऊँगी।

अत्यन्त कठिनाई से एक सूर्य्यास्त के समय आकाश के रंग की सी साड़ी पहन तथा वैसी ही कोटी पहन कर कुछ स्वस्थ होकर माथे पर सिन्दूर और बिन्दी भी लगा ली। उसके ऊपर से साड़ी का आँचल आ गया। गले में एक बहुत ही सुन्दर चेन और पेन्डेन्ट था। पेन्डेन्ट में स्वामी की भावमयी प्रतिमा थी। कुशल चित्रकार ने उनका बहुत ही सुन्दर चित्र लिया था। वह थे भी बहुत सुन्दर। न जाने किस झोंक में आकर मैंने अपने स्वामी के चित्र से कहा:—"तुम उदास हो मेरे बिना? अच्छा, मैं शीघ्र ही आती हूं शरीर लेकर किन्तु मेरा मन क्या यहां है? वह तो वहां ही तुम्हारे चरणों में लोट रहा है। अच्छा तुम्हें इससे सन्तोष नहीं होता तब ठहरो, मैं शरीर लेकर भी शीघ्र आती हूं।....." शायद और कुछ कहती पर क्षीण स्वर में द्वार के पास कुछ हलचल सुनाई दी। कार का भी शब्द आया यही हमारी कार थी जो पपा और नई मां को लेने स्टेशन गई थी।

मैं शीघ्रता से द्वार पर आई। एक साधारणतया रूपसि कोई चौबीस वर्ष की पूर्ण युवती कार में से उतर रही थी। मुख पर आनन्द का चिन्ह तो न था किन्तु वेदना भी न थी। जान पड़ता था जीवन की समस्त भावनाओं से परे होकर, उदासीन होकर यह नारी प्रतिमा खड़ी है। रंग गोरा न होने पर भी प्रियदर्शी था। लाल साड़ी के साथ थोड़ी सी लज्जा ने मिलकर उसकी मुखाकृति भी कुछ दर्शनीय कर दी थी। मुख पर बुद्धि और विश्वास का भी चिन्ह था। किन्तु दृढ़ता दया से अधिक जान पड़ती थी। वेषभूषा साधारणतया पढ़ी लिखी युवतियों जैसी ही था। सुना जाता है बी० ए० हैं। धनाभाव से अभी तक विवाह न हो सका था। यकायक क्या कह कर स्वागत करूं मैं सोच नहीं पाई। नई युवती को देखकर मैं स्वयं कुछ घबरा सी गई। पिता शायद लज्जा से मौन थे। कुछ ठहर कर धीरे २ अन्दर चले गये। गीतों के साथ स्त्रियां भी तब तक द्वार पर पहुंच गई। मेरी कठिनाई कुछ कम हुई। तब ही बूढ़े मैनेजर साहब ने चुपके से उन गीतों के ऊंचे स्वर में मुझ से कहा, "बेटी चन्दर बहू पढ़ी लिखी है। लेजा बेटी, अपनी मां को अन्दर ले जा। शायद मूढ़ स्त्रियों के कार्य्यों से ऊब न उठे।" चौंक कर मैंने बूढ़े मैनेजर साहब की ओर देखा। आश्चर्य से मैं ठक हो गई। उनकी आंखों में आंसू भरे थे। सम्भवतः बृद्ध की आंखों के सम्मुख मृत मालकिन का चित्र खिंच गया हो। इच्छा के विरुद्ध भी मेरी भावुक प्रकृति ने मां का चित्र मेरे सम्मुख ला खड़ा किया। उनकी आंखों में मानो घोर वेदना खेल रही थी। कितनी उदास थी मुखाकृति। मैंने मन ही मन कहाः— "माँ, जो तुम्हारे अत्यन्त आदर, अत्यन्त प्यार और अत्यन्त

यत्न की वस्तु है उसकी ही तो रक्षा करने को मुझसे यह अपराध बन पड़ा है। मां, मुझे शक्ति दो कि इस नई रमणी में ही तुम्हारे शान्त वात्सल्यपूर्ण मुख के दर्शन कर सकूं।"

ठेलठाल कर बड़े यत्न से मन को तैय्यार कर सहज स्वर बनाकर नवागता रमणी का हाथ पकड़ कर मैंने कहा:—"चलो, माँ, अन्दर चलें। रीतियां तो होती रहेंगी। भला रात भर के सफर से वैसे ही मुंह कुम्हला गया है।" व्यंग से कई इधर उधर खड़ी नारियों ने मुस्कान बरसाई। किन्तु मुस्कान की उपेक्षा करती हुई मैं उन्हें लेकर चल ही पड़ी।

नई मां, हां यही कहूंगी, मेरी नई मां को शायद मेरा 'मां' सम्बोधन कुछ भला न लगा। शब्दों पर संयम रखते हुये भी मेरी समवयस्का मां चेहरे से अपना भाव न छिपा सकी। जान पड़ा समस्त मुख किसी गम्भीर अन्धकार की छाया से ढक उठा। मेरा हृदय भी रो उठा। जो चाहा उनसे चिल्ला कर कह दूं- "तुम मेरी मां हो अथवा सखि जो कुछ भी हो, सो तो मीमांसा करने की आज मेरी न इच्छा ही है और न शक्ति ही, किन्तु एक बात अवश्य निश्चयपूर्वक जानती हूं और वह यह कि तुम नारी हो। मेरी रानी, मेरी सखि, मेरी पूजनीया सब कुछ होते हुए भी तुम नारी हो यह कभी किसी दिन भी भूल न जाना। माता भले ही आज न बन पाओ तो न बनो पर नारी होकर अपनी छाती पर समस्त सृष्टि भर की वेदना, सुख-त्याग की भावना लेकर भी यदि तुम स्वामी की नारी बन सको तो तुम धन्य हो उठोगी। आत्म समर्पण करके, दुःख की असह्य वेदना के नीचे से भी जो विश्व को शान्ति का सन्देश सहज मुख से भेसुना पाती हैंउन्हीं नारियों की जाति की तुम बन सको, आज

पुत्री होते हुए भी रिश्ते में पूजनीया मेरी मां, तुम्हें यही मेरा आशीर्वाद है, नवजीवन प्रवेश के काल में शुभ प्रेमोपहार है, मेरी रानी मां इसे ग्रहण करो।"

न जाने क्यों इस मां रूप में आई हुई नवयुवती से मैं सहज ही प्रेम कर बैठी। बेचारी वधू वेष धारिणी युवती क्या जानती थी कि उसे स्वामी के भार के साथ ही साथ एक अपनी ही सरीखी वयस प्राप्त लड़की की मां भी बन जाना पड़ेगा। इसे जो चाहो सो कहो पर विधि की विडम्बना तो मैं किसी प्रकार भी न कहने दूंगी।

युवती रीति-नीति समाप्त करके जब मेरे साथ ही मेरे कमरे में आ बैठी तो न जाने क्यों बहुत ही सङ्कोच से धीरे-धीरे बोल उठी –"तुम अगर मुझे माँ न कहो तो ?"

"न कहूंगी।" मैंने सहज भाव से कहा।

कुछ झेंप कर वह बोली—"माँ ने कहा था बेटी तुझे जाते ही माँ बनना पड़ेगा, कहीं विचलित न हो उठना। सारे रास्ते ही तो इसी विचार से अपने को दृढ़ करती आई हूं कि नारी तो सदा ही माँ है फिर भी तुम्हें देख कर न जाने क्यों बड़ी ही शरम आई। और माँ सुन कर तो बड़ी ही लज्जा आती है। तुम कुछ और न समझना।"

उनकी लज्जा कम करने को अकारण ही मैं बड़ी ज़ोर से खिलखिला कर हँस पड़ी। अत्यन्त ही प्रसन्नता से मैं बोल उठी—"रानी, मुझ से दो-चार साल ही तो बड़ी होगी। घर पर न कोई बहिन है और न ससुराल में कोई देवरानी जेठानी, सचमुच ही तुम में यदि एक सखि ही पा जाऊँ तो जी उठूं।"

इस बार माँ खूब हँस कर बोली—"तब फिर जी उठो। यही उचित है।"

कुछ ठहर कर उन्होंने कहा—"पर तुम्हें मैं क्या कह कर पुकारूं ?"

"चन्द्र ! और मैं तुम्हें क्या कहूं ?"

"सो तुम्हीं जानो चन्द्र !"

"अच्छा सो तो जानूंगी ही ऐसी जल्दी ही क्या है ?"

थोड़ी ही देर में हम पक्की सखियाँ बन गईं।

'नई मां'

लोग कहते हैं पगली का क्या ठिकाना। एक बार तो पागल हो ही गई थी, शायद फिर हो जाये। सारे दिन बैठी-बैठी न जाने क्या लिखती रहती है ? पगली जो है ना ? उन्हें क्या मालूम कि केवल एक बार ही यदि उनके दर्शन मिलते तो उन दोनों श्यामल चरणों पर गिर कर कहती—"स्वामी, जो एक दिन अनायास ही इन श्यामल चरणों पर चढ़ा चुकी हूं आज इच्छा करके भी मेरे देवता ! तुम्हारा वह उपभोग संसार के किसी भी अन्य देवता, यहां तक कि तुम्हारे ही समष्टि रूप भगवान तक, पर न चढ़ा सकूंगी। तुम देवता हो। भले ही चाहो तो अर्घ्य स्वीकार न करो, किन्तु मैं तो पुजारिन हूं कम-से-कम अर्घ्य चढ़ाने का मेरा अधिकार तो बना रहने ही दो, यही मेरी एकान्त इच्छा है। अर्घ्य में स्वर्ण की चमक न होने पर भी मानव हृदय की उज्ज्वलता तो है ही।" कहां से कहां बह गई। जाने दो कुछ भी लिखूं, अपने हृदय के उद्गार ही तो हैं, कोई आत्मकथा तो है नहीं। संसार के किसी भी पाठक के सम्मुख कभी इसके

पहुंचने की न सम्भावना ही है और न पहुंचाने की मेरी इच्छा ही। किसी किसी धूमिल सन्ध्या में प्रिय दर्शन की इच्छा कभी कभी हो उठती है। शरीर ही तो है न, और वह भी मानव हृदय को अपने में समेटे हुए। खैर, जाने दो। उन बातों से अब क्या .....जो बीत गई सो बीत गई.....नहीं, नहीं, अतीत ही तो मेरे जीवन का सबसे सुन्दर, सबसे सजीव काल है, उसे लुटा देने पर और रखने योग्य मेरे पास रह ही क्या जायेगा ?

सदा ही पिता आते समय बहुत कुछ दिया करते थे। मुझे लेते हुए कुछ संकोच सा होता था। थे तो मेरे पिता ही ! यह भी मुझे ज्ञात ही था कि उनकी विपुल सम्पति मेरी ही है, किन्तु न जाने क्यों लेने की इच्छा ही नहीं होती थी और होती भी क्यों ? मेरे स्वामी के घर, मेरे अपने घर किस चीज का अभाव था ? जिनके चरणों में अपने आप को मन, प्राण और शरीर से उत्सर्ग कर चुकी हूं आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं का हाथ उठाकर किया गया दान तो भली प्रकार ग्रहण कर सकूंगी, पर अन्य किसी का तो उपहार भी मुझे रुचेगा नहीं। फिर पिता के सूखे मुख की ओर देखकर उनके स्नेह दान की उपेक्षा करने की इच्छा नहीं होती थी। नई माँ भी इसी बीच खूब आदर प्यार करने लगी थी।

आते समय पिता ने एक लिफाफा देते हुए बहुत हिचकिचाहट से कहा—"बेटी गुटरू, गुधीर तो आया नहीं, किन्तु उसे यह दे देना तथा कहना कि मैं तो अब कुछ दिनों का ही मेहमान हूं, बुरे और भले जो कुछ भी काम करूं उन पर वह श्रद्धा अथवा घृणा भले ही करे किन्तु अप्रसन्न न हो।" कुछ ठहर

कर फिर बोले—"वह तो आया नहीं, नहीं तो उससे ही यह सब कुछ कह देता। अपनी सास को मेरा प्रणाम कहना और बस।"

पपा का स्वभाव बहुत ही कोमल था। पिता की व्यथा मैं तुरन्त जान गई, फिर भी स्वामी के प्रत्येक कार्य का फल प्रसन्नता पूर्वक ओढ़ना ही तो नारी का कर्त्तव्य है। बचपन से ही पपा से लज्जा करना मैंने सीखा ही न था। सहजभाव से बोल उठी—"सचमुच ही पपा उन्हें काम था आप कुछ और न समझें। अप्रसन्न क्यों होंगे भला?" बात शायद मैंने कुछ ऐसे ढग से कही कि पिता की दबाते दबाते भी छाती तले से एक लम्बी ठण्डी सांस निकल गई। फिर भी वह कुछ शान्त से दीख पड़े।

"गुटरू फिर कब आयेगी?"

"जल्दी ही आजाऊंगी पपा।" मैंने प्रसन्न मुख से कहा। पपा को छोड़ते दुःख तो हो ही रहा था किन्तु स्वामी के मिलन की आशा में कुछ हर्षित भी हो उठी थी।

"इस बार सुधीर को भी लाना।"

"अच्छा।" पिता की पलकें गीली थीं।

मेरी मां के अनेकों आभूषण तो मेरे ही पास थे, फिर भी अनेक बहुमूल्य आभूषण पिता के पास भी थे जो कि उन्होंने नई मां को नहीं दिए थे। नई मां के लिए लाख से ऊपर की लागत के आभूषण अलग ही बनवाये गए थे।

जाने के दिन माँ ने अपना एक बेशकीमती हार मेरे गले में पहनाते हुए कहा—"श्वेत मोती मेरे काले गले में भला क्या लगेंगे। तुम्हारे गले में पड़कर तो हार भी चमक उठा।"

मैंने हंसते हुए नई मां के गले में हार उतार कर डालना चाहा पर उन्होंने डालने ही नहीं दिया।

हंस कर कहने लगी—"बिटिया, भला तुम्हारे सामने तुम्हारी बूढ़ी माँ पहनती अच्छी लगेगी ? कभी समधिन देख लेंगी तो क्या कहेंगी ?" नई मां बड़ी ही हंसोड़ थी, जब तब तंग किया करती थी।

"बनाव शृंगार की तो बुढ़ियों को ही आवश्यकता होती है, युवती तो यूं ही अच्छी लगती हैं।" मैंने भी उसी स्वर में उत्तर दिया।

मां ने जरा बनाने के भाव से कहा—"छीः, लड़की, शर्म नहीं आती इतनी बड़ी हुई, घर बार वाली हुई और मां से मजाक करती है।"

"ओहो, ओहो आज तो माँ बनने की ही बड़ी भारी धुन चढ़ी हुई है। देखूं तो भला अब कल से किसे डांटोगी ?" मैंने तो साधारण ही भाव से कहा था किन्तु तीर छुरे ठौर लगा। नई मां का मुख एक क्षण में बिल्कुल उतर गया। यहाँ तक कि रोनी रोनी हो गई। कुछ देर तक रो धो कर नई माँ ने कहा—"चन्दर, बड़ी हूं, रिश्ते में माँ लगती हूं, नहीं तो एक बार सुधीर से कहती कि तुम धन्य हो, ऐसी रूप गुण सम्पन्न नारी दीपक लेकर ढूंढने पर भी नहीं मिलती सो तुम सहज ही पागये हो।" कहते कहते ही न जाने क्यों माँ का समस्त मुख एक दम धूमिल हो उठा।

"क्यों बनाती हो मां, कुछ भाभी तो हो नहीं, मां हो।" चिढ़ाने के लिए अब भी मैं कभी कभी मां ही कहती हूं, पर अब नई मां चिढ़ती भी नहीं और लजाती भी नहीं।

न जाने किस झोंक में अचानक ही चौबीस पच्चीस वर्षीय नई मां के भीतर छिपी नारी बोल उठी—"सचमुच ही चन्दर ! तुम्हारी जैसी लड़की मेरी कोख से उत्पन्न हुई होती तो नारी जीवन ही सफल हो जाता।" कह कर अचानक ही झेंप कर नई माँ एक छोटी नवविवाहिता बधू की तरह अन्दर भाग गई। विस्तृत बगीचे के घास के लान पर बैठी मैं निश्चय ही न कर पाई कि क्या करूं। सचमुच ही जान पड़ा नारी बाहर और भीतर सदा नारी ही रहती है। नारी होना ही उसके जीवन का एक मात्र सत्य है।

सचमुच ही तो यह नारी उत्सर्ग, आत्मत्याग की आदर्श प्रतिमा नहीं है और कभी बन सकेगी भी नहीं। यह है केवलमात्र एक नारी, मातृत्व की इच्छुका नारी मात्र। सहज ही मैंने अपने मन से कहा—"यदि नहीं है तो क्या हुआ ? क्या प्रत्येक नारी उतना त्याग कर सकती है ? विश्व भर के व्यक्तियों को अपनी सन्तान गिन सकने में असफल यह नारी यदि निज गर्भधारिणी सन्तान की इच्छुका है तो अनर्थ भी क्या है ? "सचमुच ही अपने पास एक नन्हा फूल सा अपना भाई खेलता हुआ देखने को मैं उत्सुक हो उठी। सचमुच ही मैं जगन्नियन्ता से कह बैठी—"प्रभु माँ दी है तो भाई देने में कृपणता न करना।" जान पड़ता है भगवान् ने मेरी प्रार्थना सुन ली। नई मां थोड़ी देर में ही लौट आई।

"क्यों, भाग क्यों गईं थीं ?"

"भागती क्यों ? कोई चोरी की थी क्या ?"

"क्या जानू ?" हम दोनों ही हँस पड़ीं।

वास्तव में नई माँ ने इस बार मुझे ठीक-ठीक, नियमानुसार ससुराल गृह के प्रत्येक व्यक्ति के वास्ते बहुमूल्य भेंट उपहार देकर बिदा किया। कहीं भी टोक देने पर बड़े करुण भाव से आँसू भर कर कहतीं—"चन्दर बोल तो वह लोग क्या कहेंगे ? अपनी माँ होने पर तू ऐसा थोड़े ही कह पाती। दीदी जीवित होतीं तो उन्हें भी तू रोकती क्या ? बता तो सही ?" साधारण शब्द होने पर भी उनके मुख की वह करुण दृष्टि मुझसे सही नहीं जाती थी।

"तो जैसी तुम्हारा इच्छा।" उनके स्नेह का उपहार मैं लौटा सकी नहीं। पर सामान इतना अधिक हो गया कि घबरा अवश्य उठी। तिस पर भी मां को सन्तोष नहीं हो रहा था।

बिदाई के समय तो वह ऐसा फूट-फूट कर रोईं कि मैं अपनी आँखों की धारा यत्न करने पर भी रोक न सकी।

वह स्नेह का उपहार मेरी सास के सम्मुख रख दिया गया। माता जी ने तनिक सा मुँह बिचका कर कहा—"यह आखिरी बिदाई दे दी है तुम्हारे बाप ने क्या ?"

"नहीं, माँ ने आपके चरण-स्पर्श को यह सब कुछ भेजा है।"

"आह, बड़ी ममता फूट पड़ी है सौतेली बेटी पर। हाँ, सब कुछ लेकर थोड़ा भी न दें तो पचेगा कहाँ ?" माता जी ने कठोरता से कहा।

मैं चौंक पड़ी। यही क्या मेरी स्नेहमयी सास है।

इच्छा हुई कि कह दूं—"जिन्होंने यौवन का लोभ न करके, स्वास्थ का भी लोभ न करके वृद्ध पति के चरणों में ही

अपना यौवन समर्पित कर दिया है और उसकी युवती पुत्री को अपनी गोद में स्नेह से बिठाया है, उनके स्नेह पर सन्देह करके अपने को छोटा न करो माता जी।"

कह न सकी, कैसे कहती, मेरे देवता की माता जो थीं। वह माता मेरी माता से भी अधिक पूजनीया थीं।

पर आश्चर्य तो तब हुआ जब सन्ध्या समय स्वामी लिफाफा खोलते ही पत्र पढ़ कर चौंक उठे– "तो क्या मुझे एक ही कोठी मिलेगी। बस शिमले वाली ही और लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, देहली, श्रीनगर आदि की जायदाद कहाँ गई?"

मैं कुछ समझ न सकी। पत्र का सार भी मुझे विदित न था। इतना अवश्य समझ सकी कि पिता ने सम्भवतः शिमले की एक ही कोठी मुझे दी है। विश्वास ही नहीं हुआ कि जो स्वामी मुझे पल भर के लिये भी आँख की ओट न होने देते थे, आज इतने दिनों पश्चात् मिलने पर भी उनकी दृष्टि अधिक कोठियों की ओर है उस प्रिय पत्नी को छोड़ कर। पर नहीं भाव दबा लिया "छीः स्वामी पर सन्देह करके छोटा हो जाने से कहीं अच्छा है स्वामी पर विश्वास करके दुःख पा लेना।" यही तो मैंने जीवन भर सीखा था। सँस्कार क्या एक ही धक्के से मिट जाता है, मैंने मन ही मन कहा—"माता गौरी विश्व मङ्गला मुझे शक्ति दो। मुझे बल दो।"

उस रात फिर स्वामी ने मुझ से कुछ बातचीत न की। 'एक केस तैयार करना है' कह कर बैठक में चले गये। लगभग रात के बारह बजे आकर तुरन्त ही सो गये। इच्छा हो। ए भी मैं उन्हें छेड़ न सकी। यह था मेरे जीवन के दूसरे अध्य का मुख-पृष्ठ।

दूसरा अध्याय

कैसे कहूं जीवन का यह अध्याय, न तो उतना सुन्दर ही है और न सजीव ही। दुर्दिन के मेघ जिस दिन आरम्भ हुए थे उस दिन मैं सिर से पैर तक काँप उठी थी। जान पड़ता था, हृदय के आसपास का समस्त रक्त एकबारगी सूख कर जम जायेगा। कहीं भी उस कठोर धड़कन का अन्त न था। और आज जब उस वर्षा, दुःख-वर्षा के धाराप्रवाह ने, कणों ने कहीं भी कुछ भी मेरा सूखा नहीं छोड़ा है तो जान पड़ता है कि पिछली स्मृति ही आज के काण्ड में कहीं अधिक भयङ्कर कष्ट-प्रदायिनी है। पड़ने पर सहना सम्भवतः उतना कष्टदायक नहीं होता जितना कि कड़कने पर उस पड़ने की कल्पना। कौन कह सकता है कि मृत्यु की घड़ियाँ दुःखकर ही होती हैं, आनन्द-दायिनी नहीं; किन्तु यह तो निश्चित ही है कि उनकी कल्पना सम्भवतः कहीं अधिक दुःखदायी होती है। खैर, कहाँ से कहाँ बहक गई। अपनी कथा सुनाते-सुनाते लगी संसार की कहानी कहने। खैर कोई बात नहीं, है तो पगली की ही आत्मकथा ना? ऐसी ही तो होगी।

उस दिन प्रातःकाल से ही नन्हीं-नन्हीं फुहारें पड़ रही थीं। जिस दिन से मायके से लौटी हूं किसी दिन भी स्वामी ने मुंह भर बात नहीं की। जान पड़ता था किसी बात पर कुछ अप्रसन्न से हैं। इच्छा करने पर भी मैं स्वयं भी उन्हें न छेड़ सकी। घनी रात्रि में चुपचाप आकर पड़े रहते; मैं भी माता जी के पास से उठकर आती तो कहां तो इन्हें यह समझाना कठिन होता था कि १२ बजे मनुष्य के लिए सोना आवश्यक हो जाता है, कई

बार चार बजे भी मुश्किल से सो पाते और कहां दस बजे आकर स्वामी को सोता हुआ पाती। सचमुच मुझे तो नींद भी नहीं आती और मन भी अप्रसन्न रहता है। निरन्तर यत्न करने पर भी मैं उनसे बोलने का मौका ही नहीं ढूंढ पाती। उधर माता जी भी कुछ उखड़ी सी ही रहती हैं। अस्तु, बड़ी ही तो थी। मेरा कुछ अपराध बन पड़ा होगा सोचकर ही मैं दिन भर सोच विचार में बिता देती। उसदिन इतवार था, स्वामी के घर पर ही रहने की सम्भावना थी। अतः मैं जल्दी जल्दी हाथ का काम निबटा कर महाराजिन को स्टोर से सामान आदि निकलवा देकर क्लीनर को कार की सफाई सम्बन्धी दो चार बातें समझा कर अपने कमरे में आ बैठी। माता जी संगीत सभा की कार्य-कारिणी सभा की बैठक में गई हुई थीं। वहां भी कार एक बजे पहुँचनी थीं। यह सब भार प्रायः मुझ पर ही रहा करता था। प्रायः रविवार को स्वामी कमरे से बाहर पैर नहीं देते थे। यहां तक कि कभी कभी माता जी की भी दो चार बातें सुननी पड़ती थीं, यदि वह घर पर होतीं तो, क्योंकि अकसर वह बाहर ही रहती थीं। नगर की प्रत्येक सभा सोसायटी उनके आश्रय की इच्छुक रहती थी। वाणी में शक्ति होने के साथ ही उनमें कार्य करने की भी अद्भुत क्षमता थी। कभी कभी ऐसी सास पाने पर मुझे गर्व हो उठता था। स्त्री अधिकारों की मांग पर उनका अनवरत परिश्रम मैं भूल नहीं पाती। यहां तक कि पुत्री को भी पिता की जायदाद में अधिकार मिले इसके लिए उन्होंने ऐसे-म्बली तक में आवाज पहुंचाई थी। एक दिन तो मैं उनसे लड़ भी चुकी थी। बात यों थी, इसी सम्बन्ध में कार्य करने वह एक दिन नौ बजे की घर से निकली हुई थीं। यद्यपि सुबह

चाय तो पी गई थीं और चाय के साथ अत्यन्त आग्रह से मैंने थोड़ा सा गाजर और सेव का मुरब्बा और दो छोटी छोटी दाल भरी कचौड़ियां भी खिला दी थीं फिर भी जब तीन बजे तक वह घर न पहुँची तो मेरा मन भी कुछ खाने को न हुआ। जब से इस घर में आई हूं कभी कभी यदि वह बहुत कहती तो उनके साथ ही बैठ जाती थी। यू रविवार को सारे परिवार के व्यक्ति भोजन करने साथ ही मेज पर बैठते थे। हां, माता जी जब उस दिन चार बजे घर पहुँची तो खाना पूछने पर कह उठीं—"अब क्या खाऊंगी बहू, चार तो बज गए, बस चाय ही पी लूंगी।"

मैं झुंझला उठी।

"माता जी, स्त्रियों के अधिकारों में से एक आधा कम भी रह गया तो संसार की कोई विशेष हानि न हो जाएगी, पर आपका स्वास्थ्य नष्ट हो जाने पर लौटेगा कैसे ?"

"मेरे स्वास्थ्य की चिन्ता में क्यों बावली हुई फिरती है पगली। देख इतनी मोटी ताजी तो हूं, तेरी जैसी तो मुझ में से पांच बनें।" उन्होंने हँसते हुए प्यार में कहा।

"नहीं, मैं तो अब आपको ऐसा करने दूंगी नहीं। और मैं ख्याल न रखूं तो और कौन रखेगा। मेरे कोई दो चार माताए तो हैं नहीं।" सचमुच वह मेरी माँ ही थी।

"और मेरे ही कौन दस पांच बेटियाँ हैं।" वह मुझे बहुत प्यार करतीं थीं।

इस बात में मैं उनके प्यार का सहारा पाकर उनके कार्य की तीव्र आलोचना कर बैठी। सम्भवतः मैंने यह भी कहा

था—"माँ जिस अभागिनी नारी को स्वामी का दुर्लभ प्रेम ही नहीं प्राप्त हुआ, वह पिता के तुच्छ धन को लेकर क्या करेगी ? और जिसे स्वामी का प्रेम प्राप्त है उसे धन की वैसी आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः आपके इस कानून की आवश्यकता ही क्या है ?" नहीं जानती सुन कर उन्होंने क्या समझ कर एका-एक मेरे मुँह की ओर देखा और देखती रहीं और फिर तुरन्त ही दृष्टि मेरे मुख पर से हटा कर कहने लगीं—"धन का महत्व तुम जान पाई नहीं, बहुत धनी घर की बेटी हो ना ? मैं साधारण गृहस्थ की लड़की थी, बचपन में तुम्हारे पिता जी से विवाह हुआ। इसके बाद कितने ही दिन उनकी वकालत चली नहीं। ओह ! वह दिन कितने बुरे थे सो मैं ही जानती हूं। पिता सहायता तो करते थे किन्तु यह तो जानते ही थे आखिर यह सब कुछ मेरे भाइयों के हिस्से में से कर रहे हैं। आज जब कि अपने बाहूबल से राय बहादुर साहब ने कोठियां खड़ी कर ली हैं तो क्या उन दिनों को भूल जाऊँ ? धन बड़ी ही महत्वशाली वस्तु है। उसकी आवश्यकता किसे नहीं रहती ?" और फिर बहुत सी बातें हुईं सो सब तो मुझे याद भी नहीं और याद रखने की इच्छा भी नहीं होती। अतः आज भी वह बाहर गई हुई थीं। अकेले जी घबराता था। एक बार जी चाहा कि ड्राइङ्ग रूम में ही स्वामी के पास जा बैठूं।

पहले तो उनका कोई भी मुकदमा मेरी सलाह के बिना बनता ही न था। फिर भी जा न सकी, कुछ अभिमान से नहीं वरन् अन्यमनस्कता से ही। नई मां का पत्र निकाल कर पढ़ने लगी। लिखा था। बीच में कहीं बहुत ही घसीट अक्षरों में—"बेटी हो, हँसी नहीं करूंगी, किन्तु सच ही स्वामी की सौभाग्य-

शालिनी पत्नी अपने भरे पूरे दाम्पत्य जीवन में इस दुःखिनी मां, हाँ अब दृढ़ कर लिया है अपने मन को सो अब न कहूंगी, माँ को भूल न जाना।" रह रहकर यही वाक्य मेरे हृदय में चुभ गये। मेरी आँखों से अनमोल मोती लुढ़क पड़े। सचमुच ही नारी जितनी त्याग की क्षमता और संसार के किस व्यक्ति में हो सकती है। हृदय भले ही कुचल कर पिस जाय पर आसपास के वातावरण के शान्त, सौम्य और सुन्दर बनाने को वह सब कुछ ही बलिदान करने के लिये तत्पर रहती है। ऐसी ही क्षमतामयी है नारी।

सममुच मेरा दिल धड़क उठा—"गौरी तुम नारी हो सौभाग्यमयी हो। यदि इस बालिका ने जो हमारे घर मेरी माँ बन कर आई, इस जन्म या पिछले जन्म में कोई पुण्य किये हों तो थोड़ी ही अपनी पद-रज इसकी माँग में छिड़क देना। वही सिन्दूर की बूंद सुहाग बन कर इसकी माँग और गोद में चमकेगी।"

इस समय बड़े जोर से इच्छा हुई स्वामी को निकट पाने की। मन अत्यन्त दुर्बल हो उठा था। मैं खिड़की के पास ही बैठी थी। न जाने कब से बौछारों ने पड़-पड़ कर मेरे सिल्क के ब्लाउज को भिगो डाला था। छपी हुई मुर्शिदाबादी रेशम की साड़ी कन्धों से कुछ खिसक कर बाहू पर पड़ी थी। सम्भवतः मेरी दृष्टि जल भरे बादलों की ओर ही थी और मन जो था सुदूर देश में बैठी हुई उस नवयौवना में, वृद्धत्व को निमन्त्रण देने वाली त्यागमयी नारी के चरणों में।

"मेघ को ही दूत बना कर जान पड़ता है भेजना पड़ेगा, अन्यथा हमारी बात सुनी ही क्यों जायगी?"

स्वर सुन कर मैं चौंक पड़ी। घूम कर देखा तो स्वामी खड़े थे। कमनीय कान्ति, उजले श्याम वर्ण और ढेर सारे भागे से बाल। मैं खिल उठी।

"आओ, बैठो। मेघ को दूत बना कर किसी विरहिणी के पास भेजना, जहाँ विरह की सम्भावना ही नहीं है वहाँ कालिदास को भी हार माननी पड़ेगी।"

"ऐसा ?"

"हाँ, यहाँ तो है, तू तू न रहे मैं मैं न रहूं, कुछ ऐसा हम घुलमिल जायें।"

न जाने मैं कैसे इतनी मुखरा हो उठी। स्वामी पास ही एक कुर्सी खींच कर बैठ गये।

बारिश अभी हो ही रही थी। मैं स्वामी के बालों में धीरे-धीरे हाथ फेरने लगी। आरामकुर्सी की पीठ पर उनका सिर टिका था। बाल जान पड़ता था अच्छी तरह पोंछे ही न थे। मैं घबड़ा उठी। "यह क्या ? अभी नहाये हो क्या ? और फिर बाल भली प्रकार पोंछे भी नहीं, कहीं सर्दी हो जाय तो ?" कह कर मैं उठ खड़ी हुई। तौलिया निकाल कर मैं उनका सिर पोंछने लगी।

"इतनी सेवा करके तुम मुझे बिलकुल ही निकम्मा बना दोगी।" उन्होंने मुस्कराते हुए कहा।

"क्यों फालतू हो क्या, जो निकम्मा बना दूंगी। अपनी ही तो चीज है। तुम्हें इसकी फिकर में अपना माथा गर्म करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

"ओह, हो !" जान पड़ा बड़े ही अच्छे मूड में थे। "यहाँ एकान्त में बैठ कर किस सौभाग्यशाली की चिन्ता हो रही थी ?" उन्होंने कुछ निश्चिन्तता से मेरा एक हाथ पकड़ कर कहा—"अब बैठो भी, बहुत हुआ, बाल पुँछ तो गये अब।"

"तुम बहुत देर से खड़े थे क्या ?" मैंने कुछ चिन्ता से पूछा।

आज कई दिन बाद वह मुझ से खुल कर बोल रहे थे। मैं भी आनन्द से भर उठी।

"कोई पाँच-छः मिनट से।"

"तब तुम बहुत धीरे-धीरे आये होगे, तब ही तो जान पड़ा नहीं। नहीं क्या पता न लगता तुम्हारा आना।"

"पता लगे क्यों, न जाने किसकी बात सोचने में मग्न थीं।"

"बताऊं क्या सोच रही थी ?" मैंने शरारत से कहा।

"बताओ मन्दर !" बहुत प्यार में आकर कभी-कभी स्वामी चन्दर-मन्दर भी कह दिया करते थे।

"नहीं, तुम गैस करो। मैं नहीं बताऊंगी।" मैं होठों में ही हंस उठी।

"बताऊं, तुम सोच रही थी कि कहीं किसी कोने में घर प्राणी किसी अनजान व्यक्तियों के घर या जायदाद के मामलों को लेकर बेतरह सिर खपा रहा है। मैं गोकि उसकी सब से अधिक अपनी हूं फिर भी यहाँ इस खिड़की पर विरहिणी की भाँति बैठी हूं। क्या मेघ को दूत बना कर उसके पास कोई सन्देशा भेज दूं ?"

"हूं मुझे और कोई काम तो है ही नहीं, जो घर के किसी एकान्त कोने में बैठी किसी एकान्त-सेवी को लेकर अपना समय नष्ट करूं।"

मैंने उन्हें कुछ-कुछ छेड़ने के भाव से कहा वह बड़ी जोर से हँस उठे।

"तब फिर क्या सोच रही थी ?"

"सोचती थी कि न जाने कौन इतना निष्ठुर है जो अनजाने ही किसी के न जाने किस दोष पर अपने आप ही अप्रसन्न हो उठा है ? और क्या ?"

"और अब क्या सोच रही हो ?" उन्होंने फिर पूछा। किन्तु मैं क्या कहती ? मैं तो सोच रही थी कि स्वामी ! दासी ने अपराध अवश्य किया होगा तब ही तो तुम इतने दिन अप्रसन्न रह कर स्वयं ही दुःख पाते रहे किन्तु जिस प्रकार आज दण्ड देने से पूर्व ही क्षमा करके मुझ पर दया की है उसी प्रकार सदा सर्वदा ही करते रहना किन्तु यह बात उनसे भला किस प्रकार कहती। कह पाती ही नहीं। अतः बात हँसी में ही टाल देना चाहा।

"और अब सोच रही हूं अपना कपाल।"

"विषय तो बहुत सुन्दर है।" उन्होंने हँस कर कहा।

बड़ी देर तक बातें होती रहीं। वर्षा भी बढ़ रही थी। माता जी भी अभी तक नहीं आई थीं। पिता जी तो दिन भर में केवल खाना खाने के लिये ही अन्दर आते थे। समय बीतता जा रहा था हमारी रस भरी बातों में। हाय ! आज उनकी स्मृति भी कितनी दुःखदायिनी है।

यकायक स्वामी प्रसंग बदल कर बोले—"मन्दर एक काम तो करो।" बिना मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए वह कहते ही गये। "अपने पिता जी को लिख दो या चाहो तो जाकर ही बात कर लो कि मैं कुछ दिन के लिये श्रीनगर जाकर रहना चाहता हूं। मुझ से एक बार उन्होंने श्रीनगर वाली कोठी ले लेने के लिये कहा भी था। अतः अब दे दें तो छुट्टियाँ चल कर वहां बितायें।"

"हाँ, हाँ तब चलना। पापा ने अपने रहने के लिये जो कोठी रक्खी हुई है उसी में आनन्द से रहेंगे। मैं आज ही मैनेजर को लिख दूंगी और यदि पपा भी नई मां के साथ वहां आ जायें तो बड़ा ही आनन्द रहे। तुम्हें देखने को तो नई माँ बड़ी उत्सुक हैं।" मैं उत्साह से भर उठी। पिछले दो वर्षों से मैं काशमीर नहीं गई थी, प्रस्ताव बहुत सुन्दर लगा। किन्तु उनका मुख कुछ गम्भीर हो उठा।

"हां, लेकिन मैं तो उन लोगों के साथ नहीं रह सकूंगा। माता जी की इच्छा है कि काशमीर में एक अपनी ही कोठी हो। तुम्हारे पिता जी तो पहले देने को कहते ही थे, आखिर लेना है तो फिर अभी क्यों न ले लें।" स्वर कुछ ऐसा रुखा था कि मेरा समस्त मन क्षोभ से भर उठा। फिर भी सम्हल कर बोली—

"हम में और उनमें भेद ही क्या है? वह चीज क्या हमारी नहीं है?"

"हमारी होने पर भी माता जी की प्रसन्नता भी तो कोई चीज है। क्यों क्या तुम्हारी इच्छा लेने की नहीं है?" उन्होंने कुछ कठोरता से कहा।

मेरी इच्छा क्या है सो मैं स्वयं भी नहीं जान पा रही थी; किन्तु मन में कुछ भय सा, अज्ञात आशङ्का सी अवश्य छा गई थी। जो आज तक मेरे हृदय के भीतर और बाहर कहीं कुछ तनिक सा भी अस्पष्ट निहित नहीं पा सकते थे, उन्हीं के सम्मुख आज मुझे ऐसा लगा कि वह हृदय के भीतर ही भीतर कुछ छिपाने का यत्न कर रहे हैं। छिः, क्या मैं इतनी ओछी इतनी अभागी हूं कि स्वामी का विश्वास भी कुछ प्राप्त नहीं।

"फिर क्या कहती हो ?"

"अच्छा।"

"क्या अच्छा ?"

"जैसी तुम्हारी आज्ञा हुई है वैसा ही करूंगी।"

"पर यह आज्ञा तो नहीं, यह तो एक सलाह है चन्दर" कहते-कहते वह उठने लगे। "एक केस है जरा पिता जी से राय लेनी है। बाहर की बैठक में हूँ खाना तैयार होने पर बुला लेना।"

"अच्छा" कह कर मैं आराम कुर्सी पर बैठ गई। वह बाहर चले गये।

'छीः, पापा से आज आंचल पसार कर भीख मांगू एक कोठी। कितनी दयनीय दशा है मेरी। माँगना क्या मेरे स्वामी और मेरे पापा... ..... यह सब हमें, मेरे परिवार को मेरी नई माँ की दृष्टि में छोटा न कर देगा। और हमें कमी ही क्या है। स्वयं ही इच्छा करते ही क्या हम दो-चार कोठियाँ खरीदने की क्षमता नहीं रखते, फिर भला पिता जी भी हैं तो क्या हुआ उनके

सम्मुख भी आंचल पसारते मेरा आत्मभिमानी मन रो उठता है। किन्तु स्वामी की इच्छा, माता जी की आज्ञा ? उस पर विचार करना क्या मेरी शक्ति के अन्दर है। उनकी आज्ञा ही काफी नहीं है क्या मेरे समस्त उचितानुचित की विवेचना के लिये।"

इतना सोच कर भी विवेचना शील मस्तिष्क शान्त हुआ नहीं। समझ में ही नहीं आता था कि क्या करूं। सोचा नई माँ के पत्र का उत्तर ही दे डालूं तथा इसकी चर्चा करके स्वामी के प्रति असत्य वादिनी बनाने से भी बच जाऊं। कागज लेकर लिखा:—

"पूजनीया मां....."

शब्द मिल ही नहीं रहे थे मस्तिष्क सारा विरक्ति से भरा जा रहा था। पत्र लिखना फिर हुआ नहीं किन्तु जान पड़ता था छाती के भीतर ठीक हृदय के पास ही निरन्तर कोई हथौड़ी की सी चोटें कर रहा है। क्यों सो तो मैं जान पाई नहीं किन्तु मन अत्यन्त खराब हो गया था।

"तब क्या विजया ठीक ही....." नहीं नहीं सो न सोचूंगी। विजया क्या मेरे स्वामी को मुझसे अधिक समझ पाई है।

छीः विजया कितनी ओछी है सोचने पर भी जान पड़ा उस क्षण मुझे विजया की ही सबसे अधिक आवश्यकता है। विजया उसी नगर में पढ़ाती थी। मेरी कोठी से कुछ दूर रहती भी थी किन्तु मेरे अनेक साग्रह निमन्त्रणों के बाद भी वह किसी दिन भी मेरे घर नहीं आई। मैं भी अपने सुखी जीवन में आज तक अभी उससे मिलने का समय नहीं निकाल पाई। नई माँ के

विवाह में जाने से पूर्व एक दिन दो चार क्षण को मिली थी, स्त्री सभा के जलसे पर उसके अन्तिम शब्द जाने से पूर्व के इस समय मेरे कानों में गूंज उठे:—

"चन्दर पति के प्रति तुम्हारे अचल विश्वास को डिगाना नहीं चाहती क्योंकि धन्य है वह जो सौभाग्य पाती है, किन्तु जहाँ धन का लोभ ही सर्वप्रधान हो वहाँ उस व्यक्ति को उसके ही वश किये रखना अच्छा होता है। व्यर्थ ही पिता के धन में अपना एक साझीदार बनाकर एक समस्या मोल न लो, कहे देती हूं भले ही तुम बुरा मान जाओ।" कह कर ही यकायक बड़े जोर से घूम कर विजया चली गई। यहाँ तक कि ठीक से विदा भी नहीं हुई। मैं उस दिन सचमुच ही विजया से नाराज़ हो गई उसके पश्चात् मेरी कभी उससे मिलने की इच्छा भी नहीं हुई किन्तु आज वह शब्द मेरे हृदय के समीप ही कहीं गूंज उठे।

"वह"

"बिज्जी" तू मुझे छोड़ भी दे पर मैं तो तुझे किसी प्रकार भी छोड़ न सकूंगी।" मेरा मन भी मेरे स्वर की भाँति ही उदास था।

"सचमुच ही चन्दर मैंने संसार में केवल तेरे सम्मुख ही हार मानी है, वह भी शायद इसीलिये कि मैं तुझे समस्त हृदय से प्यार करती हूं। और कृपा की पात्र भी मेरे लिये संसार भर में केवल तू ही हो सकती है।"

'तब अच्छा हो घृणा ही कर बिज्जी। मुझे प्यार करने वालों का अभाव भले ही हो पर उसके लिये मैं लालायित नहीं हूं। मुझे तो किसी घृणा करने वाले की आवश्यकता है।' मेरी

आंखों में सम्भवत: दो चार आंसू भी खेल रहे हों। विजया ने मेरे आंसू देख लिये। कुछ देर तक नीचे के ओठों को कठोरता पूर्वक ऊपर के दांतों में दबाये रही मानों किसी मानसिक द्वन्द से छुटकारा पाना चाहती हो। विजया का विचित्र चरित्र मैं आज तक भी समझ नहीं पाई किन्तु इस समय तो मेरा ध्यान इस ओर न था मैं तो केवल अपने ही दुर्भाग्य से ऊब कर कुछ क्षण यहाँ बिताने आई थी। क्लब की और मेम्बरगण जा चुकी थीं। मैं और विजया ही शुभ्र चांदनी में बैठे थे। मैं कार की प्रतीक्षा कर रही था और विजया अपने भाई के आने की। वह भी प्राय: चार मास पश्चात् आज क्लब आई थी और मुझे तो एक वर्ष के लगभग हो गया था क्लब आये हुये।

कुछ देर ठहर कर शून्य की ओर ताकती सी विजया बोली,—"चन्दर, जीवन में जो भूल एक बार जाने या अनजाने हो जाती है उसका प्रतिकार फिर शायद यावज्जीवन सिर पटकने पर भी नहीं हो पाता। जीवन में मैंने और तूने दोनों ही ने भूल की है। तूने अनजाने किन्तु मैंने जान बूझकर। हमारी दोनों की ही भूल का कोई प्रतिकार हो ही नहीं सकता है। किन्तु तुझे भूल में भी शान्ति है, सन्तोष है जब कि मेरी भूल में अन्याय है, घृणा है और है चिरानन्द। इसी कारण भूल कर चुकने पर भी तुम जिस शान्ति से रह पाती हो मैं शायद कभी भी नहीं रह पाऊंगी।" कठोर विजया की आँखों में वेदना की लहर दीख पड़ी. मेरे लिये विजया की कठोरता तो साधारण ही थी किन्तु उसकी दीनता देखकर मैं घबड़ा उठा।

मैंने सहसा कह ही दिया—"नहीं जानती किस भूल की ओर तुम्हारा संकेत है, किन्तु विजया शान्ति सम्भवत: मेरे

भाग्य में है ही नहीं।"

विजया कुछ देर तक चुपचाप शून्य में, सुदूर पेड़ों के झुटमुट के पीछे शून्य की ओर ताकती रही। फिर बोल उठी—"चन्दर कभी किसी दिन यदि यह कहना चाहो कि विजया पापिनी है तो उस दिन यह सोचना न भूलना कि विजया से अधिक अभागी भी शायद संसार में कोई ही हो।"

"बिज्जी कहती क्या है रानी ?"

"यह सत्य ही है चन्दर। दिल के घाव जितनी देर तक दिल में ही रहें तभी तक ठीक है। जाने दो चन्दर। दुःखी हम दोनों ही हैं किन्तु तेरा दुःख मेरे दुःख से भिन्न है।"

"तू मेरा दुःख जान पड़ता है समझती है किन्तु मुझे अपनी वेदना क्या जानने नहीं देगी बिज्जी ?"

"क्या करोगी जानकर ? चन्दर जिस सहज विश्वास को लेकर जीवन में तनिक सा आनन्द ला पाती है उसे भी क्यों मिटाना चाहती है। और उसे मिटाकर रहेगी कहाँ ? मैं भी भला मुंह कैसे दिखा पाऊंगी ?"

अचानक विजया सीधी खड़ी होगई। एक क्षण की भी प्रतीक्षा किये बिना विजया उठकर बाहर की ओर चल दी। उसे रोकने के लिये मैं भी साथ ही साथ द्वार तक पहुंची। इसी समय हमारी कार पहुँची. वह स्वयं ही चला रहे थे। न जाने क्यों एक साथ ही मेरी दृष्टि विजया और अपने स्वामी पर पड़ी। स्वामी का मुख एकदम श्वेत हो गया था, हाथ कठिनाई से स्टेयरिंग पर रुके हुये थे।

विजया का मुख एकदम रक्तवर्ण हो उठा। न जाने क्यों ? मैंने पास पहुंच कर विजया से कहा—"बिज्जी अभी तेरे भईया तो आये नहीं अकेली कहाँ जायेगी। चल, तुझे कार में पहुँचा दें।"

मेरी स्वर लहरी कठोर भी नहीं थी, व्यंगात्मक भी नहीं। सहज स्नेह और सहानुभूति से ही ओत प्रोत थी, किन्तु न जाने क्यों विजया अत्यन्त कठोरता से गरज उठी—चली जाओ चन्दर।" स्वर की कठोरता सुनकर मेरा साहस ही फिर बोलने का न हुआ। द्वार खोलकर कार में स्वामी के पास आ बैठी। उन्होंने बिना कुछ कहे सुने कार चलाई।

कुछ दूर जाकर स्वयं ही बोले—'तुम उसको कब से जानती हो ?"

"किसको ?" मैंने कहा।

"विजया को"

"ओह, वह मेरी कालेज की सहपाठिनी और सखि है। यहां.....स्कूल में पढ़ाती है।"

कुछ देर बाद मैंने पूछा—'तुम बिज्जी को जानते हो क्या ?'

कुछ ठहर कर उन्होंने कहा,—"हां, योरुप जाने से पूर्व हम दोनों ही स्थानीय छात्र संघ.....में क म करते थे।"

"तब तो वह तुम्हारी अच्छी परीचिता होगी। भला, तुम देखकर बोले भी नहीं।"

"जब वह ही नहीं बोली तो मैं क्या बोलता ?" उत्तर कुछ संगत तो नहीं जान पड़ा किन्तु मैंने यह प्रसंग यहीं छोड़

देना ही उचित समझा किन्तु मेरे सिर के भीतरी भाग में असंख्य मशीनगनें चलने का सा शब्द होरहा था। घर आकर अनेकानेक यत्न करके भी मैं मस्तिष्क में होने वाले भयंकर शब्दों को कम न कर सकी, वरन् वह बढ़ता ही चला गया दिन रात एक दम जोर से। मैं मुन्नी की चारपाई के पास पहुंची थी कि उसे उठाकर प्यार करूं। मुन्नी अब बड़ी हो गई है वह कहती है मां.....मां.....हंसती खूब किलकारी मारकर है। किसी भी पदार्थ की ओर खूब जल्दी से हाथ और पैर दोनों की सहायता लेकर बढ़ने लगती है। बड़ी ही प्यारी है। जैसे ही मैं उसके पलँग तक पहुंची और मैंने उसे छूने का यत्न किया मेरे मस्तिष्क के तार तो मानो एक बारगी फटने लगे। नहीं, नहीं मैं उसे छूऊँगी नहीं। अरे वही तो मेरी शत्रु है, नहीं मैं वहाँ बहकी जा रही हूं, वह तो मेरी पुत्री है, मैं उसकी जन्म दात्री मां हूं।.....अरे नहीं मां होने पर भी क्या शत्रु नहीं हो सकती। पुत्री होने पर क्या वह मेरी प्राण ग्राही नहीं हो सकेगी ?

नहीं, वह मेरी शत्रु ही है। यदि नहीं तो मैं उसे उस दिन से आज तक कभी क्यों छू न सकी। उसे छूने का प्रयत्न करते ही मेरे हृदय, मस्तिष्क और शरीर की सब नशें फटने सी क्यों लगती हैं। कितने ही महीने बीत गये मैं मुन्नी को प्यार कर ही नहीं पाती। अब तो वह मेरे पास आती भी नहीं। वह शायद मेरी कुछ भी नहीं लगती है। उसकी ओर देखते ही नसें आंखों की तथा आंखों के आस-पास की जलने सी लगती हैं। मैं स्वयं ही भी जल सी उठती हूं। कई बार इच्छा होती है उस नन्हीं सी पुतली को जी भर कर प्यार करने की, किन्तु क्या मैं

कभी प्यार कर पाती हूं। वह प्यार कहाँ.....यदि वह एक आसन पर भी मेरे साथ बैठ जाय तो मेरा शरीर बिजली के करेन्ट द्वारा शून्य किया हुआ सा हो उठता है।

लोग कहते हैं मुझे न जाने क्या हो गया है, मैं पागल हूं और न जाने क्या हूं, पर वास्तव में.....मैं क्या कहूं सचमुच ही मुझे कोई बीमारी हो गई है कोई इलाज करना जानता ही नहीं।..... ..सचमुच ही नहीं। नहीं, नहीं।

"पत्र"

"प्रिय चन्दर,

तुम्हें जलाने की प्रवृति नहीं होती किन्तु फिर भी एक बार इच्छा है कि पूछ देखूं मेरी आदर्श वादी यशोधरा क्या मानव जीवन का कुछ भी परिचय अभी प्राप्त कर पाई है। सचमुच ही चन्दर मैं तुझे प्यार करती थी करती हूं और करती रहूंगी। तेरा भीषण भविष्य भी मुझसे कुछ छिपा हुआ नहीं था किन्तु फिर भी मैं उसे रोक नहीं सकी। एक बार प्रयत्न भी किया तुझे मानव जीवन, मानव हृदय की वास्तविकता से परिचित करने का, किन्तु व्यर्थ.....तुम तो समझ पाई ही नहीं। समझ कर भी शायद विश्वास नहीं किया।

खैर फिर भी मैं तुझे प्यार करती हूं, शायद इसी कारण मैं ससार में सबसे अधिक घृणा भी तुझसे ही करना चाहती हूं.....जाने दो भावुकता में न जाने कहाँ बही जा रही हूं.....प्रतिबन्ध न लगाने पर तो फिर भावों की बाढ़ रोकना ही कठिन हो जायेगा.....तुमने तब तो विश्वास ही नहीं किया, ठीक ही किया। यदि विश्वास कर लेती तो तुम्हारी आज

परीक्षा कैसे हो पाती.....हाँ, तो सुना है तुम्हारे स्वामी फिर विवाह करने की बात सोच रहे हैं। इस बार शायद रुपया और अधिक मिलेगा.....तुम्हारे घर से क्या कोई उत्तर मिल गया ? स्पष्टवादिता को क्षमा करना। पत्र पढ़ कर गालियाँ तो दोगी ही, पर बात तुम्हारे कल्याण की है, अधिक लिखने की इच्छा नहीं होती। मुन्नी को प्यार।"

पत्र पढ़ कर मैं कांप उठी। स्नानागार से निकल कर गीले बाल कमर तक लटकाये मैं अभी दर्पण के सम्मुख खड़ी ही हुई थी। रूप गर्व शायद नारी जीवन का सबसे बड़ा किन्तु सबसे अधिक व्यर्थ गर्व है। इसका मुझे पीछे से अनुभव हुआ। किन्तु उस समय तो ढेर सारे काले बालों के बीच गोरे मुख पर काली-काली आंखें देख कर मैं स्वयं अपने पर मुग्ध हो उठी। स्वामी के पिछले तीन दिनों से दर्शन नहीं हुए थे। वैसे भी कुछ वह मुझसे अनमने ही रहते थे। किन्तु मैं किसी प्रकार भी उनके प्रति मन में अविश्वास को स्थान नहीं दे पाई थी। वह तो काम करते करते अकसर बाहर की बैठक में ही सो भी जाया करते थे। माता जी तो प्रायः घर में रहती ही न थी और होने पर भी मुझसे बातचीत करना ही नहीं चाहती थी। जान पड़ता था समस्त वातावरण ही बदल गया है। इन सबके बीच भी एक व्यक्ति का सहवास और आकर्षण मुझे कुछ सोचने भी नहीं देता था। वह व्यक्ति थी नन्हीं सी कन्या जिसे मैंने जन्म दिया था। हाँ, तो मैं सोच रही थी कि कहीं अचानक ही स्वामी इस समय आकर मेरी इस स्नग्ध स्नात मूर्ति को देख लें तो कोर्ट का काम भी भूल कर यहीं रह जांय। वज्राघात की भांति विजया का पत्र नौकर ने लाकर

दिया। मुन्नी एक शान्त, सुन्दर, नवप्रसूत की भांति पालने में सो रही थी। भोलेपन की मुस्कान उसके मुख पर खेल रही थी। उसकी शाँत मुस्कान से बल पाकर न जाने कितनी बार मैं वह पत्र पढ़ गई किन्तु जान पड़ा कि कुछ समझ में आ नहीं रहा है। सिर में बड़े ज़ोर से चक्कर सा आ गया। इच्छा हुई पालने के पास जाकर अपने एक मात्र दुर्दिन के नन्हें साथी के कोमल होंठ चूम लूं, किन्तु आंखों के सामने अंधेरा आ गया। धम से वहीं पृथ्वी पर बैठ गई। कब तक बैठी रही सो तो याद नहीं किन्तु जब चेतना हुई तो देखा कि मेरी दासी धीरे-धीरे थोड़ा ठण्डा पानी मेरे सिर पर डाल रही थी और मैं पलंग पर पड़ी हुई थी। मेरे आंखें खोलते ही दासी बोली,—"बहू जी, कैसा जी है? क्या हो गया था?" प्रश्न समझ में आ गया किन्तु जान पड़ा कि उत्तर देने की शक्ति ही जिह्वा में नही हैं। अभी तक मस्तिष्क में ब्रह्माण्ड उलट पुलट रहा था। मैं चुप ही रही। केवल मुन्नी के पालने की ओर देख भर लिया। वह उसी प्रकार शांत सो रही थी। दासी को बाहर जाने का संकेत कर मैं लेटे ही लेटे पत्र फिर पढ़ गई। मस्तिष्क की नस जान पड़ता था फट ही जायेगी, तब क्या सचमुच ही। छी: विजया क्या सोचेगी? यह नारी की हार है क्या? नारीत्व का अपमान।

स्वामी ने पिता से कुछ अधिक प्राप्ति की इच्छा अवश्य प्रकट की थी। पिता सम्भवतः दे भी देते, माता जी भी पक्ष में ही थीं किन्तु मैं स्वयं जाकर मना कर आई थी। इससे मेरे नारीत्व का अपमान जो होता था। मेरे स्वामी स्वेच्छा से नहीं वरन् मेरे पिता से भीख में लिये कुछ धन को ग्रहण करें इससे अधिक लज्जा की बात मेरे लिये और क्या होगी। मैंने उस दिन

अत्यन्त निष्कपट भाव से नई मां के चरण छू कर कहा—"सचमुच ही मां धन का लोभ यदि कोई वस्तु हो और उसमें कोई शक्ति होती हो तो तुम्हारे चरण छू कर ही कहती हूं कि शायद गर्भधारिणी मां भी इतने निस्पृह, इतने उदार भाव से मेरे लिये उसका त्याग नहीं कर पाती किन्तु तुम तो मेरी गर्भ-धारिणी जननी से भी बढ़ कर हो। छोटी होकर, बेटी होकर भी आशीर्वाद देती हूं मां तुम्हारा सौभाग्य चिरकालतक बना रहे। किन्तु तुम समझ लोगी पत्नी होकर यह भीख मैं किसी प्रकार भी अपने स्वामी को ग्रहण नहीं करने दूंगी। हमें धन की कमी नहीं है, नई मां।"

नई मां की आंखें भर आईं, "लड़कपन न करो चन्दर। भावनाओं में बहने का नाम बुद्धिमत्ता नहीं। स्वामी का आदर मान यदि धन से ही जीता जा सकता है तो पिता की तिजोरी का धन अपने घर पहुँचने देने में भी क्या हानि है? बड़ी कठिनाई से तो उन्हें राजी कर पाई हूं, वह भी यही कहते हैं। बाप बेटी दोनों जरा भावना से वास्तविकता की ओर भी मुड़ो।"

"छीः, नई मां नारी होकर भी तुम ऐसा कर पाती हो। वह प्रेम जीतना कहाँ? प्रेम खरीदना है। यदि स्वभावतः ही स्वामी का प्रेम मुझे प्राप्त नहीं है तो धन के जोर से मिलने पर मैं स्वयं ही पैरों से अनादर पूर्वक ठेल कर उसे दूर कर दूंगी।"

"सोच लो बच्ची।" मां ने बड़े प्यार से मेरा सिर थप-थपा कर कहा। मेरे हृदय में न जाने कब की दबी हुई ज्वालामुखी भभक उठी। मैं फूट-फूट कर रोने लगी मां की गोद में सिर रख कर। मां गोद में मुन्नी को लिये हुए थी। मुन्नी का

नाम हमने रखा था शैलजा। मेरी नई बहिन का नाम था गिरजा। शैलजा को धीरे से मां ने न जाने कब आया को सौंप दिया। और मेरा सिर पूरी तरह अपनी छाती के निकट रख कर सांत्वना-भाव से थपथपाने लगीं। भली प्रकार रो चुकने पर मैं कुछ स्वस्थ हो उठी। स्वस्थ होकर मैंने कहा,—"नई मां, सब ही तो यही कहते हैं तुम भी और विजया भी। किन्तु मैं तो उन्हें अपना जो अकपट विश्वास सहज ही एक दिन दे चुकी हूं किसी प्रकार भी लौटा न सकूंगी।"

न जाने क्यों सुशिक्षिता श्यामादई माँ के मुंह से रोकते रोकते भी एक लम्बी ठण्डी सांस निकल गई। कुछ देर चुप रह कर उन्होंने कहा—"तुम धन्य हो चन्दर, किन्तु सब कोई क्या वैसा कर पाते हैं। सचमुच ही जान पड़ता है सावित्री सत्यवान को यमराज से छुड़ा कर लाई थी। इतना दृढ़ विश्वास होने पर वैसा करना क्या कठिन है।"

मैं कुछ अधिक ही दुःखी हो उठी किन्तु संकोच और लज्जा ने फिर रोने न दिया। पर नई माँ उसके बाद ही कुछ ऐसी उदास हो उठी कि मैं कारण तक भी समझ न पाई।

आते समय नई मां ने एक बार कहा,—"चन्दर मुझे भी आशीर्वाद देती जाओ कि तुम्हारा जैसा दृढ़ विश्वास लेकर ही उसके सहारे इस लोक और परलोक की यात्रा पूरी कर सकूं।"

माँ के स्वर पर मैं चौंक उठी किन्तु तुरन्त ही संभल कर बोली,—"माँ, तुम पत्नी होने के अतिरिक्त माँ भी हो, तुम्हें विश्वास के सहारे की आवश्यकता ही कहाँ होगी। मातृत्व का गर्व ही इस लोक और परलोक में तुम्हें पुण्य के निकटतम ला खड़ी करेगा।"

"आह, कहीं ऐसा हो सके।" उनका स्वर काँप रहा था। "यही होगा मां, कहीं और किसी दिन भी यह सत्य भूल न जाना कि तुम पत्नी पीछे बनी हो और माँ पहले। मातृत्व की आन ही तुम्हारा सच्चा गर्व है।" मैंने भीगे स्वर में कहा।

"यत्न करूंगी।" स्वर निर्जीव सा था।

"माँ जानती हूं यह दाम्पत्य जीवन तुम्हें न आनन्द ही देसका है और न जीवन ही। इस आयु में आकर पिता में न रसिकता ही रही है और न इच्छा ही किन्तु माँ तुमने तो भारी बलिदान किया है। भारत की स्त्रियाँ तो सदा से ही बलिदान करती आई हैं। तुमने भी जब एक बार इच्छा या अनिच्छा से पत्नीत्व का बलिदान मातृत्व के लिये कर दिया है तो उसे किसी भी कारण से लौटने का नाम न लेना।"

माँ का स्वर गीला था। उन्होंने धीरे धीरे कहा—"ठीक कहती हो चन्दर, किन्तु मानव मन मातृत्व के महत्व को देख पाता नहीं। उसे तो लालसा की अग्नि में तिल तिल करके जलना ही पड़ेगा।"

"और उसी में तो उसका महत्व है, जलकर ही तो वह उज्जवल हो उठेगा।"

"किन्तु तुम्हारे समान ही तो सब उस सत्य को ग्रहण कर पाते नहीं।"

"नहीं माँ, सो बात नहीं है, वरन् सत्य ग्रहण करने की वस्तु तो है ही नहीं, सत्य तो केवल असत्य को दूर करते ही स्वयंमेव अपना आसन ग्रहण कर लेता है, यही तो उसका महत्व

है। इसी महत्व के ऊपर तो उसे जीवित रहना होता है।" स्वर मेरा भी गीला था।

दुःख से भरे हुए कण्ठ से मैंने न जाने क्यों नई माँ के चरण छू लिये।

"हां, हां यह क्या करती हो? पागल हुई हो क्या? लड़कियाँ भी कहीं चरण छूती हैं?" नई मां ने कहा।

"जलते रह कर भी जो जलने को प्यार किये ही जाता है मां उसके चरण छूने का लोभ हो ही आता है। तुम्हारी बेटी कहीं और कभी भी किसी भी हालत में क्यों न हो यावज्जीवन वह तुम्हारा अन्तर्दाह और त्याग यह दो महत्व कभी न भूल सकेगी। किन्तु मां तुम्हारे ही चरणों की शपथ खाकर कहती हूं कि यदि तुमने अपनी अभागी सन्तान के लिये उसके स्वामी का स्नेह किसी भी मूल्य पर खरीद लिया तो तुम्हारी लड़की तुम्हें फिर जीवन भर मुख न दिखा सकेगी।" मेरा स्वर बड़ा ही करुण था।

"छीः छीः कहती क्या है?" मेरी आधुनिक युग की पढ़ी लिखी सौतेली मां के मुख पर मानों अचानक स्याही सी पुत गई। जान पड़ता था हृदय का सारा रक्त जम कर मुंह पर ही आ गया है। मां की दोनों आंखें भरी हुई थीं। मैंने कार में पैर रख दिया था।

मां ने कहा—"चन्दर पत्र जाते ही लिखना।" बात बहुत ही साधारण है सब ही तो कहते हैं किन्तु न जाने क्यों मैं उत्तर न दे सकी। कार चल पड़ी, मेरी आंखों से आंसू बह निकले।

विजया के पत्र ने स्मृति हरी कर दी। तकिये पर सिर रखे थकी हुई सी मैं स्मृतियों में उलझती रही। उनमें मुझे कुछ भी आनन्द नहीं आ रहा था। वरन् कष्ट से सिर फटा जाता था किन्तु फिर भी सोये बिना रह जो नहीं सकती थी। तब क्या मेरे स्वामी का एक पत्नीव्रत केवल.....नहीं नहीं वह स्वामी हैं।.....

सीता, देवी सीता मेरा आदर्श है। किसी दिन भी वह राम पर अविश्वास न कर सकीं। बनवास में भी नहीं, रावण के घर रह कर भी नहीं, किसी दिन भी नहीं, यही तो उनका महत्व था। स्वामी पर अविश्वास करके दुःख पाने से उस विश्वास करके धोखा खाना कहीं श्रेयकर है।

विचार धारा मुड़ी, यह विजया कौन है? यह मेरी सखी मात्र तो है। तब फिर यह इतना ध्यान मेरी और मेरे स्वामी की ओर क्यों देती है। क्या केवल मात्र कौतूहल से, अथवा मेरे प्रेम से ही, अथवा .....इस अथवा के बाद कोई बात सोचने की मुझे मिली ही नहीं। इसी अथवा पर मानों कल्पना का अन्त हो गया। हाथ पैर सनसना रहे थे। जान पड़ता था प्राण खिंच रहे हैं किन्तु हिल सकने की भी सामर्थ न थी। बिना हिले हुये ही मैं मानों अपने व्यक्तित्व से ऊपर उड़ जाने का व्यर्थ प्रयास करने लगी।

जान पड़ता है मैं विजया का पत्र हाथ में लिये हुये ही अचेत हो गई। रात भर क्या हुआ सो तो मालूम नहीं किन्तु प्रातः आंखें खोलने पर .....आह मेरे स्वामी मेरे सिरहाने बैठे मेरे बिखरे हुये बालों पर धीरे-धीरे हाथ फेर रहे थे। आनन्द से मेरा हृदय भर उठा। मैं भूल गई, सबकुछ भूल गई। नारी

हृदय है ही ऐसा सरल, ऐसा भोला। मैं बिज्जी, बिज्जी के पत्र, यहाँ तक कि सृष्टि की समस्त वेदना को भूल कर मस्तिष्क पर एक आनन्द स्पर्श का आनन्द लेकर ही विभोर हो उठी। मैंने आखें बन्द कर लीं। यदि स्वप्न ही है तो क्यों न अनन्त काल तक यह स्वप्न देखती जाऊँ। शायद स्वामी ने मेरा आंखें खोलना और फिर बन्द करना देख लिया था।

"चन्नू नींद आ रही है क्या और भी ?" आह, कितने प्यार से मुझे सम्बोधित किया था। कितना सजीव, कितना आनन्दमय था वह सम्बोधन। कुछ देर तक उसी में विभोर रह कर मैंने कहा।

"तुम कब आये ?"

"क्यों मैं तो रात भर तुम्हारे ही पास बैठा था ?"

"आह क्या मैं सोती ही रही ?" मैंने पड़े पड़े ही कहा। जान पड़ता था अंग अंग दर्द से फट जायेगा किन्तु मुझे अपनी चिन्ता ही क्या थी ? मेरे स्वामी जो आज मेरे पास थे।

"तुम तो बेहोश थीं ?" उन्होंने कहा।

"ओह, अच्छा अब तो मैं ठीक हूं, तुम थोड़ा सो लो।" कह कर मैंने उठने का प्रयत्न किया। शरीर में शक्ति न होने पर भी मैं उठ ही बैठी।

"मैं तो बड़ा घबरा गया था।" उन्होंने कहा।

"भला इतना घबराने की क्या आवश्यकता थी।" मैंने कुछ हँस कर कहा।

दूसरे दिन.....स्नान करके मन स्वस्थ हुआ। स्वामी अभी कमरे में सो ही रहे थे। मुन्नी को नौकर सैर कराने ले

गया था; तौलिये से बाल पोंछते हुए मुझे विजया के पत्र की याद आई। पत्र न जाने कहाँ चला गया। एक बार मेरा दिल धड़क उठा। मुट्ठी में लिये हुए ही तो थी शायद स्वामी ने निकाल लिया हो और यदि उन्होंने पढ़ा हो। मेरा दिल काँप उठा। छीः, वह क्या सोचेंगे। किन्तु नहीं, जो कुछ भी मैं जानती हूं वह सभी उनके लिये श्रेय है। मुझमें और उनमें भेद ही क्या है? जब भेद का कोई स्थान है ही नहीं तो भला यह पत्र भी क्यों छिपाऊँ। वह और मैं क्या भिन्न वस्तुएं हैं? एक बार मेरा हृदय फिर आनन्द से भर उठा, पर न जाने क्यों मैं उतनी स्वतन्त्रता से कमरे में फिर आ न सकी। न जाने कहाँ की कोई लज्जा आकर मेरा पैर पकड़ने लगी। उस पत्र को पाने की मेरी इच्छा नहीं थी किन्तु जो अमिट छाप जाने या अनजाने वह मेरे मन पर लगा गया था उसे इस जीवन में मिटा सकूँगी, इसमें कुछ सन्देह ही रहा।

"सत्य"

सत्य की सृष्टि कब, किस युग में, किसने और क्यों की थी सो तो मैं नहीं जानती किन्तु कभी कभी छाती के भीतर एक तूफान सा उठता है। जान पड़ता है सत्य के नाम पर किया जाने वाला बलिदान बहुत ही निष्ठुर, बहुत ही करुण और बहुत ही कठोर होता है। किन्तु सत्य की निष्ठुरता, उसकी करुणता और उसकी कठोरता से भी कहीं अधिक भयंकर होता है उसे असत्य के नीचे श्रद्धा अथवा विश्वास के आवरण से ढक कर रखना, एक बारगी दबा डालना। यही सम्भवतः मेरे साथ भी हुआ। स्वामी का सहज स्नेह खोकर, उसके खोने योग्य प्रमाण पा जाने

पर भी मैंने उस पर विश्वास करना चाहा ही नहीं। एलिस की कथा, बिज्जी का पत्र और संसार की कई अन्य शक्तियाँ भी मुझे उनके विश्वासघात का विश्वास न दिला सकीं। सम्पूर्ण रूप से पहचानती हुई भी मैं सदा ही आदर्श के नाम पर जाने-सुने हुए सत्य का गला घोंटती रही। जान बूझ कर भी मैंने सत्य को घेर घोट कर क्यों दबा डालना चाहा सो तो नहीं जानती, किन्तु इससे मेरे जीवन में एक विचित्र शृंखला हीनता सी जो उत्पन्न हो गई उसे मैं यत्न करके भी संभाल नहीं पाई। मेरे समस्त कष्ट के बीच जो देवी स्वरूपिणी मेरी गोद की शोभा आन पड़ी थी, वही मेरे इस लोक के समस्त चिन्तापूर्ण मानसिक कष्टों का कारण थी। जन्म से ही जिस अभागी सन्तान विशेषतया बच्ची के सिर पर पिता का आशीर्वाद न बरसा हो, कभी किसी एक दिन भी जिसने पिता के स्नेह का वरद हस्त न पहचाना हो, उसकी माता की छाती के भीतर का समस्त रक्त यदि जम कर बर्फ न हो जाय तो सचमुच ही आश्चर्य का विषय है और विशेषतया तब जब उसके पिता का अस्तित्व भी जगत में ही हो। जिस कन्या की गर्भिणी माता केवल धन के ही प्रश्न पर उसके पिता का समस्त आदर स्नेह खो चुकी हो, उस नवजात कन्या के भविष्य की चिन्ता से यदि मां का कण्ठ सूख कर काठ न हो जाय, तब ही भगवान की सृष्टि में विचित्रता का भास होगा। मैं नारी हूं, क्या इसीलिये मुझे सब कुछ आंखें मूंद कर चुपचाप अपनी छाती के भीतर ही भीतर रख कर सहना होगा? यही क्या नारी के त्यागमयी होने का सम्पूर्ण दण्ड है? नहीं, नहीं मैं यह दण्ड सहर्ष ग्रहण न कर सकूंगी। किन्तु ओह, न करने पर भी मेरी इस नन्हीं प्रतिमूर्ति, मेरे स्वामी की प्रतिनिधि,

का क्या होगा ? नहीं, नहीं मुझे इसे सहन करना ही होगा और वह भी हंस कर, प्रसन्न मुख से। मुझे देखे, जाने सुने हुए सत्य को एक दम दबा कर हृदय के भीतर छिपा कर ही रखना होगा। अन्यथा नारी होने का दण्ड पूरा होगा ही कहाँ ? बड़े जोर से मैंने मुन्नी को अपनी पूरी शक्ति के साथ छाती से चिपटा लिया। मुन्नी बड़े जोर से चीख उठी। मुन्नी की चीख का शब्द मानों मेरे कानों में पड़ा ही नहीं। मेरे मस्तिष्क के समस्त तार और भी ज़ोर से झंकृत हो उठे। हृदय के भीतर से मुझे कोई वस्तु बड़े जोर से टकरा कर निकलती हुई सी जान पड़ी। खाली स्थान को भरना ही होगा। मैं मुन्नी को और भी शक्ति से छाती पर दबाने लगी, रिक्त स्थान जो भरना था। बेचारी मेरी मुन्नी .....वह मां का विचित्र व्यवहार पाकर खूब ज़ोर से चीख उठी। एक साथ ही कमरे में माता जी, नौकरानी, नौकर और स्वयं मेरे स्वामी भी आ उपस्थित हुए, शायद ऊपर ही आ रहे हों। उन सबको देख कर भी मुझमें मानों वाह्य ज्ञान का अभाव ही अभाव भरा था।

मैं किसी को भी ठीक ठीक शायद पहचानती ही न थी। माता जी ने बच्ची को मेरे हाथ से छीनना चाहा, शायद मैं मुन्नी को छोड़ ही नहीं रही थी, कसकर पकड़े थी।

माता जी चिल्ला उठी—"हाय राम बहू को क्या हो गया ? हाय, देखो वह तो छोड़ती ही नहीं।"

मुझमें वाक् शक्ति का सर्वथा अभाव था। इच्छा करने पर भी मैं बोल ही न सकी केवल एक टक आँखें फाड़ फाड़कर मुन्नी को ही देख रही थी।

स्वामी ने आगे बढ़कर मुन्नी को लेना चाहा, शायद मुन्नी को छूने का उनका यह पहला ही प्रयत्न था। मेरे हाथ शायद ढीले होते ही नहीं थे। वातावरण भी कुछ घूमता हुआ सा प्रतीत होता था। मैंने कुछेक वाक्य और सुने।

उन्होंने कहा – "मां यह तो जान पड़ता है पागल हो गई है। देखो लड़की को तो छीनो, यह दम ही घोट देगी।"

"हाय राम, इसे हो क्या गया है? कई दिन से अपने कमरे से बाहर ही नहीं निकलती थी, मुझे क्या पता था। अरी ओ जनकिया! देख तो सही। यह तो बोलती भी नहीं है। तनिक इधर आना।" बड़ी घबराई हुई सी शायद माता जी की आवाज थी।

मैं पलंग पर लेटी थी। मुन्नी मेरी छाती पर पड़ी थी और मेरे दोनों हाथ मुन्नी रानी के पीठ पर थे। इस बार फिर एक बार जनकिया और मेरे स्वामी ने मेरे हाथों को हटा कर मुन्नी को छुड़ाने का यत्न किया। मुझे पूरी तरह याद है मेरी तनिक भी इच्छा मुन्नी को दबाए रखने की न थी। नहीं, मैं गुमसुम रहना चाहती थी, पर शरीर से जान पड़ता था मानो समस्त अवयव वश से बाहर हो गये। किसी भी अंग पर मेरा तनिक भी वश न था। वे स्वयं ही सब कुछ कर रहे थे। यहां तक कि वाणी पर भी मेरा वश न था। थोड़ी ही देर बाद मुझे शायद गहरी नींद आ गई। मैं नहीं जानती फिर क्या हुआ? किन्तु मेरा मस्तिष्क उस दिन से आजतक वीणा सरीखा बजता प्रतीत होता है। सिर के भीतरी भाग में जान पड़ता है कोई तानपूरे के तार छेड़ रहा है। ऐसी...ऐसी....ऐसी सी

ही कुछ बात है। मैं लिखती तो हूं किन्तु बोल अब भी नहीं पाती हूँ . क्यों ? क्यों ?? इच्छा भी जाने होता है कि नहीं, पर बोल नहीं पाती हूं ।

" फिर "

हृदय के जिन भावों को सरलतापूर्वक प्रकट भी नहीं किया जा सकता और दबाया भी नहीं जा सकता, उन्हीं को शायद मनुष्य सबसे अधिक प्यार करता है। जीवन में अनेकों क्षण ऐसे आते हैं जब कि हृदय का स्पन्दन इतना अधिक हो उठता है कि स्वयं मानव ही अपना स्पन्दन सुनकर डरने लगता है, किन्तु फिर भी कितना दृढ़ है मनुष्य, सह ही जाता है उसे भी शान्तिपूर्वक। किन्तु क्या वह सहना सहना है ? वह तो केवल मात्र तड़फना है। वह तड़फन जिसे संसार की भाषा में शायद संयम कहते हैं। कितने ही तीन सौ पैंसठ दिन के समूह निकल गये हैं, धीरे-धीरे अनजाने, अज्ञात रूप से ही। मेरे जीवन में भी अनेक परिवर्तन आ गये। आज से यदि कई वर्ष पूर्व किसी ने कहा होता कि नारी हद से भी अधिक सहनशील होती है तो शायद मैं हंस पड़ती, यदि भूल से ही किसी ने कहा होता कि नारी स्वयं कोमल हृदया होती हुई भी अपने हाथ से अपने हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर डालती है किन्तु तो भी वह इतना कठोर होता है कि फट नहीं जाता, तो मैं केवल अविश्वास से मुस्करा देती, किन्तु आज न जाने क्यों यह सारी ही बातें अपने ऊपर ही घटती देखकर विश्वास करने की प्रवृत्ति होती है। बर्षों के घने आवरण ने मेरे मन को बहुत कुछ धब्बों और छींटों से भर दिया। जीवन में अब तक दो महान् घटनाएं और हुईं, एक तो यह कि नई मां ने एक सुन्दर मक्खन

सी कोमल बालिका को जन्म दिया। सचमुच ही मैंने पहले-पहल उस नन्ही सी बच्ची को देखा तो जान पड़ा कि वह अपनी नन्ही पलकें हिला हिलाकर मुझे ही बुला रही है। नई मां की श्यामल कान्ति कुछ और भी उज्ज्वल हो उठी थी, शायद मातृत्व गर्व से। मेरी मुखाकृति अपने पिता पर पड़ी थी। मुन्नी की मुखछवि भी बहुत कुछ पिता पर ही थी, कुछ व्यंग से मां ने कहा—"यह भी तो अपनी बहिन पर ही गई है। लो, अब तुम दोनों मिलकर कहीं अपनी काली मां को घर से ही न भगा देना। हां, भई! तुम्हारे परिवार में एक मैं ही तो कुरूप हूं।"

"यह रूप का विचार कब से हुआ माँ? मुन्नी के जन्म से पूर्व या बाद में?" मैं कुछ मुस्कराई। मां झेंप गई। किन्तु कुछ ठहरकर बोलीं—"रूप तो लड़की तुम्हारे जैसा ही लेकर आई है। अब भाग्य भी तुम्हारे जैसा ही हो तब बात है।"

"मां, मुन्नी का भाग्य बड़ा ही उज्ज्वल है, उसका माथा तो देखो कितना चौड़ा है।"

"अरी जब से हुई है, हंसती ही रहती है। सच चन्दर मैं इसे देख-देखकर तुझे बहुत याद किया करती थी।"

"हां, भला यूं क्यों याद करती, भला हो मुन्नी का कि देखकर याद तो कर लेती हो।" कह कर मैंने मुन्नी को गोद में उठा लिया। वह थी ही ऐसी जिसे देखकर प्यार किये बिना रहा ही नहीं जा सकता था। मेरी गोद में आते ही मुस्करा गई। मैंने कहा— "माँ इसे तो मैं ले जाऊंगी। रम्मी तो इतना बच्चों का शौकीन है कि आसपास के सारे बच्चे उसके मित्र बन गये हैं। अपनी मुन्नी को देखे तो बड़ा ही प्रसन्न हो।"

"घबराती क्यों हो रानी, मुन्नी जैसी नई हो जायेगी घर में।" "छेड़ती हो मां?" कह कर वास्तव में ही मैं अपने हृदय में होने वाली गुदगुदी का अन्दाज लगाने लगी। भावी सन्तान के प्रति मेरे मन में वात्सल्य सा बह चला था। किन्तु आज कितनी दुःखी होती हूं यह सोच कर कि यह सन्तान ही मेरी इस लोक की सारी चिन्ताओं का आज केन्द्र बन गई है। मेरे गर्भ की सन्तान, मेरे स्वामी की प्रतिमूर्ति, मेरे देवता की साक्षात प्रतिमा मुन्नी के जन्म के कोई छः मास पश्चात् मैंने भी जन्म दिया एक नन्हीं सी पुतली को, सुन्दर सी गोल गोल। न जाने क्यों इधर उधर के सब ही व्यक्तियों का व्यवहार मेरे प्रति रूखा होता जा रहा था। स्वामी की तो बात ही क्या, माता जी भी कुछ अप्रसन्न सी ही दीख पड़ती हैं। बात बात पर पिता के विवाह कार्य पर अलोचना की जाती थी और साधारणतया तानों की तो कोई कमी ही न थी। कुछ दिन तक मैं समझ ही नहीं पाई कि हो क्या रहा था। किन्तु इधर कुछ दिनों से साफ जान पड़ता है कि मेरे पूजनीय श्वशुर, घर के सब ही व्यक्ति पिता के धन का कुछ अंश हमारे घर लाने को आतुर हो रहे हैं। बात यहाँ तक बढ़ गई है कि कुछ भद्र व्यक्तियों द्वारा यह बातें पिता के कानों तक भी पहुँचने लगी हैं। बारूम में भी सुना जाता है चर्चा गर्म है। इधर कई दिनों से तो स्वामी भी मुझसे कुछ कम ही बोलते हैं।

मुन्नी के जन्म पर कुछ प्रसन्नता उनके मुख पर दिखाई दी थी। उसके पश्चात् जब हमारी पुरानी दाई कपड़े, रुपये, मिठाई आदि लेकर पहुँची तो माता जी सब कुछ देख कर बोलीं,— "भेजा तो खूब है।" और उठ कर चल दीं। पिता जी भी कहते

सुने गये—"अभी तो नई शादी है, अभी से इतना लोभ ?" स्वामी ने तो जान पड़ता है कुछ देखने का कष्ट किये बिना ही कह दिया—"दाई माँ, मां से कह देना इतना कष्ट फिजूल ही किया। यहाँ क्या चीजों की कमी है ?" दाई मां सब कुछ समझ बूझ कर भी अनजान बन कर कहने लगी—"भईया राजाओं के घर किस बात की कमी हो सकती है पर बिटिया तो बिटिया ही रहेगी, चाहे राजा के घर जाय अथवा महाराजा के।"

स्वामी बिना उत्तर दिये ही चल दिये बाहर की ओर।

दाई मां ने पीछे से मुझसे कहा—"बिटिया यह इन लोगों का क्या ढंग है ? भला इतना तो दिया और क्या अपना घर उठा कर दे दें। सुना है सुधीर भईया कहते हैं कि दो कोठियाँ उन्हें और दे दी जायें। बहू मां तो कहती थी कि दे दो पर बाबू नहीं मानते, कहते हैं दो हो जाने पर फिर चार मांगने लगेंगे। इस तरह तो फिजूल ही बिटिया का जीवन सांसत में पड़ जायेगा।"

"कहाँ, मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम था।" मेरी मन ही मन सांस घुटने लगी। मैंने बात बदल कर कहा—"दाई मां मुझे तो यह लोग प्राणों से भी बढ़ कर रखते हैं।"

दाई मां ने चिढ़ कर कहा—"दो दिन से सो ही तो देख रही हूं बिटिया, बुढ़ापे में भगवान ने दृष्टि तो हर ली, पर बुद्धि अब भी है।"

फिर मैंने और कुछ न कहा। दाई मां सन्ध्या को ही चल दी। जाते समय दाई मां ने कहा—"बिटिया सौतेली मां बहुत देखीं पर तुम्हारी मां जैसी ममता किसी में नहीं देखी।" उसने

कुछ ठहर कर फिर कहा—"बाबू जी से रोज झगड़ा होता है कि बिटिया दुःख पायेगी, दो कोठी दे दो। पर बाबू न जाने क्या क्या कह देते हैं पर मानते ही नहीं। बेचारी बहू जो यहाँ की बातें सुन सुन कर रोती रहती हैं।"

इच्छा हुई कि चिल्ला कर दाई से कह दूं "मां को यहाँ की बातों की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। जितने मेरे अपने यह लोग हैं उतने संसार भर में और कोई भी नहीं हैं। इनकी कोई भी प्रवृत्ति मेरे दुःख का कारण नहीं हो सकती और चिन्ता की भी नहीं। इनके चरणों में ही पड़ कर मेरी गति है, इन पर अविश्वास करके नहीं।"

प्रकट मैंने कहा—"दाई माँ माँ, से कहना इस जन्म में तुम्हारे गर्भ से जन्म न पाकर भी सहज ही जो तुम्हारी बेटी बन पाई हूं वह शायद मेरे पिछले जन्म के संस्कारों का ही फल है। पिछले जन्म में तुम और मैं दोनों ही एक ही माँ के गर्भ से जन्मे थे। तुम बड़ी थीं और मैं छोटी। मेरे हरेक उपद्रव और अन्याय को तुम अपने नयनों में जल भरकर पी जाया करतीं थीं और फिर भी मुस्करा कर मेरे नन्हे मुख को अपने मुख पर रख कर चूम लिया करती थी। इस जन्म में जो मैं फिर सहज ही तुम्हें माँ रूप में पा सकी हूं, सो तुम्हारा प्रेम अनेकानेक अपराध करते हुए भी रत्ती भर घट न सके सो प्रयत्न करना। मेरे लिये तुम इस जन्म में भी कष्ट सहोगी ही सो तो निश्चित ही है, किन्तु मेरे सिर की ही शपथ है तुम्हें जो कभी किसी दिन भी मेरे देवतुल्य स्वामी परिवार को अविश्वास की दृष्टि से देखो।" न जाने क्यों अन्तिम वाक्य ने दाई माँ को चिढ़ा दिया, आंसू

की दो बूंदें तो पहले ही टपक चुकी थीं। इस बार दाई माँ बोली—"बुढ़ापे में इतनी बातें याद न रख सकूंगी बिटिया, जो जी हो खुद ही लिखकर भेज देना, अब चलती हूं।"

"अच्छा दाई माँ, माँ के चरण छूना और पपा को प्रणाम।" कह कर मैंने दाई माँ की छाती में मुँह छिपा लिया। माँ की मृत्यु के बाद कितनी बरसाती रातों में, दाई माँ की छाती ही मेरी एकमात्र आश्रयस्थल रही है। आज उसी आश्रयस्थल को पाकर मेरी आंखें भर आईं। दाई माँ भी आंखें पोंछती हुई विदा हुई। कमरे से लौट कर मैंने नर्स की गोदी से मुन्नी को लेकर छाती से लगा लिया।

मन ही मन में कह उठी— भगवान यह नन्ही नारी संसार में भेजी है तो इसे अत्यधिक मानसिक सहन-शक्ति भी देना, अन्यथा नारी जीवन का लाभ ही क्या? रोकते रोकते भी कई बड़ी बड़ी आंसू की बूंदें मेरी आँखों से टपक पड़ीं। सहृदया नर्स मेरी ओर देखकर आश्चर्य चकित रह गई। आज तक उसने मुझसे कोई बात नहीं की थी। सदा ही मुझे मालकिन की भांति ही समझती रही थी, शायद सोचती हो कितनी सुखी है यह स्त्री। नर्स की बड़ी बड़ी आँखों में कुछ ऐसा करुण भाव भर आया था कि मैं अचानक ही उसकी ओर खिंच गई। मुन्नी को उसकी गोद में देकर मैं आराम कुर्सी पर जा बैठी। नर्स मुन्नी को पालने में डाल कर पास ही बैठ गई। मुन्नी शान्तरूप से लेटी थी। मैं प्रायः इस समय कमरे में नहीं बैठा करती थी पर दाई माँ को विदा करके आने पर मेरी इच्छा उठकर बाहर जाने की हुई ही नहीं, नर्स की ओर देखा सरलता के साथ ही

उसकी आँखों में आंसू भी थे। मैंने हल्के से स्वर से पूछा—"एलिस चाय तो पी ली थी ना ?"

"हाँ मैडम" उन्होंने कहा, पर स्वर विचलित था।

"मुन्नी को अनानास का जूस दिया था ?"

"जी हां, दो बार दिया था।"

"अच्छा।" कहने को और कुछ शेष न था पर कुछ बात करने की इच्छा हो रही थी।

'एलिस तुम कितने दिनों से नर्स का काम कर रही हो ?" प्रश्न अभद्र था किन्तु स्वर में किंचित् मात्र भी अवज्ञा न थी वरन् प्रेम था। "दो वर्ष हो गये। पहले एक वर्ष डाक्टर के पास काम करती थी। पिछले छः मास एक नर्सिंग होम में काम किया और अब दो मास से तो आपके पास ही हूं।" उसने धीरे धीरे किन्तु स्पष्ट स्वर में कहा।

इच्छा हो रही थी एलिस के जीवन का रहस्य जानने की। न जाने क्यों वह आज मुझे बहुत ही रहस्यमयी जान पड़ रही थी, किन्तु कुछ और पूछने का साहस न हुआ। जाने कैसे नर्स मेरे मन का भाव समझ गई। कोई दस मिनट तक एकदम चुप रहने के पश्चात एलिस अपने आप बोल उठी। मैं उस समय बेबी के पालने की ओर पीठ किए हुए कपड़ों की आलमारी के पास खड़ी थी। शायद शाम के लिए बदलने को कपड़े निकालने का विचार हो।

नर्स के शब्दों ने मुझे चौंका दिया। वह कह रही थी—"बहिन जी, क्षमा करें, आपको बहिन कह रही हूं। मेरे जीवन में

तो ऐसा कुछ भी रत्ती भर भी नहीं है जिससे आपको कुछ भी आनन्द मिले। कलुष की जो कुछ छाया है भी, वह आपका मन और भी खराब कर देगी।" लगता था स्वर रो रहा है।

"तभी तो उसे और भी जानना चाहती हूं। एलिस बहिन! एक दिन जीवन में समस्त पाप से हृदय भर घृणा करनी चाही थी। एक थीं हमारी एथिकस मौरैल्टी की अध्यापिका। उसका जीवन था संयमित और आदर्श। उसके जीवन के उदाहरण से ही मैंने पाप से, कलुष से घृणा करनी सीखा था, जीवन के प्रभात में ही। किन्तु आज जीवन से कुछ परिचित हो जाने के पश्चात जीवन के मध्याह्न में खड़े होकर एक नन्हे खिलौने को गोद में लेकर, माँ रूप में यह कह पाई हूं कि संसार भर में घृणा करने योग्य कुछ भी है ही नहीं। तुम निःसंकोच कहो जो कुछ कहना चाहो।" मैं कोई चार मास के बाद इकट्ठा इतनी बोली थी।

उसने धीरे धीरे कहा —"पिछले दो मास में आपका चरित्र भला प्रकार जान पाई हूं। यह भी जानती हूं आपके सम्मुख अपना हृदय, कलुषित हृदय खोलकर रखने पर आपके सतीत्व के प्रभाव से मैं भी पवित्र हो उठूंगी। कितने ही दिनों से सोचती हूं कह डालूं पर साहस नहीं होता।" नर्स की आँखें नीची थीं। मैं केवल यही जान पाई कि कोई जान या अनजान में किया हुआ पाप, इसका हृदय समस्त रूप से मथे डाल रहा है। सहानुभूति मेरे हृदय में उमड़ उठी उस नन्हीं बालिका के प्रति, कितनी सरल है वह। आयु भी अठारह-उन्नीस वर्ष की होगी, भोली और सुन्दर कमल फूल सी।

उसके गहरे काले नयनों से जान पड़ता था रह रह कर कोई भाव आता है और फिर चला जाता है। न जाने क्यों मेरी इच्छा हुई कि कह दूं, —"रानी तुमने जो कुछ भी पाप किया है तुम्हारी भोली मूर्ति क्षम्य है, सदा सर्वदा।" क्रिश्चियन रमणी के सलोने श्यामल मुख पर वह दो आंखें बहुत ही सुन्दर लगती थीं।

नर्स धीरे धीरे रुक रुक कर कहने लगी, उसका एक एक शब्द मेरी छाती का समस्त रक्त जमा डालने को पर्याप्त था, फिर भी रक्त जमा नहीं, उसी प्रकार रक्त प्रवाह होता गया, होता ही गया।

उसने कहा—"आपको बहिन कहने का मेरा अधिकार ही कहाँ है किन्तु फिर भी जब बहिन कह चुकी हूं तब आपके चरणों में पाप निवेदन किये बिना रहा नहीं जाता। यद्यपि मेरी बात से आपको दुःख तो होगा किन्तु छिपाने से मुझे शान्ति नहीं मिलेगी, कभी भी नहीं।" मैं अभी तक स्तब्ध सी खड़ी थी। अब आराम कुर्सी पर बैठ गई।

"मैंने आपके प्रति विश्वासघात किया है। सुधीर बाबू को क्या दोष दूं? अपराध भाग्य का है।" एकाएक नर्स एलिस फूट फूट कर रोने लगी। मैं नहीं जानती मेरे हृदय में क्या भाव थे किन्तु करुणा तो वह नहीं थी यह मैं निश्चय पूर्वक जानती हूं। भावावेश में सहमी सी मैं कुछ क्षण गुम सुम बैठी रही। फिर चेतना में आकर क्या कहा सो तो याद नहीं किन्तु शायद उसका सार था,—"बहिन तुम सुखी रहो। मेरे स्वामी भी सुखी रहें किन्तु जो विष बीज तुम जान बूझ कर आज मेरे मन में बो गई हो उसका प्रतिकार विश्व भर में कोई कर सकेगा नहीं।"

एलिस कुछ बोली नहीं। मेरा हृदय भी जल रहा था, मैं बच्ची के कमरे से उठ कर अपने कमरे में आ गई। स्वामी के आने में अभी बहुत विलम्ब था। कमरा बन्द कर मैं पलङ्ग पर पड़ी रही। आंसू कब तक गिर गिर कर मेरे तकिये को भिगोते रहे मालूम नहीं, किन्तु रात्रि के नौ बजे के लगभग भी जब सारा घर खाने पीने में लगा था किसी ने मेरी ओर ध्यान देने की चिन्ता भी न की। यह मेरे विवाहित जीवन में पहला ही दिन था जब मैं अकेली भूखी प्यासी अपने कमरे में पड़ी थी। इच्छा होती थी कि उस मुंह जली एलिस से कहूं कि ऐसा तू कौन सी सुन्दर है जो मेरे देवता सरीखे स्वामी तुझ पर रीझ जाते। एलिस का भोला सुन्दर मुख, उसकी सुन्दर भोली आंखें बार-बार मुझे यही विश्वास दिलाना चाहती थीं कि वह निर्दोष है किन्तु स्वामी तो मेरे दोषा हो सकते ही नहीं। कौन ऐसी अभागी नारी होगी जो अपने स्वामी पर अविश्वास करे। स्वभावत: कभी एलिस पर क्रोध आता तो कभी अपने विचारों पर झुंझलाहट। सब कुछ होते हुए भी कभी-कभी मेरी दृष्टि में स्वामी का गोद में बच्ची को लिये हुए एलिस के मुख की ओर एक टक देखना याद आने लगा। एलिस की आंखों में भी कुछ ऐसा जादू था कि कोई भी व्यक्ति एक बार देख कर सदा उधर ही देखना चाहता था। एक दिन उन्होंने बड़े चाव से पिकनिक पर जाते हुए कहा था,—"चन्दर एलिस नर्स को भी ले चलो, यह भी घूम आये, बच्ची न हो दो चार घन्टे माता जी के ही पास रह जायेगी।"

वहाँ भी फिर अधिकतर एलिस से ही बातचीत करते रहे। भूत की सारी जानी अनजानी पीड़ा आज मेरी छाती में

जल उठी। आंसू चुक गये थे और रोने की इच्छा भी न थी। किन्तु मन बड़ा ही अशांत हो रहा था। बच्ची के पास भी जाना नहीं चाहती थी क्योंकि वहाँ एलिस होगी। एलिस के शब्दों पर अविश्वास करने का कोई कारण न था किन्तु विश्वास भी नहीं हो रहा था।

विजया के एक बार कालेज जीवन में कहे हुए शब्द वर्षों बाद आज छाती में शूल सम चुभ उठे,—"मनुष्य को मनुष्य समझना ही उचित है। देवता समझ कर केवल निराशा ही हाथ लगेगी।" सचमुच ही क्या मेरे स्वामी मनुष्य हैं केवल मनुष्य, और कुछ भी नहीं। नहीं, नहीं वह इससे कुछ अधिक हैं, वह देवता हैं, सत्य ही मैंने उनकी सेवा में कोई त्रुटि की होगी। मेरी उन्नत बुद्धि भले ही यह समझाने का यत्न करती हो कि स्वामी पर अविश्वास करके दुःख पा लेना कहीं अच्छा है, किन्तु चंचल मन एक मात्र विद्रोही हो रहा था। मेरे एकान्त आत्मसमर्पण का क्या यही मूल्य है? मैंने उनसे भला कब और क्या बचा कर रखा है? सब कुछ तो उन्हीं के चरणों में समर्पित कर आज स्वयं भिखारिनी हो उठी हूं तब क्या आज मुझे भी इस द्वार पर से धक्का मिल जायेगा। नहीं, नहीं एलिस झूठी है, मैं अपने आप ही चिल्ला पड़ी। दीवारों ने सहानुभूति के स्वर में उत्तर दिया—"एलिस झूठी है।" कमरे में लगे बड़े बड़े दर्पणों ने उत्तर दिया "एलिस झूठी है।" मैंने बड़ी आशा से कमरे में ठीक मेरे पलंग के सम्मुख लगी हुई स्वामी की फोटो पर दृष्टि डाली, किन्तु यह क्या? जान पड़ा सदा की मुस्कराने वाली फोटो आज लज्जा से मुख छिपाने की जगह ढूँढ़ रही है। यह क्या मेरे स्वामी का चित्र है, यह क्या यशोधरा के गौतम का चित्र है? मैं

उन्माद में चिल्ला उठी,—"क्षमा करना देवी यशोधरा।" एक दिन तुम्हारे आत्मसमर्पण में त्रुटि समझ कर तुम्हारी हृदय वेदना की अभिव्यक्ति "सखि, वह मुझसे कह कर जाते। कह कर क्या मुझको वह अपनी पथ बाधा ही पाते।" पर हंसी थी। किन्तु देवी आज चाहो तो तुम इस अनुभव हीना, अभिमानी बाला पर हंस लो। सन्तोष के लिये तुम तो कह पाई थी। "स्वामी गये हैं तो, आयेंगे कोई अपूर्व वस्तु लायेंगे..... किन्तु उन्हें क्या लूंगी कह कर।" देवी! तुम्हारे पास आशा थी 'कोई अपूर्व वस्तु लायेंगे।' किन्तु विश्व भर में आज किस आशा पर खड़े होकर मैं अपने स्वामी का हंसते हंसते त्याग करूं। तुम्हारे स्वामी तुम्हारे न रहने पर भी जो अधिकार तुम्हें सदा के लिये दे चुके थे उसी के बल पर तुम एक दिन कह पाई थीं, 'पधारो भव भव के भगवान' किन्तु मैं आज सर्वस्व लुट जाने पर किस अधिकार के बल पर उनका स्वागत करूं? सचमुच ही..... सचमुच ही ....." आगे जो कुछ कहती रही सो तो आज याद नहीं आता किन्तु रात्रि के ग्यारह बजे जब वह सोने के लिये आये तो मेरा मुख शायद तमतमा रहा था। "तुम्हें क्या हो गया है?" उन्होंने कहा।

इच्छा हुई कि कह दूं,—"किस अपराध का दण्ड दिया है यह स्वामी?" हाय री अभागी नारी। आत्माभिमान! और वह भी स्वामी के सम्मुख! छो:, अभागी लज्जा भी तो भाग्य के साथ मिल गई, बात कहने दी नहीं।

"तबियत ठीक नहीं है।" मैंने कहा लेटे ही लेटे।

"अच्छा देखूं" उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखते हुए

कहा—"हाँ, बुखार तो है। एलिस से कहता हूं डाक्टर को फोन करके सलाह ले ले।"

उनके बेतरतीब चिन्ता करने के ढंग पर मुझे मन की भारी अशांति में भी हंसी आ गई। मना करने को जी ही नहीं हुआ। कुछ जलन भी थी ही और साथ ही साथ कुछ अविश्वास सा भी हुआ, शायद यह एलिस से मिलने का बहाना ही ढूंढ़ते हों, किन्तु साथ ही साथ मैं सम्भल गई। हंसते हुए ही कहा—इतनी चिन्ता क्यों करते हो ? जरा जी खराब है रात को सोने से ठीक हो जायेगा।"

"नहीं, नहीं फिर भी जब घर में नर्स है तो कह रखना ही ठीक है।"

इस बार इच्छा न होते हुए भी मैं चिढ़ गई परन्तु चुप ही रही। स्वामी बाहर चले गये कमरे के। हमारे कमरे के साथ ही लगे हुए कमरे में बेबी और नर्स रहते थे। दो चार ही मिनट बाद सिर पिटाये हुए से वह आये।

"तुम्हें मालूम है चन्दर एलिस गई कहाँ है ?"

"क्यों ?" "वह तो कहीं भी नहीं जाती है और इस समय तो विशेषतया। बेबी सो रही है लेकिन नर्स न मालूम कहाँ है ? जग्गू से पूछा तो वह कहता है कि वह बड़ी मां जी से कह कर शाम से ही गई हुई है। उसे जाना था तो तुमसे भी तो कह कर जाती।"

उनकी आतुरता मेरे लिये विष वेदना से बढ़ कर थी, मैंने रुखाई से कहा,—"मुझे उसके जाने के विषय में कुछ भी नहीं मालूम।"

"अब बच्ची का क्या होगा ? कल तक तो आ ही जायेगी,

शायद अभी कुछ देर में आ जाये, लेकिन नहीं आई तो ?" वह बड़े चिन्तित प्रतीत हुए।

"न आयेगी तो न आये, जो बच्ची को जन्म दे सकती है, वह उसे पाल भी लेगी। तुम व्यर्थ चिन्ता में माथा गर्म न करो।"

"चन्दर तुम्हें हुआ क्या है आज ?" कुछ स्वर कठोर था। मैंने परवा नहीं की। बाहर जाकर नौकर को मुन्नी का पलग यहीं लगा देने को कह कर मैं फिर आकर लेट गई। लेकिन वह फिर कमरे में दिखाई नहीं दिये। रात भर आये ही नहीं। कहाँ सोये सो तो नहीं जानती किन्तु न स्वयं जाकर देखने का साहस हुआ और न जग्गू को ही भेजने का।

शर्म से मर जो जाती मैं। सारी रात मैंने भी जाग कर बिता दी। क्या होगया था मुझे, वह तो मेरे ही कष्ट की चिन्ता से कहते होंगे। मैं व्यर्थ ही कठोर होगई। अपराध मेरा ही है। किन्तु क्या अपराध इतना अधिक है कि उन्हें इतना कठोर दण्ड देना चाहिये। लेकिन नहीं, मैं तो अपराधी मात्र हूं मुझे यह सोचने का अधिकार ही कहां है कि दण्ड उचित है अथवा अनुचित। आंसू थमते ही न थे। बुद्धि के विचार हृदय ग्रहण करने को तत्पर न था। रात्रि की निस्तब्धता में केवल बेबी की हिलती हुई छाती ही सांस के साथ उठती गिरती दिखाई दे रही थी। स्वस्थ बच्ची के लाल होंठ रह रह कर फड़क उठते थे, मानो मुझे सान्त्वना देने का यत्न कर रही हो। पहले ही बार मुझे मुन्नी पर गर्व हुआ। मैंने उसकी दोनों बन्द आंखों को चूम कर कहा—"ओ मेरे जीवन के प्यारे सबसे अधिक प्रिय, अभिशाप। तुम आई भी भला तब हो जब मेरे जीवन का शायद दूसरा कठोर अध्याय आरम्भ हुआ है। अच्छा, आई हो तो आओ

किन्तु मेरी नन्हीं कोमल बच्ची ! नारी जीवन की कठिनाईयां सह सकोगी ? जीवन की मधुरता और कठोरता दोनों प्रकार के क्षणों में तुम्हारे मन की स्थिरता और नेत्रों में विश्व भर के लिये विश्वास भरा रहे यही मेरा आशीर्वाद है।" इतना सब कुछ करके भी शान्ति नहीं मिली। जान पड़ता था कि मुझे उन्माद हो गया है। बाथरूम में जाकर ढेर सारा पानी इन गम्भीर जाड़ों के दिनों में भी सिर पर डाला किन्तु शान्ति न हुई। वेदना बढ़ती ही गई। इसी वेदना के बीच मुझे जान पड़ा कि नारी दुर्बल है बहुत ही दुर्बल है। अपनी दुर्बलता को ही सुरक्षित निधि की भांति लेकर शायद वह भवसागर पार कर पाती है। किन्तु मैंने तो यह नारी दुर्बलता का भी दावा किसी दिन अपने पास रक्खा नहीं था। भला और बुरा जो कुछ था सब ही तो मैं स्वामी के चरणों में चढ़ा चुकी हूं। फिर आज कौन सा सहारा लेकर खड़ी होऊं ? बरामदे की घड़ी ने तीन बजाये; एक एक करके। जान पड़ा कि मेरे शरीर में भीषण दर्द होरहा है। इस बार मैं पलंग पर लेट गई। सोई कब ? सो तो मालूम नहीं, पर सुबह आठ बजे आंख खुलने पर देखा समस्त शरीर पर भयंकर ज्वाला व्याप्त है।

बस यही कुछेक फटे टूटे पन्ने मिले थे पगली की आलमारी में से; कुछ आगे पीछे थे, कुछ फटे फटाये और कुछ मुड़े सुकड़े से थे।

"नई मां की आत्म कथा"

मेरी आत्मकथा सुनकर हँसी आती है। मैं तो महात्मा भी नहीं, नेता भी नहीं, यहाँ तक कि कोई सुधारक भी नहीं। अपनी आत्मकथा कहूं क्या ? एक तूफान की अंधेरी रात में मैं उत्पन्न हुई थी। चारों ओर घन घोर अंधेरा था, शायद कोहरा भी पड़ रहा हो। दिसम्बर की रात थी घनी सर्दी पड़ रही थी। शायद आसपास के लोग जो मेरी मां के पास बैठे हों, कह रहे हों कि इस अभागी सन्तान को भला इतनी ठण्डक की रात में ही उत्पन्न होना था, जब कि रजाई से हाथ निकालते ही अंगुलियां ठिठुरती हैं। पर मेरी मां गजब की सहनशील थी। मैं उनकी पहली ही सन्तान थी। मेरी मां सुशिक्षता भी थी और सरल भी। प्रसव पीड़ा में भी उनके मुख पर लोग सुनाते हैं अपूर्व ज्योति और गम्भीर मुस्कान थी। शायद मां के श्याम मुख पर वह सुन्दर भी लगती हो। वैसी ही मुस्कान मैंने उसके पश्चात् भी कई बार उनकी आँखों में खेलती देखी है। कह नहीं सकती वह ठीक वैसी ही है या नहीं, किन्तु सारी स्त्रियां तो कहती हैं कि वह वैसी ही है। जो भी कुछ हो, पड़ौसी स्त्रियों की उत्सुकता और तिरस्कार में तथा मां की प्रथम सन्तान मुख दर्शन की अभिलाषा के बीच मैंने जन्म लिया। मेरे निरीह पिता यूं तो बी०ए०, बी०टी०, एल०एल०बी० थे। कहा जाता है कि बी०ए० के बाद शिक्षक बनने के विचार से ही उन्होंने अपने पिता से ज़िद करके बी०टी० किया था किन्तु अकथ परिश्रम करने पर भी वह अपनी शिक्षक की योग्यता सिद्ध करने वाली डिग्री के बल पर ठीक तरह से रोटी भी न जुटा पाये। उनके पिता का भी तब तक देहान्त हो गया था। मेरी मां का भी घर

में पदार्पण हो गया था। अतः दो वर्ष तक बेकारी के द्वार पर सेवा देने के पश्चात् उन्होंने शिक्षक बनने की अपनी महत्वाकांक्षा को तिलाँजली देकर वकील बनना ही निश्चय किया। कहा जाता है कि मेरी माँ बड़ी ही गम्भीर और स्थिर मति थीं। उन्होंने एक एक करके अपने समस्त स्वर्णाभरण बेच कर पति की रोटी प्राप्त करने योग्य शिक्षा का प्रबन्ध किया। दो वर्ष और बिता देने पर मेरे पिता वकील बन पाये। आगे की कहानी भी बड़ी लम्बी है पर यहाँ संक्षेप में ही कहूंगी, क्योंकि मेरी निज की कथा से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। हाँ तो पिता वकील हो गये और उसी वर्ष मेरा जन्म हुआ। चन्द्रकला की नाईं मैं बढ़ने लगी और पिता भी मुन्शी जी की कृपा से केवल रोटी दाल ही जुटा सकने में समर्थ हुए। कोमल हृदय सत्यवादी और सन्तोषी पिता के लिये धन का लोभ तो कभी भी प्रेरणा की वस्तु न था किन्तु सन्तान को सुखी देखने के लिये धन का होना आवश्यक है, यही विचार कभी कभी उन्हें अस्थिर कर देता था। पर मां सदा ही उनका ध्यान धन की ओर से हटा कर मेरी शिक्षा की ओर आकर्षित कर देती थी। शहर की पुत्री पाठशाला में कक्षा पर कक्षा पास करती जाकर तथा माँ की गोद में उनकी शिक्षा पाकर मैं बढ़ने लगी। मेरे दसवीं कक्षा तक पहुँचते पहुँचते मेरी माँ मेरे दो भाईयों और एक बहिन को जन्म दे चुकी थी। पहले ही कह चुकी हूं घर में धन का अभाव था, किन्तु रोटी दाल की कमी किसी दिन भी नहीं हुई थी। साधारण श्रेणी के भद्र गृहस्थ की भांति हमारे जीवन के दिन बीतते ही जा रहे थे।

दसवीं का परीक्षाफल निकला, कोई महत्वपूर्ण बात हुई तो वह केवल यही कि मुझे सरकारी छात्रवृत्ति मिल गई,

इसीलिये मेरी शिक्षा जारी रही। मैं कालेज में प्रविष्ट हो गई। इसी बीच सुना कि मेरी मंगनी हो गई है। मनोभावों को पढ़ते लज्जा तो आती है किन्तु जब उन्हें जान ही चुकी हूं तो बताये बिना नहीं रहूंगी। उसी दिन शाम को कालेज में कोई उत्सव था और उसमें मैं भी भाग ले रही थी। ठीक तो याद नहीं पड़ता, किन्तु शायद कोई नाटक था, घर से दो बजे की निकली हुई थी। कालेज में आनन्द में पूर्ण डूब कर, थक कर कानों को, हृदय को और समस्त अस्तित्व को जब गीतों की ध्वनि में डूबाती मैं साढ़े दस बजे घर लौटी, तो मेरा समस्त आस्तित्व सम्पूर्ण रूप से एक ही पंक्ति में मेरे कानों में झूल रहा था, नायिका के शब्दों में—"जीवन की परख जीवन के द्वारा ही हो सकती है, कुछ कल्पना मात्र से नहीं।" तब क्या जीवन, अपना जीवन था, केवल जीवन द्वारा, अनुभव द्वारा जीकर ही जाना जा सकता है। नायिका के प्रेम प्रदर्शन की स्मृति मात्र से ही मैं हंस पड़ी। "ओह! क्या पशुत्व पूर्ण प्रेम प्रदर्शन ही जीवन के सरल प्यार का पथ है?"

एक बार इच्छा हुई कि जोर से हंस पड़ूं किन्तु साईकिल घर के पास तक पहुंच गई थी, अतः इच्छा को मन ही मन में दबाकर घर में प्रवेश किया। मां भोजन की प्रतीक्षा में बैठी थी। पिता और अन्य भाई बहिन शायद सो गये थे। छोटा नौकर आंगन में पैर फैलाए ऊँघ रहा था। "माँ, थाली परोस, बड़ी देर हो गई है।" कहती हुई मैं अपने कमरे में कपड़े बदलने चली गई। मां शायद थाली परोसने लगीं।

कपड़े बदल कर नीचे आते ही मैं थाली के सम्मुख

आसन खींच कर बैठ गई । दो फुलके पूरे समाप्त करने के पश्चात् जब तीसरा फुलका मेरी थाली में उपस्थित हुआ तब तक मेरी भूख बहुत कुछ शाँत हो गई थी । अब मैंने माँ के मुख पर दृष्टि डाली तो जान पड़ा माँ किसी गहरी दुविधा में पड़ी हुई है । मुख कुछ गम्भीर सा है, किन्तु कुछ कहने को उत्सुक जान पड़ती है। घर भर में, मैं सबसे अधिक असहनशील समझी जाती थी । हमारे छोटे से परिवार की एकछत्र अधिष्ठात्री डिक्टेटर मां भी, लोग कहते हैं मन ही मन मुझसे कुछ भय खाती थीं। निरीह पिता पर तो उनका क्रोध कभी कभी बहुत ही बढ़ जाता है और ऐसे समय पिता का पक्ष लेकर उस क्रोध को मुझे ही सहना पड़ता है ।

माँ झल्लाकर कहती है—"हां, अब बड़ी जो हो गई है, अब पिता का पक्ष न लेगी तो करेगी भी क्या ?"

मैं शान्तिपूर्वक कहती—"माँ, जिन्हें भगवान ने जुबान दी है वह उसके जोर से समस्त सृष्टि को दबा सकते हैं किन्तु जिनको भगवान ने केवल आँखें ही देकर जुबान की भी कमी पूरी करना चाहा है, उनका पक्ष न लेने पर शायद तुमसे भी बड़े जो हैं वे मन ही मन बुरा मान बैठेंगे ।"

"उन्होंने ही शायद तुझे इनका प्रतिनिधि बना कर भेजा है। वह औरों के मुकदमे करें और तू उनके किया कर । वकील, मवक्किल का यह जोड़ा सुन्दर है ।" कहते कहते माँ भी हँस पड़तीं।

वास्तव में पिता कभी किसी भी अभियोग का प्रतिवाद नहीं करते । कुछ कहते भी नहीं । किसी दिन किसी की कोई

शिकायत भी नहीं करते। यहां तक कि एक दिन रात भर घोर परिश्रम से एक मुकदमे के सम्बन्धित प्रश्न तैयार करके मेज पर ही रख देने के पश्चात जब सुबह मेरे छोटे भाई ने अनजाने में ही नौकर को वही कागज उठा कर अग्नि जलाने को दे दिए और जान पाने पर जब माँ उसे उसकी असावधानी के लिए दण्ड देने लगीं तो पिता बड़ी दीनता से बोले—"जाने दो, जाने दो, दोष तो मेरा ही है, मैंने वहां छोड़े ही क्यों ?"

मां एक बारगी चिढ़ उठीं। उन्हें क्रोध एक तो आता ही बड़ा कम है और पिता के अतिरिक्त अन्य किसी पर तो शायद ही कभी आया हो। किन्तु जब आता है तो बुरी तरह आता है। क्रोध से होंट काटती हुई बोलीं—"तुम सबही लड़कों बालों को अपनी तरह मिट्टी करके हा छोड़ोगे।" कह कर माँ रसोई में चली गईं। पिता मुँह लटकाकर खड़े रह गये। मैं सिर से पैर तक क्रोध से जल उठी। आंगन के एक किनारे पर बैठी दातुन कर रही थी, वहीं से बोली—"पिता की तरह महान चरित्र और संसार में कितने मिलेंग माँ, बताओ तो सही ? उनका समय असमय इस प्रकार अपमान कर देती हो सो क्या सब कोई चुपचाप ही सह लेंगे ?" मां ने शायद सुना ही नहीं अथवा सुनकर भी उत्तर नहीं दिया। पिता चुपचाप बैठक में जाकर उसी मुकदमे की दुबारा तैय्यारी में संलग्न हो गये। मैं भी कालेज चली गई किन्तु मन लगा नहीं। दिन भर कक्षा में अध्यापिकाओं के लेकचरों के शब्दों के बीच मुझे अपने पिता की दीनमूर्ति ही दिखाई देने लगी। मैं चिढ़ उठी। मानव स्वभाव है कि जब वह किसी बात को इच्छा करने पर भी नहीं भूला पाता तो उसे उस पर अधिक ही क्रोध, खीज और चिढ़

आने लगती है। यही हाल मेरा भी हुआ। पिता की दीनता से मैं चिढ़ उठी। इंगलिश साहित्य की अध्यापिका भी कह रही थीं कि "दीनता भयंकर पाप है, अपराध है।" कितने शान्त, नहीं, कितने निरीह हैं मेरे पिता, इन्हीं विचारों में बहती उतरती मैं शाम को घर पहुंची। पिता अभी कचहरी से नहीं आए थे। माँ ने स्वयं प्रतिदिन के अभ्यास के अनुसार हम सबके लिए नाश्ता तैय्यार कर रक्खा था, किन्तु उस दिन मैं स्वयं रसोई में चली गई। माँ आज शायद नाराज थीं, कुछ बोली भी नहीं, कुछ पूंछा भी नहीं। पिता के लिये मैंने स्वयं अपने हाथ से कुछ सिंघाड़े तल डाले। पिता को तले हुए सिंघाड़े बहुत ही रुचिकर लगते हैं। इतने में पिता भी आ गये। कपड़े बदलकर माँ को आवाज दी—"चाय भेज दो।" भोला चाय लेने आया, पर मैं स्वयं ही चाय लगाने लगी। माँ बोलीं—"गुरो तू भी उनके साथ चाय पीले, सिंघाड़े मैं तल देती हूं।"

"अच्छा" कह कर मैं चाय लेकर बैठक में चली गई।

"मुकदमे का क्या फैसला हुआ? पपा।"

"हमारा पक्ष जीत गया। तूने सवेरे आशीर्वाद जो दिया था।"

मैं झेंप गई, जरा सा हंस करके बोली—"मां से कहूंगी, उनकी झिड़कियां शुभ होती हैं, रोज ही सबको दे दिया करें।" घर में पिता से कोई भी डरता न था, यहां तक कि भोला भी उनसे कभी-कभी मजाक कर लिया करता था किन्तु माँ से सभी डरते थे।

पिता शायद बहुत ही भूखे थे, जल्दी जल्दी माँ का बनाया

हुआ हलवा और मेरे सिंघाड़े तेजी से भीतर भेज रहे थे। हंस कर बोले—"सो ही सही।" इस उत्तर से मैं जल उठी। कुछ चिढ़े से स्वर से बोली—"पपा, यदि मां न हो तो शायद सारा संसार तुम्हें दबा कर जो इच्छा हो नाच नचाये।" कुछ घबराहट के से स्वर में पिता बोले—"क्यों? क्यों? क्या हुआ सुरो?"

"हुआ क्या? घर हमारा अपना है, कुछ दूसरों का तो नहीं, उस दिन जब धोबी का गधा घर में घुसकर हमारी गाय के पट्ठे खा गया, तब भी आपने उसे डांटने भी न दिया। धोबी हंसता चला गया। झुल्ली की मां रोज ही हमारी गाय का गोबर चुरा ले जाती है और आप सामने खड़े देखते रहकर भी कुछ नहीं कहते। यहां तक कि मुन्शी जी कहते हैं कि जब भी कभी कोई मवक्किल आँखों में दो चार आंसू दिखा दे, तो आप उससे फीस तक न लेकर उसे ही अपनी जेब से भोजन आदि करा देते हैं। तिस पर मां डांटे न तो क्या करें और उस डांट को भी आप न्याय से हो अथवा अन्याय से चुपचाप गर्दन झुकाकर सुन लेते हैं। यह भी कोई बात है? मुझे यह तो सब कुछ अच्छा नहीं लगता।" मेरे स्वर में पर्याप्त मात्रा में चिढ़ विराजमान थी।

चाय शायद वह खतम कर चुके थे। प्यार से सोफे पर मुझे अपनी गोद में डालकर मेरा सिर थपथपाने लगे। मैं एकदम ही उठ बैठी।

"पपा मेरी बात का उत्तर दो।"

उन्होंने संयत स्वर में कहा—"रानी बिटिया क्या कहूं? ऐसा ही तो है।"

कितना भोला उत्तर था। सचमुच ही उनसे छिपाकर दो बूंद आंसू मैंने अपनी आंखों में ही पोंछ डाले। इतने शिशु-सरल व्यक्ति को संसार हर प्रकार से ठगना ही चाहता है, इच्छा हुई कि उसी समय मां को लाकर कहूं—"भला देखो इस भोले व्यक्ति में कहीं कुछ भी अप्रसन्न होने योग्य है क्या ? तुम किस दिन इसका मूल्य समझोगी जिसकी पत्नी होने का तुम्हें सौभाग्य प्राप्त है।"

"पर तुम मां की भी डांट चुपचाप क्यों सह लेते हो ? तुम तो उनके पति हो ना पपा।"

"बेटा, तुम्हारी मां मेरा अपमान कहां करती है ? वह कर पायेगी ही नहीं। वह तो जितना प्यार मुझे करती है तुम नवयुग की लड़कियां क्या अपने पति को कर पाओगी ?" मालूम नहीं पिता ने किस भाव से अन्तिम वाक्य कह डाला, पर मैं कालेज में पढ़ने वाली लड़की लज्जा से लाल हो उठी। तुरन्त ही अचानक मां ने आकर लाज रख ली—"हाँ, तुम दोनों बाप-बेटी मिलकर मेरी निन्दा ही करते रहा करो। और काम ही क्या है ? जानते हो आज तुम्हारी लड़की का मुझ पर बहुत क्रोध है।"

पिता अकारण ही हा हा करके हँस पड़े। मैंने मन ही मन दृढ़ता से कहा—'सचमुच ही जो व्यक्ति इतनी खुली, इतनी निर्दोष हंसी हंसता है हस पाता है उससे अधिक सुन्दर सरल रूप मानव का और होगा ही क्या ?' मैं उठकर चली आई कमरे से, किन्तु अब मेरा मन हलका था। हां, तो कहां से कहां बहक गई। उस दिन मां कुछ अधिक परेशान सी

मालूम पड़ती थीं। कुछ पूछते भी डर लगता था और पिता जी सो ही चुके थे। मैंने स्थिर भाव से खाना समाप्त करने का ही निश्चय किया।

"सुरो, तुम्हारे पिता ने एक लड़का देखा है, बिरादरी का ही है। उन्हें तो पसन्द है, विदेश बैरिस्टरी पढ़ने जाना चाहता है। घर और बर दोनों ही अच्छे हैं। लड़का दो चार दिन में इधर आने वाला है यदि तुम्हें पसन्द हो तो पक्की कर लें।"

बड़े यत्न से मां ने कह ही डाला। बात तो मैं समझ गई, किन्तु उत्तर क्या देना होगा सो जान पाई नहीं। "मैं क्या जानूं, तुम लोग जानो।" कह कर मैं थाली छोड़ कर जाने को उद्यत हुई।

"सो नहीं होगा। सुरो, तू बड़ी समझदार है। मैं और तेरे पिता जी तेरी इच्छा के विरूद्ध कुछ भी नहीं करेंगे।" मैं चुपचाप बाहर निकल गई। मां ने फिर कुछ नहीं कहा, किन्तु मैं रात भर स्वप्न और जागृति दोनों में ही किसी सुन्दर छबि वाले युवक का मुख ही देखती रही। नव जीवन की कल्पना ने सत्तरह वर्ष की बालिका के मन को पूर्ण रूप से कल्पना में बाँध रखा। रह रह कर कल्पना में अपने भावी स्वामी की सौम्य आकृति और उदार मन का दर्शन करने लगी। चित्र आकर्षक था, किन्तु धुंधला उसे और भी तेज करने के लिये उसमें रङ्ग जो भरना था। मैंने कल्पना की, अपने भावी स्वामी में पिता की सरलता और मां की सुन्दर श्याम छबि की। मुझे किसी दिन भी शारीरिक सौंदर्य से प्रेम नहीं रहा है, पर मेरी कल्पना में मेरे स्वामी की छबि पूर्ण सौम्य और स्वस्थ थी। सदा से ही स्वास्थ

की ओर मेरा विशेष आकर्षण रहा है, जो आज भी मैं भुला न सकी। अचानक ही सुबह मेरे मुख से एक गीत की कड़ी गाई जा रही थी, "आयेंगे, आयेंगे मन मन्दिर में बसने वाले।"

गुसलखाने की दीवारें भी शायद मेरे स्वर में स्वर मिलाने का यत्न करने लगी। पिता को मैंने सदा से ही अपना सखा माना है। स्कूल में किसी से झगड़ा होने पर सलाह लेने या किसी सहेली की कापी फाड़ देने पर बचाव की सूरत पूछने से लेकर आज इतिहास विषय के गम्भीर प्रश्नों की विवेचना करने तक, सब ही कामों में मेरे एक मात्र साथी मेरे पिता ही थे।

कोई भी स्कूल या कालेज जीवन की सखि मेरे जीवन में मेरे इतने निकट न आ पाई थी, जितने कि मेरे पिता। और दूसरी ओर मैं भी अपने को उनका एक मात्र अवलम्बन समझती थी। घर और बाहर सब कहीं यथासम्भव उनकी पीठ पर पड़ने वाले वारों को अपनी पीठ पर मैं सहर्ष सह लिया करती थी। यही मेरा सहज आनन्द था। इच्छा हुई कि इस विषय पर भी अपने पुराने सखा की सम्मति जान पाऊँ।

पर आज पहली ही बार जान पड़ा कि इस इस विषय पर पिता से भी जो कि मेरे निकटतम है. सलाह ले पाऊँगी नहीं। मन मसोस कर रह गई, किन्तु जीवन में एक नया रस जान पड़ने लगा। उपन्यास की नायिका सजीव सी दीख पड़ी और नायक प्राण पूर्ण। इसी बीच न जाने कैसे मेरे लाइब्रेरी के कार्ड पर उपन्यासों की संख्या और मेरी शृंगार मेज पर पाउडर, क्रीम आदि की संख्या बढ़ने लगी। मां कभी कभी देख कर मुस्करा उठती, शायद एक रहस्य पूर्ण मुस्कान किन्तु कहा उन्होंने किसी दिन भी कुछ नहीं।

पपा के पास मैं इन दिनों जाती भी कम ही थी। जाने पर यह बात याद जो आ जाती थी। कितने सजीव और कितने सुन्दर थे वह दिन। और आज....जाने दो उन स्वप्नों से अब लेना देना ही क्या है, फिर उनकी तुलना करने से क्या लाभ ?

"मंगनी"

"आपका नाम सरोजनी है क्या ?"

"नहीं सुरीभ।"

"बहुत सुन्दर नाम है, किन्तु मैंने सुना आज ही है।" उन्होंने मुस्कराते हुए कहा।

"मेरी माता जी साहित्य से बहुत प्रेम रखती हैं, उन्होंने ही यह नाम रखा है। उर्रो का नाम आपको मालूम है, क्या है ?"

"नहीं तो, उर्मिला क्या ?"

"उहुँ, भला गैस तो करिये।"

"उर्वशी ?"

"नहीं.....नहीं।"

"अच्छा हार गये, आप बताइये।" शायद उस हार के कहने में कुछ लज्जा भी थी।

"उरीभ।"

"ओह ! तब मैं भला कैसे जान सकता था ?"

फिर हम दोनों चुपचाप थोड़ी देर बैठे रहे। मैं आलू छिलती रही और वह चुप ही रहे। कहा जाता है कि वह मेरे पिता के किसी पुराने मित्र के सुपुत्र हैं। दो चार दिन के लिये हमारे घर आकर ठहरे हैं। उर्रो बहुत दिनों से बन-विहार के

लिये हठ कर रही थी। नवागन्तुक ने दो ही दिन में उर्री से मित्रता करके उस प्रस्ताव पर जोर दिया। उसी के फलस्वरूप हम आज बन बिहार को आये थे। माता जी भोजन का प्रबन्ध कर रही थीं। उर्री उन्हें थोड़ी बहुत सहायता दे रही थी, दोनों छोटे भाई पिता जी के साथ पानी लेने गये थे। इनके, जिन्हें आज सुधीर ही कहूंगी अत्यन्त आग्रह करने पर भी पिता इन्हें वहीं छोड़ गये। वह मेरे पास बैठे मटर निकाल रहे थे। बातें भी हो रही थीं। पिता जी शायद इन्हीं के साथ मेरा विवाह करना चाहते थे। कैसी विधि की विडम्बना है, एक दिन जिसे भावी स्वामी के रूप में देखा था, उसे ही किसी दिन जामाता के स्वरुप में पाऊँगी यह मैंने कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। खैर, विधाता का कटु हास्य सिर माथे पर। पहले तो दो दिन लज्जा से मैं उनके सम्मुख निकल भी नहीं पाई, किन्तु मां के समझाने बुझाने पर और यूं भी लज्जा कम हो जाने पर हम परस्पर बातचीत करने लगे।

"तुम्हारे विषय क्या हैं ?"

"संस्कृत, संगीत और फिलासफी।"

"ओह ! तब तो कुछ सुनाना पड़ेगा" उन्होंने आग्रह से कहा। शायद पास आती हुई उर्री ने सुन लिया, बोली—"सुधीर भईया, यह आ आ करने लगेगी तो तुमसे क्या यहाँ बैठा जायेगा ? यह कुछ वैसा तो गाती नहीं है जैसा कि हमारे स्कूल की लड़कियाँ गाती हैं, सच ही बड़ा अच्छा लगता है। दीदी के स्कूल की लड़कियाँ और यह भी आ आ ही करती रहती हैं।" उर्री बड़ी ही बातूनी थी। उसे रोकना आवश्यक था। मैंने

कहा—"चुप भी कर उर्री। तुझे बातें भी बनाना बहुत आता है।" उर्री इसी बीच सुधीर से 'सुधी भईया' कहने लगी थी। तय यह हुआ था कि दोनों एक दूसरे का नाम लेकर पुकारें, पर मां ने कहा कि सुधीर नहीं कहते भईया कहो। उर्री 'सुधीर भईया' को संक्षिप्त करके 'सुधी भईया' कहती थी।

"बात यूं है उर्री कि तुम्हारी दीदी बड़ी उदार है और हैं आकर्षक, वह सबका आ आ कह ही स्वागत करती हैं।" सुधीर ने धीरे स्वर से कहा, किन्तु वह स्वर मुझ तक पहुँच सकने योग्य ही था। मुझे यह बात सुन कर पहले तो कुछ भला नहीं लगा किन्तु न जाने क्यों, जितना ही मैं उसे अपनी स्मृति में पीछे ढकेलने लगी, उतना ही वह उभरने लगा।

मैंने केवल उपन्यासों में नायक नायिका का प्रेम पढ़ा था। क्लास में सखियों के साथ बैठ कर मज़ाक भी उड़ाया था किन्तु आज जान पड़ा कि वास्तव में उनमें कोई सत्य भी निहित है। सचमुच ही मुझे जान पड़ा कि मैं सुधीर को सहज ही प्यार कर पाऊंगी। सुधीर की बातों में मेरे लिये एक नवीन आकर्षण बढ़ने लगा। सुधीर ने धीरे धीरे अपने स्कूल-जीवन से लेकर कालेज जीवन के..... सभा के तथा इधर-उधर के अनेकों किस्से सुना डाले। मैं भी उन्हें धीरे-धीरे अनेकों बातें सुना गई, सार्थक भी और कभी-कभी निरर्थक भी। वह निरर्थक बातों को भी सार्थक सहज ही बना पाते थे। छः दिन के सहवास ने ही मुझे उनके अत्यन्त निकट ला दिया। जाते समय जान पड़ता है वह पिता को अपने विवाह में सम्मति दे गये। माँ तो गम्भीर प्रकृति की थी हीं किन्तु पिता से न रहा गया। घर के प्रत्येक प्राणी से लेकर बाज़ार तक में, पूरे पड़ौस में

प्रसन्नता से कह आये कि उनकी लड़की का वर देवता तुल्य है। न जाने क्यों अपने को इस विषय में उदासीन रखने की इच्छा रखती हुई भी मैं मन ही मन भगवान के चरणों में सिर रख उठी। पिता की प्रसन्नता का कुछ ठिकाना न था। यहां तक कि मुझसे कह बैठे—"सुरो तुझे सुधीर कैसा जँचा ?" मैं क्या कहती लज्जा से चुप हो रही। मां कहने लगीं—"वह बिचारी तुमसे क्या कहे। तुम्हें समझ कब आयेगी ?"

मां की मीठी झिड़की खाकर पिता बोले—"क्यों सुरो, बेटा मुझसे लजायेगी।" और फिर सहज भाव से कहने लगे—"छीः, बेटी कोई पिता से भी लजाता है और मेरी तो तू रानी बेटी है, यही सोचता हूं कि तू ससुराल चली गई तो तेरी मां तो मुझे जीने भी नहीं देगी।" "हां, जब सुरो नहीं थी तो जीते थोड़े ही थे ?" मां ने सहास्य कहा।

"कहां जीने पाता था ? वह भी कोई जीना था तुम घर के काम में लगी रहती और मैं किताबों में सिर मारा करता। सुरो बेटा ने ही तो मुझे जीवन का अस्वादन कराया है।" कह कर व्यर्थ ही पिता जोर से हंसने लगे।

"अच्छा अब बहुत बहको मत।" माँ के स्वर ने पिता की हंसी बन्द कर दी और यह देखकर मैं सिर से पैर तक जल उठी। न जाने क्यों सारे संसार को ही मेरे निर्दोष निरीह पिता की हंसी से बैर है। सचमुच ही उस हंसी से अधिक मीठी झङ्कार तो मैं और आज तक कहीं सुन पाई नहीं हूं।

इसी प्रकार आशा ही आशा में दो वर्ष और बीत गए। शायद उधर से कहा गया था कि लड़का अभी पढ़ रहा है, मंगनी

जब वह पढ़ चुकेगा तब होगी। उन्हीं थोड़े से दिनों की स्मृति की पूंजी लेकर मेरे भी दिन अच्छे ही बीत रहे थे, किन्तु अचानक ही न जाने कहाँ से मेरा सुख-विधान कुछ टूट गया। सुख में शंका आ गई। बात यों हुई कि मैं अब उन्नीस वर्ष की पूर्ण युवती थी, समझदार और होशियार। हमारे दूर के रिश्ते की एक कोई मौसी थी, उनकी एक लड़की थी विजया, भोली, सुन्दर और तीव्र बुद्धिमती। मुझसे शायद दो या तीन वर्ष छोटी थी। कालेज तथा बाहर भी सभा आदि में बहुत भाग लेती थी। किसी कार्यवश वह मौसी के साथ ही दो चार दिन को हमारे घर ठहरीं। इसी बीच में मेरा विजया से घनिष्ठता हो गई। सचमुच वह थी ही ऐसी प्यारी कि उससे प्यार किये बिना कोई रह ही नहीं सकता था। बातों ही बातों में मुझे ज्ञात हुआ कि विजया सुधीर को न केवल जानती ही है वरन् उसके साथ ही समाज, देश-सुधार आदि का काम भी करती है। विजया सुधीर की घनिष्ठ मित्र जान पड़ती थी। सुधीर ही मानो उसका आदर्श था। मैं आनन्द से भर उठी, मेरा सुधीर है ही ऐसा। वह किसी दिन भारत का बड़ा भारी नेता होगा, ऐसी विजया की, अनुभव हीन विजया की धारणा थी और मुझे इससे सुख ही हुआ। किन्तु न जाने क्यों जब उसे न जाने कैसे मालूम हुआ कि मेरी एक तरह से सुधीर के साथ मंगनी हो गई है, सुधीर मुझे देख भी गया है तो उसका समस्त मुख मण्डल का रक्त एक क्षण में ही मानो उड़ गया। एकान्त मिलने पर उसने पूछा,—"दीदी, तुमने सुधीर को देखा है ?"

"हाँ"

"तुझे पसन्द है ?" कैसा सीधा प्रश्न था, मैं झेंप गई। "अच्छा, वह तुझे पसन्द करते हैं ?"

"मुझे क्या मालूम ?"

"हूं" कह कर विजया बहुत देर तक चुप ही रही। उसके पहले प्रश्न मेरे कानों में वकील के प्रश्न की तरह गूंज रहे थे।

"दीदी, मुझे तो जान पड़ता है वह तुझे प्यार नहीं करेंगे।" उसने मानो जलते स्वर में कहा। मैं बहुत कुछ कहना चाहती थी पर हृदय मानो एक बारगी ऐंठ गया। बड़ा यत्न करके मैं इतना ही कह पाई--"किसी और को प्रेम करते हैं क्या ?"

'सो इस समय न कह पाऊंगी।" उसने भी कई मिनट बाद बड़ी कठिनता से कहा।

दूसरे दिन मौसी विजया को साथ लेकर चली गईं। उनका काम हो गया था। मां ने निश्चिन्त बैठे हुए पिता को भी उनके जाने के कुछ ही दिन बाद विदा कर दिया, मेरी सगाई पक्की कर आने के लिये।

दुर्भाग्य या सौभाग्य ?

"कल जा रहा हूं सुरभि।" उस दिन सुधीर ने बड़े ही करुण स्वर से कहा।

"क्या बम्बई ?"

"हां, इसी लिये तो आया था। सोचा योरुप जाने से पूर्व तुम से भी मिलता चलूं।"

"पर अभी तो आपको आये भी दो दिन हुए हैं।"

"हाँ, और यह दो दिन ही मेरे जीवन के सब से महत्व-पूर्ण दिन हैं।"

न जाने क्यों मेरे मन में एक मीठी सी गुदगुदी हुई, पर उसे दबा कर ही रह गई। टालने का अवसर ढूंढने के लिये बोली—"आपके लिए पानी ले आऊं? प्यास तो लगी होगी।" वह शायद कुछ सोच रहे थे। उस समय तो जान पाई नहीं किन्तु कुछ दिन बाद ही जो कुछ विजया से सुना, उससे तो यही जान पड़ता है कि उस समय वह व्यक्ति सोच रहा था कि अभी चार दिन पूर्व ही यही शब्द एक और भोली बालिका से कह कर आया हूं। शायद उसकी स्मृति ही उसके हृदय को अनजाने ही मथ उठी हो। खैर, दूसरों के मन को पढ़ना न मेरा काम है और न मेरी अभिलाषा ही, किन्तु जब तीन वर्ष पश्चात् मिलने पर बिज्जी ने मुझ से कहा, बहुत सी बातें करने के पश्चात् —"जीजी तुम्हारा विवाह वहाँ न हो सकेगा, यह मैं पहले ही जानती थी।"

"सो कैसे बिज्जी?" बड़ी देर तक अल्पवयस्का बिज्जी कुछ उत्तर न दे सकी। बड़ी देर बाद उसने धीरे से कहा—"दीदी वह मेरे हैं।" मैं अचानक चौंक उठी। घनी निराशा में भी मैं कह उठी—"तब क्या वह बात सत्य नहीं है, जो यहाँ सुन रही हूं?" एक क्षण को मेरी इच्छा हुई कि विजया "नहीं" कह दे ताकि उसकी 'नहीं' मेरी चिर सञ्चित आशा, श्रद्धा और ममता को एक क्षण में ही चूर चूर होने से बचा दे।

"क्या दीदी? तुमने क्या सुना है।"

"सब कोई कहते हैं कि उनके पिता जितना धन मांगते हैं वह मेरे पिता की सामर्थ्य से बाहर की बात है। पिता तो

जैसे-तैसे ऋणादि करके देने को भी तैय्यार थे पर मां किसी प्रकार भी राज़ी न हुई। मैंने तो कुछ कहा नहीं पर राय मेरी भी न थी।"

"सब झूठ है, वह क्या ऐसे हैं। दीदी, तू उन्हें जानती नहीं, पर मैं जानती हूं। हमने कन्धे से कन्धा मिलाकर संसार-क्षेत्र में कार्य किया है। वह उससे कहीं अधिक महान् हैं जितना कि उनके व्यक्तित्व से जान पड़ता है।"

मैंने घने दुःख में भी सन्तोष की साँस ली। जान पड़ा मेरी कोई प्रिय वस्तु मुझसे छिन गई है किन्तु मैंने मन ही मन कहा—"हे परमेश्वर सब कुछ छीनकर भी जो अखण्ड श्रद्धा उनके लिये तुमने मेरे हृदय में भर दी है, उसे किसी दुर्दिन में भी न छीन लेना, यही प्रार्थना है।"

इसके पश्चात् बड़ी देर तक बिज्जी सुधीर की प्रशंसा करती रही किन्तु मेरा उधर ध्यान ही न था। बिचारी भोली लड़की क्या जानती थी कि जिन मानवों के हृदय सोने की चमक से एक बारगी ढक चुके हैं उन्हें मनुष्य का अस्तित्व कुछ वैसा मूल्यवान नहीं जान पड़ता है और मानव हृदय तो उनके लिये केवलमात्र एक खेल की ही वस्तु है। अस्तु मेरे प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने चौंक कर कहा—"क्या कहा ? पानी नहीं, सुर्रो तुम यहाँ बैठो, तनिक बातचीत ही हो।"

उसके बाद क्या क्या और किस प्रकार की बातें होती रहीं सो तो मुझे याद नहीं, किन्तु उस दिन बड़ा ही आनन्द आया। मुझे जान पड़ा कि सौभाग्य स्वयं मेरे द्वार पर नियति का सन्देश लेकर आया है। कितना उल्लास छलछला उठा था मेरे मन में। मैं भर उठी आनन्द से।

दूसरे दिन सुधीर चले गये दूर दूर योरुप में और मैं उनकी पुनीत स्मृति अपने हृदय के गुह्यतम कोषा में पालती रही। माँ कई बार पिता से कहती कि सुधीर के पिता से बात तो कर आओ, लड़की अट्ठारह पार कर चुकी है, पर मेरे भोले पिता हंस कर कहते—"तुम्हें हुआ क्या है, अभी सुर्रो बच्ची ही है। अभी से उसे घर से निकालने पर तुली हो।"

मां उत्तर में क्रोध से कुछ बड़बड़ा देती, पर पिता और जोर से हंस कर टाल देते।

समय बीतते देर नहीं लगती। मैंने बी० ए० भी पास कर लिया और बी० टी० भी, उधर सुधीर भी योरुप से लौटे। वह भी हमारे परिवार के इतिहास में एक विचित्र ही दिन था।

माँ उर्री के लिये साबूदाना बना रही थी। उसे कई दिन से ज्वर आ रहा था। मैं उर्री के पलंग के पास ही खिड़की की ओर मुख किए बैठी थी। सुबह से ही कुछ बूंदा-बाँदी हो रही थी। माँ रसोई के साथ वाले बरामदे में अंगीठी पर ही रख कर साबुदाना बना रही थी। हमारा कमरा उस बरामदे से सटा हुआ ही था। एकाएक बाहर दृष्टि डाली तो पिता जी अपना छोटा सा ऐटैचीकेस पास रक्खे हुए ही ताँगे में आ रहे थे। बिस्तर शायद गद्दी के नीचे रक्खा हो। पिता के आने की कल बात थी, अतः हम कोई भी प्रतीक्षा नहीं कर रहे थे। मैं देखते ही उछल पड़ी। जोर से चिल्ला उठी।

"मां, पापा आ रहे हैं।" उर्री पलंग पर उठ बैठी और मेरे रोकते-रोकते भी दरवाजे की ओर दौड़ी। आज उसे बुखार न था। भाई घर पर न थे, माँ भी धोती के पल्ले से

पतीली नीचे उतार कर द्वार पर जाने का उद्योग कर ही रही थी कि पिता उर्री को गोद में लिये वहीं आ पहुँचे। इच्छा होते हुए भी जिस कार्य के लिये पिता गये थे उसकी सफलता के विषय में न जान सकी। कार्य का स्मरण करके मैं लज्जा से भर उठी। पैर बाहर जाने को उठे ही नहीं किन्तु हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा। सदा की तरह उत्सुकता में पिता भी "सुर्री" "सुर्री" कह कर चिल्ला नहीं उठे। जान बूझ कर मैंने इस ओर ध्यान नहीं दिया। माँ ने बरामदे की कुर्सी पिता की ओर खिसका दी। वह बैठ गये।

माँ ने कहा—"खाने में अभी देर है, कुछ पानी वानी पीयोगे ?

"नहीं" पिता ने बड़ा ही रूखा उत्तर दिया। खाने के प्रति वह कभी ऐसे उदासीन न थे। उनका रूखा स्वर सुनकर मेरा हृदय धड़क उठा, फिर भी समस्त शरीर काँप रहा था। उर्री इसी बीच पिता का ऐटेचीकेस खोल कर अपना उपहार ढूँढने उनके कमरे में चली गई। मैं चुपचाप खिड़की के बन्द कपाटों से कान लगा कर बैठ गई।

मां ने कहा—"कहो क्या रहा ?"

पिता लगभग रुआंसे से बोले—"वह तो बहुत मुंह फैलाते हैं।"

शायद मां आश्चर्य से ठक रह गई। कुछ क्षण सन्नाटा ही रहा। फिर माँ बोली—"लड़के से मिले थे तुम ?"

मेरी समस्त शक्तियां कानों में ही आ बसीं।

"हाँ मिला था, पर वह कहता है कि घर वालों से मैं बाहर नहीं हूं। लड़की मुझे नापसन्द नहीं पर शेष घरवालों की इच्छा ही मान्य है।"

अब मैं लगभग अचेत हो गई। इससे आगे की बहुत सी बातें तो सुन पाई नहीं किन्तु इतना अवश्य सुना कि पिता कह रहे थे "सुरो को सुखी करने के लिये घर-बार भी बेच सकूं तो अवश्य करूंगा।"

माँ ने कुछ सोच कर कहा—"किन्तु सर्वस्व बेच कर भी तुम उन्हें सन्तुष्ट न कर पाओगे, भोले बाबा।"

इसके बाद माँ ने एक गहरी साँस ली, आधे घण्टे तक और बातचीत होती रही। किन्तु मैं चुपचाप वहां से उठ कर अपने कमरे में द्वार बन्द करके सोती या रोती रही याद नहीं। किन्तु जिस समय मैं बाहर आई हूं धूप आँगन में भली प्रकार फैल गई थी। पिता ने सन्ध्या से पूर्व मुझ से भेंट न की। मैं स्वयं भी उनके सम्मुख पड़ना नहीं चाहता थी। कितनी बड़ी लज्जा, क्षोभ और ग्लानि का कारण मैं बन गई हूं अपने सीधे साधे भोले पिता के लिए।

एक दिन फिर पिता को माँ से कहते सुना—"दरिद्र पिता की पुत्री होना भी मेरी सुरो का कैसा दुर्भाग्य बन उठा।"

सदा की गम्भीर माँ ने शान्तिपूर्वक कहा—"कौन कह सकता है यह दुर्भाग्य हुआ अथवा सौभाग्य?"

"विवाह"

जीवन के लम्बे-लम्बे सत्ताईस बसन्त पार कर चुकने के पश्चात् मैंने एक दिन लाल साड़ी पहन कर अपने स्वामी.....

.....नहीं नही चन्द्रिका के पिता के घर में नव-वधू के रूप में प्रवेश किया। ऐसा कैसे हुआ सो ही कथा अब कहूंगी। बी० टी० तो मैं सगाई टूटने के पूर्व ही पास कर चुकी थी। अब जीवन में मेरे लिये दो ही कार्य शेष थे। एक तो कन्या पाठशाला की छात्राओं को अंग्रेजी और इतिहास की भली प्रकार शिक्षा देना और दूसरे अपने देव तुल्य उदार किन्तु भोले पिता की सेवा। मुझे इससे आनन्द भी आता था और शान्ति भी मिलती थी। दिन अच्छे ही बीत रहे थे। इससे अधिक की जग में न मुझे चाह थी और न इच्छा ही। उस दिन हमारे स्कूल में दिवाली का उत्सव था। ड्रामेटिक सोसायटी की प्रधाना होने के नाते मैं ने ही एक नाटक तैयार करवाया था। नाटक में सरस्वती और लक्ष्मी का परस्पर कलह दिखाया गया था। किन्तु अन्त में लक्ष्मी सरस्वती से हार मान कर स्वयं सरस्वती को नमस्कार करती है।

नाटक शैली सुन्दर और भाषण सजीव थे। मैं ग्रीन रूम का काम समाप्त कर मुख्याध्यापिका के समीप ही आ बैठी।

उन्होंने बड़े ही आदर से कहा—"यह तो आपने बहुत ही सुन्दर नाटक तैयार करवा दिया है।" वह फिर बोली—"सचमुच गजब की एक्टिंग है। मैं तो सोचती हूं कि एक ऐसा ही नाटक टिकट लगा के जनता के लिये खिलवाया जाये।"

मैं प्रसन्नता से उछल पड़ी,—"अवश्य, अवश्य मैं तैयार करवा दूंगी।"

इसी बीच एक लड़की का संकेत देख कर मुझे ग्रीनरूम की ओर जाना पड़ा। वहाँ भी नाटक की प्रशंसा ही सुनाई दी।

प्रशंसा से अतिशय दबी हुई मैं रात्रि को दस बजे घर पहुँची। भोजनादि करके अपने कमरे में लेटी तो जान पड़ा नींद नहीं आ रही है। अलमारी से एक पुस्तक निकाल कर कुर्सी पर बैठ कर पढ़ने लगी। टेबिल लेम्प की हल्की रोशनी ने उर्री की नींद में कोई विघ्न न डाला। लगभग ग्यारह बजे होंगे कि मुझे दूसरे कमरे में कुछ तीव्र सा स्वर सुनाई दिया, माँ शायद कुछ कह रही थी। मेरी इच्छा कुछ भी सुनने की न थी। किन्तु दो तीन बार मेरा नाम लिया गया तो मैं रुक न सकी। दबे पाँओं बरामदे में आ खड़ी हुई। किवाड़ कुछ उड़काये हुए थे। माँ कह रही थी—"तो फिर मैं क्या करूं ? उर्री को तो बिठाये रख सकती नहीं। बी० ए० पास कर चुकी है, अब और कितने दिन रोके रक्खूं ? मुझे तो आखिर लड़के भी ब्याहने हैं।"

पिता ने स्वाभाविक सरल स्वर से उत्तर दिया—"तो मैं क्या करूं ? सुरो का गले में कलसा बाँध कर गङ्गा में डुबो दूं ? कोई अच्छा वर भी तो नहीं मिलता। करूं भी क्या ?"

"अब वर कहाँ से मिले ? २७ साल की लड़की को कोई कुमार तो मिलेगा नहीं, और कोई तुम्हें पसन्द नहीं आता। लोग मुंह पर कह जाते हैं लड़की का पिता ब्याहना चाहता ही नहीं। चारों ओर तरह-तरह की बातें फैल रही हैं। उर्री के लिये जहाँ बात करतो हूं पहला सवाल होता है लड़की की बड़ी बहिन क्यों कुमारी बैठी है ?"

"अब क्या कहूं ?" कुछ देर दोनों चुप रहे।

"जानता हूं।" ठण्डी साँस लेकर पिता ने कहा—"लोग मुझे भी कुछ कम तो नहीं गुना जाते। किन्तु उपाय ही क्या है।

अपनी लड़की को जानते-सुनते तो किसी बुरे घर ढकेल सकता नहीं। हरदेव बाबू, वही जो गली की मोड़ पर रहते हैं जानती हो, कहते थे कि सुरो का विवाह एक कोई बड़े रईस हैं उनसे कर दो। उनकी जवान ब्याही हुई लड़की है। अब तुम ही बताओ बराबर की लड़की को गोद में देकर अपनी बच्ची को कैसे वधू बना दूं?"

माँ कुछ देर चुप रह कर भारी गले से बोली—"पर और उपाय भी क्या है? तुम्हारी निन्दा और बच्चों की ब्याह-शादी की अटकन तो अब देखी नहीं जाती।"

"कुछ भी हो, संसार भर की समस्त आपत्ति सहने पर भी मैं अपनी सुरो को दुःखी न देख सकूंगा। संसार जो इच्छा हो कहे।"

माँ ने क्या कहा सो मैं सुन न सकी। भारी मन और गीली पलकों से बत्ती बुझा कर पलङ्ग पर लेट गई। न जाने कितने आँसू एकाएक मेरी पलकों से गिरने लगे।

मैंने मन ही मन कहा—"सुधीर! मेरे देवता! मेरे इस जन्म की घृणा, और उस जन्म की लज्जा! तुमने मुझे कहीं का न रखा। किन्तु, नहीं, आज बलपूर्वक तुम्हें हृदय से विदा देना ही होगी। मेरे देव-तुल्य पिता की चिन्ता और नन्हीं उर्री का भविष्य कलङ्क मुझे मिटा देना ही होगा। यदि उसके मार्ग में तुम विघ्न हो तो तुम्हें कुचल डालना ही होगा। रात पलकों ही में बीत गई। मैंने निश्चय किया कि मैं इच्छा से उसी वृद्ध को वरूँगी। किन्तु न जाने क्यों विचार करते ही समस्त शरीर में सहस्र बिच्छुओं के दंशन समान पीड़ा होती सी जान पड़ी। ऐसा लगा कि कोई वृद्ध सचमुच निगलने को आ रहा है। मैं अचानक ही चिल्ला उठी।

जो भी कुछ हो, कथा बड़ी लम्बी है, कहाँ तक कहूंगी। संक्षेप में एक सप्ताह तक हृदय के साथ घन घोर तुमुल युद्ध करने के पश्चात् एक दिन मैंने अपना निश्चय मां को सुना दिया। सुनकर मां ने क्या समझा सो तो नहीं जानती, किन्तु उन्होंने एक बार भी कारण नहीं पूछा, केवल आंखों में आंसू भर कर —यद्यपि उनकी आंखों में साधारणतया आंसू आते ही नहीं थे— कहा—"उनसे कहूंगी, देखूं क्या कहते हैं।" कुछ ठहर कर, कुछ स्वस्थ सी होकर, फिर कहने लगीं—"सुरो तुम भी अब कुछ छोटी नहीं हो। यह जो सब कुछ समझ बूझ कर, तुम त्याग कर रही हो, भगवान इसका यथार्थ मूल्य समझने में किसी दिन भी भूल नहीं करेंगे, यही मेरा विश्वास है। ... ... यदि किसी दिन हम जान बूझ कर तुम्हारा बलिदान कर भी दें, तो यह मत भूल जाना कि नारी का महत्व उसके तिल-तिल करके बलि हो जाने में ही है, भगवान तुम्हारे पथ प्रदर्शक हों।" न जाने क्यों मुझे मां का वरदान, उनका आशीर्वाद भयंकर कठोर शाप सा जान पड़ा। एक बार फिर मैं एकान्त में जी भर कर रोई। किन्तु जिस समय पापा ने प्रेम से मेरा सिर अपनी गोद में लेकर पूछा— "सुरो बेटी, देख मुझसे न छिपाना, क्या तुम सचमुच ही धन के लिये वहाँ विवाह करना चाहती हो या केवल मुझे चिन्ता-मुक्त करने के लिये ही ?"

पिता के स्वर से उमड़े हुए अपने आंसू मैंने चुपचाप पोंछ कर न जाने कैसे स्थिर स्वर में कह डाला—"पापा, अपनी इच्छा के विरूद्ध कोई किसी को चिन्ता-मुक्त नहीं करता। सचमुच ही मुझे वह घर पसन्द है।" कहने के साथ ही छाती के भीतर, रूके हुये आंसू उमड़ने लगे। बचने के लिये झटपट मैं अपने कमरे

में चली गई। भोले पिता शायद यही समझे, कि उनकी सत्ताईस वर्ष की लड़की लज्जा से भाग गई।

बहुत यत्न करके मैंने अपना मन, एक अपने बराबर की ही लड़की क मां बनने के लिये तैयार किया, किन्तु जिस समय उनके ही घर में चन्द्रिका ने मुझे "मां" कह कर सम्बोधन किया तो मेरा सर्वांग कांप उठा। जान पड़ा किसी ने मेरे कानों में, शीशा पिघला कर डाल दिया हो। रोकते हुए भी मेरे मुख से निकल ही पड़ा। "अगर मुझे मां न कहो तो?" चन्द्रिका ने शायद मेरा रुख समझ कर मुझे अपनी समस्त बुराईयों और भलाईयों के साथ सप्रेम ग्रहण कर लिया। मेरी चन्दर, मेरी बेटी।

"मेरे स्वामी"

मन की समस्त घृणा तिरस्कार और उपेक्षा को लेकर जब मैं पति गृह में आई, तो मन में सहस्र सर्पदंश की सी पीड़ा हो रही थी। जान पड़ता था मन की श्यामलता मेरे मन पर भी छाये जा रही थी। इच्छा हुई कि अपने नव परिणित पति के सम्मुख ही दो हाथ रस्सी जुटा कर फांसी लगा लूं। भारी मन से मैंने मन ही मन कहा—"नारायण, जब पिता की दुश्चिन्ता दूर करने को अपने इस दुष्ट मन की हत्या कर ही चुकी हूं, तो जिससे कभी किसी दिन भी यह जी न उठे, सो ही करना।" इन्हीं भावों के बीच मैंने देखा अपनी अप्सरा सी सुन्दरी लड़की चन्द्रिका को। न जाने क्यों इच्छा रहते हुए भी मैं चन्द्रिका की उपेक्षा न कर सकी। इच्छा हुई कि इस अपार वेदना समुद्र में यदि किसी तिनके का सहारा पा सकूंगी तो वह चन्द्रिका ही

होगी। चन्द्रिका ने मुझे सखि भाव से ग्रहण कर लिय, मेरी भव बाधा का अधिकांश कष्ट हर लिया। मुझे जान पड़ा कि इस घर में भी मेरी सांस घुटने का कोई विशेष भय नहीं है। चन्द्रिका ने मुझे अपने पिता की कई बातें सुनाई। जान पड़ा चन्द्रिका के पिता मेरे पिता की भांति ही निरीह हैं, सीधे हैं। पिता की याद से मेरी आँखों में आंसू छलछला आये। इस समय भी जान पड़ा उनकी भोला मूर्ति, खड़ी कह रही है—"सुरी, भगवान मुझे चाहे बड़े से बड़ा दण्ड दे, किन्तु तू किसी दिन भी स्वयं दुःख पाकर अपने वृद्ध पिता को कष्ट न देना, बेटा।"

मेरी आंखों के आँसू चन्द्रिका से छिपे न रहे, उसने सरल भाव से कहा—"जब से आई हो, तब ही से देख रही हूँ भला, अब इतनी देर पश्चात् आंखें भाग क्यों उठी बहिन?" उसके स्वर में इतना अधिक सहानुभूति थी कि मेरी आत्मा तक भीग उठी।

"नहीं, मुझे बहिन न कहो चन्दर, मैं तुम्हारी माँ बन कर ही आई हूं, मुझे इस घर में माँ बन कर ही रहना होगा, वैसा न कर सकने पर मुझे गला घोंट कर मर जाने को दो गज रस्सी जुटाने का कोई मार्ग भी रहेगा नहीं।"

"वैसा ही सही, किन्तु यह आंसू वेदना के हैं अथवा... ....." उसने कहा।

"केवल स्मृति के चन्दर। मेरे निरीह पिता क्या भूलने की वस्तु हैं?"

चन्दर चुप हो रही, किन्तु सुहागरात निकट आ रही थी। मेरा मन वेदना से आद्योपांत भरा जा रहा था। समय तो

किसी की प्र ीक्षा करता नहीं। धीरे-धीरे मुझे अपने स्वामी के निकट जा उपस्थित ही होना पड़ा। शायद उनका मन भी कुछ विशेष प्रसन्न न था, फूलों की भरी शैय्या मानो मुझे तो सहस्र जिह्वा से निगलने को लपक रही थी। स्वामी मुख लटकाये मानो कुछ सोच रहे थे। उनके मुख पर पड़ने वाले प्रकाश में मैंने उनकी प्रतिछवि देखी। मेरी अन्तरात्मा रो उठी। हाय, दुर्भाग्य स्वामी में मुझे अपने पिता की छवि ही दीख पड़ती थी। इच्छा हुई उस व्यक्ति के पैरों के निकट माथा पटक कर कहूं—'मैं नारी की जाति से हूं इसीलिये जब चाहो मनमाना अत्याचार तुम कर ही सकते हो, पर आज, आज भर के लिये मुझे क्षमा कर दो यही वरदान माँगती हूं।"

बहुत देर चुपचाप खड़े रहने के पश्चात् मुझे स्वयं ही अनुभव होने लगा कि मेरी आज की लज्जा अस्वभाविक है। जिसका स्थान ग्रहण करने के लिये मैं यहाँ उपस्थित हुई हूं—वह नववधु तो है नहीं। सदा सर्वदा के अपने निश्चित् अधिकार को ग्रहण करना ही जिसका निश्चय है, उचित है उनके स्थान पर आने पर भी यह नवीन अभिनय क्या रुचेगा। इतने कठिन कर्त्तव्यों का पालन करके आज यह भी मुझे स्वयं बढ़ कर करना ही होगा, यद्यपि यह मृत्यु-दण्ड से किसी प्रकार भी कम न होगा। मृत्यु की असह्य पीड़ा की कल्पना करते ही मैं सिहर उठी। शायद मेरे मुख से एक हल्की सी सांस भी निकल गई। स्वामी ने शायद मेरी द्वार के निकट उपस्थिति जान ली। बड़े ही प्रेम से उन्होंने मुझे हाथ पकड़ कर शैय्या पर बिठाया। उनके हाथ कांप रहे थे, किन्तु मैं अचेत प्रायः थी। मेरा तन मन समस्त रूप से, एक दम से खाली हो उ । था। मुझे जान भी

नहीं पड़ रहा था कि बाह्य जगत में क्या हो रहा था। मेरे स्वामी की शांत दृष्टि मेरे मुख पर ही स्थिर थी। यद्यपि मैं ज्ञान शून्य प्रायः हो रही थी, किन्तु जो कुछ भी जान सकी हूं लिख ही डालूंगी। ऐसा न करने पर कथा अधूरी जो रह जायेगी। हाँ, तो मेरी दृष्टि की शून्यता के सम्मुख ही उन्होंने कहा—"सुरभि जी ठीक नहीं है क्या ?"

मैंने उत्तर में क्या कहा, सो तो याद नहीं आता। किन्तु उन्होंने तुरन्त ही बड़े यत्न से कहा—"सुरभि और न बैठो। कल रात भी सो नहीं सकीं, थोड़ा सो लो।"

इस बार मैं चुप रही। उन्होंने नन्हें बच्चे की तरह मुझे पलंग पर लिटा दिया। ऊनी लोई को मेरे ऊपर डाल कर स्वयं पलंग के सिरहाने बैठ कर बोले—"सुरभि सो रहो, मैं तब तक बैठता हूं।" स्वर में नवयुवक का उदीप्त प्रेम न था; वृद्धगण की सी वात्सल्यता थी।

मैं पिघल उठी। कहाँ, यह अत्याचार तो है नहीं। एक बार इच्छा हुई कि उनके चरण पकड़ कर कहूं"—देवता मेरे! स्वामी मेरे! तुम्हारा उदार हृदय मेरे मन में आनन्द भर न सकेगा, फिर भी मन प्राण से यह शरीर तुम्हारा ही है, तुम्हें ही अर्पित है, केवल मात्र तुम्हें ही।" किन्तु कल्पना करके मैं स्वयं ही सिहर उठी—"ओह, इसी व्यक्ति को, जिसे मैं पिता की तरह भक्ति करती हूं, लेकर मुझे संसार करना पड़ेगा। छीः....."

बड़े यत्न से मैं इतना ही कह पाई—"और आप कहाँ सोयेंगे ?"

नववधू को शायद यह बात बतानी नहीं पड़ती। वह पूछती भी नहीं। शायद मेरे स्वामी भी प्रश्न सुन कर चकरा उठे। फिर भी कुछ सोच कर धीरे-धीरे बोले—"तुम सो रहो सुरभि, मैं आनन्द से सोफे पर दूसरी लोई लेकर सो सकूंगा।"

मैं सिहर उठी—"तुम देवता हो" मैंने मन ही मन कहा—"सचमुच ही यदि मैंने सुधीर को प्यार नहीं किया होता तो मैं तुम्हारे चरणों में अपने आपको समर्पित कर धन्य हो उठती।" "सो न होगा।" मैं उठ बैठी—"आप यहाँ सोवें, मैं आपके चरणों में भली प्रकार सो सकूंगी।" उन्हें शायद बहुत नींद आ रही थी, अधिक वाद-विवाद न कर वह पलंग पर सो रहे और मैं उनके सोने के पश्चात् निकट ही गलीचे पर लोई ओढ़ कर लेट रही। इस समय मन कुछ शान्त था। आज का दिन तो किसी प्रकार टल ही गया था। इच्छा हो रही थी कि उनके चरणों पर सिर रख कर एक बार हृदय में रो उठूं, पर वैसा कर न सकी। सारी रात सो भी न सकी।

कई बार उठ-उठ कर चांद की चांदनी से खिल रहे स्वामी का मुख देखा, उनके मुख पर न जाने क्यों मुझे वही छवि दीख पड़ती थी जो कि अपने पिता के मुख पर वर्षों से देखती आ रही थी।

बहुत दिन बीत गये किन्तु आज भी मेरी निराली सुहाग-रात मेरे मन में स्पष्ट हो उठी है। बहुत परिश्रम के पश्चात् मन पर बहुत जोर डालने पर जिस दिन मैं अपने विवाह की वेदी पर ग्रहण किये हुए स्वामी को आत्मसमर्पण कर सकी, उस दिन यद्यपि ग्लानि से मेरा मन भर रहा था किन्तु उनसे घृणा न थी। प्रेम तो मैं शायद किसी दिन भी न कर सकूंगी, किन्तु

मैंने प्रसन्न मन से इस निरीह व्यक्ति का समस्त भार स्वेच्छा से अपने ऊपर ले लिया।

मेरे मन के स्वामी वह किसी दिन भी बन सकेंगे यह तो नहीं जानती, किन्तु स्वजन पर जो सहज ममता की जाती है उससे मैं बलपूर्वक भी उन्हें वञ्चित नहीं कर सकती।

कई दिन बाद जब मैं अपने स्वामी के लिये बड़े यत्न से स्वयं परवल की भाजी तैयार करने रसोई में गई थी तो न जाने किधर से आकर चन्दर बोल उठी—'मां, रिश्ते में छोटी होते हुए भी आशीर्वाद देती हूं कि तुम्हारा सौभाग्य अचल हो।"

मैंने हंस कर मन ही मन कहा—"चन्दर, आशीर्वाद दो कि शीघ्र ही यम से योग हो।" प्रकट यही कहा—"यही कहो कि शीघ्र ही मुक्ति हो।"

"छीः, मां ऐसा भी कोई कहता है। तुम जो अपने स्वामी को इच्छा, आदर और आग्रह से ग्रहण करके अपने साथ असह्य अत्याचार कर रही हो, सो क्या मुझसे छिपा हुआ है।" उसने कुछ देर पश्चात् फिर कहा—"नारी की वेदना नारी की दृष्टि से छिप नहीं सकती, मां सो तुमसे छोटी होते हुए भी मैं जानती हूं।"

अपनी आंखों के आंसू छिपाने को मैं जल्दी से उठ कर कढ़ाई लेने चली गई।

महाराजिन पास बैठी ही बैठी बोली—"बिटिया, बहू तो मानती ही नहीं। भला मैं क्या उन्हें अन्दर जाने देती थी।"

महाराजिन बहरी थी। कुछ जोर से चन्दर बोली—"महाराजिन बूढ़ी हुई, यह बुद्धि कहीं से मांग ही लाती कि नई

बहू को रसोई में जाने नहीं देना होता है।" चन्दर महाराजिन को चिढ़ा रही थी।

महाराजिन घबरा कर जोर जोर से कहने लगी—"बिटिया, जिसे देखो मुझे ही डांटता चला आता है। अब वह रानी हैं, उन्हें मैं क्या कहूं? मेरे जले हाड़ भला किस दिन काम आवेंगे, अगर मैं रानी से काम करवाऊँ।"

महाराजिन रुआंसी सी हो उठी। शायद और कुछ बड़-बड़ाती, पर मैं बीच में ही बोल उठी—"चन्दर, क्यों उसे छेड़ रही है?"

चन्दर बहुत ही हास्य प्रिय थी, पर इस समय कुछ गम्भीर होकर बोली,—"चलो, आज मैं निश्चिन्त हुई, जिनका जो अधिकार था वह उन्होंने इच्छा से स्वयं ही ग्रहण कर लिया।"

मैं सुन चुकी थी कि सुधीर का विवाह चन्दर .....इसी चन्दर से हुआ है। कभी कभी विद्वेष की आग भी मेरी छाती की अन्धकारमयी गहराई में जल उठती थी, पर फिर भी वह मेरी बेटी है न? ओह! कितना कठोर विधि का उपहास है और कितने चुपचाप मुझे विधि का यह निष्ठुरता सहनी ही पड़ेगी। और उपाय ही क्या है? सरल चित्त से उस समय भी मैं चन्दर की बात ग्रहण न कर सकी।

"जिसका जो अधिकार है वह उसे मिलता ही कहाँ है?" मेरा स्वर कुछ ऐसा रुखा था कि चन्दर अवाक् रह गई। उसकी सौंदर्य मूर्ति मेरी आंखों में खटक रही थी, मैं सोचती थी कि सुधीर शायद इस सौंदर्य पर ही मिट गया। शायद यही ईर्षा का भी कारण था, किन्तु भ्रम अधिक दिन नहीं रहा। जो भी कुछ

हो उस समय चन्दर मेरा भाव बिना समझे ही कह गई—"जो जिसका अधिकार है मां, वह उसे एक न एक दिन मिलेगा ही। हो सकता है कि प्रभु के राज्य में देर हो, किन्तु अन्धेर हो, ऐसा नहीं हो सकता।"

विशेष बात करने की मेरी इच्छा न थी, छाती के भीतर कुछ जल सा रहा था मैंने कहा,—"चन्दर नहा आओ। आओ फिर तुम्हारे पिता का भी भोजन परोस दूं, साथ ही साथ दोनों खा लो।"

"और तुम ?"

"मेरा आज व्रत है।" सौभाग्य से उस दिन मंगलवार था। यद्यपि व्रत करने की इच्छा मेरी न थी, पर भोजन उस समय और भी अधिक कटु जान पड़ता था। अतः व्रत कह कर ही छुट्टी लेनी चाही। चन्दर व्रत के विषय में कभी एक शब्द भी नहीं कहती थी। यद्यपि करवा-चौथ के अतिरिक्त उसने और कभी कोई भी व्रत न किया था। व्रतों पर उसका विश्वास भी न था। करवा भा वह कहती थी कि इस विश्वास से कर लेती हूं कि शायद अगले जन्म में इसके प्रताप से स्वामी को बिना ही किसी विघ्न-बाधा के प्राप्त कर सकूं। एक दिन उसका यही उत्तर सुन कर मैं जल उठी थी। किन्तु इसमें उसका क्या दोष ? बिचारी साध्वी भोली कल्याणमयी नारी प्रतिमा ! आज मेरा उससे कोई द्वेष भी नहीं। अपनी आत्मा पर, अपने मन पर, मस्तिष्क पर घनघोर अत्याचार करके भी जो स्वामी पर अविश्वास नहीं कर पाई, सचमुच ही उसके अधिकार का दावा मेरे दावे से कहीं बड़ा है, यह निर्विवाद सत्य है।

"चन्द्रिका"

ज्यों-ज्यों चन्द्रिका के निकट मैं आती गई उसको अधिकाधिक अपने निकट ही पाती गई। कितनी मोहक थी वह, सो तो मैं ही जानती हूं। मैं उसे समस्त हृदय से घृणा करने का यत्न करती थी। उसी ने तो मेरी वस्तु पर अधिकार कर लिया था किन्तु न जाने क्यों उसका पवित्र हृदय मुझ से बरबस ही प्रेम खींच लेता था। वह आज वही सब कुछ लेकर आनन्द प्राप्त कर रही है जो किसी दिन सहज ही मेरा हो जाता। पहले दिन मैं ईर्षा से जल उठी थी, यह सोच कर कि यह उसे प्राप्त हुआ है पिता की लोहे की तिजोरी और बैंक बैलेन्स के जोर पर, कुछ अपने रूप-गुण के कारण नहीं। किन्तु कुछ ही दिनों मे मुझे भूल ज्ञात हो गई।

मन के चारों ओर पहरा न देकर जो उसे सदा सर्वदा सब के लिये ही प्रेम सहानुभूति और अपनेपन के लिये खोले रखती है उन्हीं की जाति की यह चान्द्रिका भी थी। सुधीर ने मेरा अपराध किया था और मैं उसे किसी क्षण भी क्षमा न कर पाई। किन्तु जान पड़ता है चन्द्रिका की ऐसी भक्ति देख कर अटल, अविचल विश्वास देख कर उसके पति पर क्रोध रख सके ऐसी शक्ति सारे विश्व भर में शायद किसी में भी नहीं है, स्वयं मुझ में भी नहीं।

सहज ही चन्दर मेरी शत्रु से पुत्री बन गई। मैं सचमुच ही उससे प्रेम करने लगी। शायद उसे प्रेम न करने की शक्ति मुझ में नहीं थी।

जिस दिन मुझे जान पड़ा कि मेरे विवाहित जीवन का मधुर फल, नहीं आवश्यक फल, मेरे सम्मुख आने वाला है तो मैं काँप उठा। ओह! जिसकी सन्तान को अपने शरीर में पाल रही हूं वह मेरी केवल मात्र रूखी सूखी भक्ति के पात्र हैं। उन्हें मैंने आदर किया है, किन्तु प्रेम किसी दिन भी नहीं कर सकी हूं, उन्हीं की सन्तान आज मेरे गर्भ में है।

चन्दर उस दिन वहीं थी। इच्छा करके भी मन की व्यथा रिश्ते की बेटी के आगे प्रकट न कर सकी। अत्यन्त व्यथित सी होकर चन्दर ने एक दिन पूछा—"माँ तुम्हें आज-कल हुआ क्या है? बिलकुछ ही चुप रहती हो।"

शायद मैं उस दिन जल उठी। इच्छा हुई कह दूं—"पूछो जाकर अपने पिता से जिन्होंने मुझे कहीं का भी न रखा और उससे भी अधिक पूछो जाकर उस कठोर, लोभी, हृदयहीन व्याक्त से जिसे आज दिन भी तुम देवता की तरह पूजती हो।"

कहीं कह न बैठूं इस डर से मैंने बड़े जोर से अपनी जिह्वा दाँतों तले दबा ली। कुछ स्थिर होकर बोली—"चन्दर मेरी तबीयत ठीक नही रहती है।"

"क्यों माँ? कहो तो डाक्टर वर्मा को बुलवा लूं।"

"नहीं, नहीं आवश्यकता नहीं।" बात साधारण सी ही थी, किन्तु मुझे जान पड़ा कि मेरा स्वर कुछ अधिक कठोर हो उठा है। स्वयं मेरे कानो में वह खटक उठा। चन्द्रिका शायद यह जान ही न सकी।

साधारण स्वर में बोली—"यहाँ जी तो लग गया है न मां ? वैसे जगह तो छोटी ही है ।"

"मुझे जगह से क्या लेना है चन्दर ? दो हाथ भूमि जहाँ मिल गई वहीं जी लग जाता है ।"

इस बार कठोरता का पुट तो लेश मात्र भी न था, किन्तु स्वर में शायद वेदना प्रचुर मात्रा में भरी थी। चन्दर कुछ रुककर बोली,—"मां तुम इतना निराश क्यों रहती हो ? तुम्हें हमारा घर भला नहीं लगता क्या ?"

"बिटिया, तुम्हारा घर क्यों बुरा लगेगा ? किन्तु तुम्हारा घर यह है कहाँ ? जिस घर की तुम राजरानी हो....."
स्वर कटुता की सीमा तक पहुँच गया।

अच्छा ही हुआ जो चन्दर झेंप कर भाग गई, नहीं तो उस दिन मेरे हृदय का विष छिपा न रहता। खैर, जलना, घृणा, ग्लानि और अपमान की भावना में ही मेरे कठिन आठ मास बीते। कुशल यही हुई कि चन्दर वहाँ थी नहीं और मेरे भोले स्वामी मानव मनोविज्ञान के पण्डित न थे। जानती नहीं कभी उन्होंने मुझे प्रेम किया था अथवा नहीं, किन्तु वात्सल्य उनका था ही। जिस दिन उस नन्हीं सी लड़की ने मेरे जीवन में प्रवेश किया जिसे चन्दर बड़े प्यार से गिरजा कहती थी, मुझे जान पड़ा कि उस ही दिन मेरे जीवन के कर्तव्य की इति श्री हुई। सचमुच ही बालिका को देख कर मुझमें ममत्व की सृष्टि नहीं हुई, सो तो कह सकूंगी नहीं, किन्तु फिर भी मैं उसे न जाने किस लज्जा, किस ग्लानि से जी भर कर प्यार न कर सकी। सच्चे हृदय से ही जिस दिन उसे चन्दर की गोद में डाल कर मैंने कहा—"सच ही चन्दर यह मेरी लड़की नहीं,

तुम्हारे पिता की लड़की और तुम्हारी बहिन है।" तो मुझे जान पड़ा कि मैं स्वयं अपने आपको भी सफलता पूर्वक धोखा दे गई। चन्दर हंस कर बोला—"सा तो है ही।" शायद वह समझी ही न थी, पर उसने बड़े प्यार से उसे पुकारा—"गिरजा।" मैं हंस पड़ी। मैंने ठीक ही कहा—"मेरे गर्भ से यदि सचमुच गिरिजा ही जन्म धारण करे तो मैं धन्य न हो जाऊँ।"

"मां, मेरी यह नन्ही बहिन तो साक्षात उमा का ही स्वरूप है। उसमें सन्देह करना क्या तुम्हें शोभा देता है?" वह मानसिक उत्तेजना से कह उठी, किन्तु मन में व्यथा भरे हुए ही मैं चुप रह गई।

गिरजा मेरी सन्तान ही तो थी, किन्तु न जाने क्यों कुछ दिन पश्चात् जब चन्दर अपनी गोद में एक नन्हीं सी बाल प्रतिमा को लेकर मेरे द्वार पर उतरी तो मुझे वह अधिक आकर्षक जान पड़ी। सुधीर ही मेरे जीवन का भयङ्कर अभिशाप था, किन्तु न जाने क्यों उसके प्रति ही मेरा सब से अधिक आकर्षण था। उसकी सन्तान को देख कर मेरा हृदय अत्यधिक आनन्द से भर उठा। बालिका थी भी अत्यन्त सुन्दर सी। उसे देखते ही मैं लाचारी से वक्षस्थल पर चिपटा कर ठक सी खड़ी रह गई। न जाने क्यों एक क्षण को मेरी इच्छा होने लगी कि वह बालिका चन्दर की है ही नहीं। चन्दर का इस सब पर कुछ अधिकार नहीं। चन्दर बस एक मात्र धोखा ही है। सत्य केवल यही है कि यह नन्हीं सी बच्ची मेरी, केवल मेरी ही है।

चन्दर कुछ क्षण यह व्यापार देख कर हँस पड़ी खुल कर बड़ी जोर से—"माँ मुन्नी को देख कर हमें भी भूल गई, बड़ी हो जाने पर शायद मेरी जरूरत भी न रहेगी। क्यो माँ?"

मैं उत्तर न दे सकी, उत्तर दे सकने योग्य मेरी मानसिक अवस्था ही न थी। समस्त मन विषाद से भर उठा था। यही इच्छा होती थी कि इस नन्हीं मन्नी के अतिरिक्त और किसी को भी न देखूं, किसी से भी न बोलूं। सन्ध्या तक मैं चन्दर से भी खुल कर बोल न सकी। न जाने चन्दर ने इस परिवर्तन पर ध्यान दिया या नहीं। पर मैं स्वयं ही अपने निकट बहुत ही लज्जित हो उठी। इसका नाम चन्दर ने शैलजा रखा था। मैंने एक दिन हँसी में कह दिया—'वाह भई चन्द्रिका की पुत्री ज्योत्सना या ऐसी ही कुछ होनी चाहिए, यह शैल की पुत्री कैसे जा बनी।"

चन्दर ने हंसा को प्रसन्न मुख से नहीं ग्रहण किया। शायद उसके चेहरे का रक्त एक क्षण में ही सूख कर राख हो गया। धीरे-धीरे मानो अत्यन्त कष्ट से बोल रही हो बोली—"माँ ज्योत्सना होने पर भी नारी तो रहेगी ना? तब फिर क्षणिक ज्योत्स्ना का सौन्दर्य न लेकर उसमें माँ शैलजा जैसा धैर्य भर सके वही भला है। ज्योत्सना बन कर वैसा भाग्य भी तो पाना होगा न?"

मुझे चन्द्रिका के स्वामी का उत्कट लोभ अविदित न था। पिछले कुछ दिनों में वह जिस प्रकार धन के लिये मेरे स्वामी के पीछे पड़े थे, सो भी मुझे मालूम था। कई बार अनुरोध करने पर अपने स्वामी का उत्तर भी प्रायः मुझे कण्ठस्थ हो गया था। "मेरी गुटरू को पाकर भी जो सन्तुष्ट न हो सका, गुरो, धन देकर उसकी तृष्णा और जागृत ही हो सकती है, कुछ शांत नहीं।" फिर भी चन्दर के अटल विश्वास के सम्मुख इन सब वस्तुओं का रङ्ग फीका पड़ जाता है, यह भी मुझे ज्ञात था।

आज तक कभी मुख से शिकायत न करने वाली इस अद्भुत नारी की वेदना भरी चुभती व्यङ्ग वाणी मेरे मन में उतरती चली गई। कुछ ईर्षामय आनन्द भी हुआ, किन्तु तुरंत ही वह आनन्द वेदना से कड़वा हो उठा।

स्वाभाविक स्वर में अर्द्धचेतनवस्था में ही मैं कह उठी—"मेरी चन्दर के भाग्य की बराबरी संसार भर की और कौन नारी कर सकती है?"

चन्दर की छाती पर शायद यह असह्य आघात की तरह लगा, वह तड़फ उठी।

"चन्दर का भाग्य कैसा ही क्यों न हो माँ।"

वह सम्भल कर बोली—"युग-युगान्तर से नारी का भाग्य जो अश्रु अक्षरों से ही लिखा जाता रहा है, उसे कौन मेट सकता है? देवी सीता, सती पाषाणी, दुःखिनी यशोधरा, मूक उर्मिला सब ही का तो यही भाग्य था। इसे कौन मेट सकेगा। फिर भी जिसमें मां, उमा की भांति दूसरा जन्म ग्रहण करके भी शिव प्राप्ति की शक्ति हो वही धन्य है। मां, मेरी लड़की राजरानी हो, माँ की यह इच्छा स्वाभाविक ही है, किन्तु मेरी यह तनिक भी अभिलाषा नहीं है। मेरी बच्ची तो समस्त दुःखों को भी छाती पर सहते हुए मुख न बिगाड़े, मन मैला न करे, यही मेरी अभिलाषा है। सहज ही नारी के भाग्य को ग्रहण कर सके, ग्रहण करके भी रोये नहीं, चिल्लाये नहीं वरन् चिर कठोर मुस्कान के भीतर नारी का समस्त दुःख-दर्द पी जाये। कठोर साधना के बीच उमा को भाँति ही स्वामी का वरदान पा सके, यही मेरी एक अभिलाषा, एक मात्र लालसा है।"

कहने का स्वर कुछ इतना करुण था कि मेरी आँखें बरबश बरस पड़ीं। कुछ शान्त सी होकर मैं बोली—"नारी की इतनी सुन्दर व्याख्या तुम्हीं कर सकती हो। किन्तु चन्दर तुम्हारे नारीत्व का रूप समझ सके, ऐसे कितने व्यक्ति मिलेंगे विश्व में ?"

चन्द्रिका हँस पड़ी—"न मिलने पर भी तुम्हारी अबाध्य लड़की उन्हें ढूंढने तो जायगी नहीं मां।"

जान पड़ा कि चन्द्रिका अब उस विषय को ही उड़ा देना चाहती है। क्यों ? सो तो मैं जान न सकी, किन्तु फिर भी उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ करने की मेरी प्रवृत्ति न थी। मेरी स्वयं भी इच्छा बातचीत करने की नहीं हो रही थी। अतः हँस कर बोली—"ले भई, अपनी गिरिजा शैलजा को तू ही सम्भाल। यहाँ तो एक तुझ को ही बड़ा कर दिया, यही क्या कम है। अब यह अबाध्य लड़की हो बाकी छोटी लड़कियों की अभिभाविका बन कर इनका भार ले लेवे, यही उचित है।"

"देखूं माँ" पापा के लिये कुछ चाय-वाय बनी है या नहीं। अन्दर आते ही होंगे।"

"आज आई हो तो कुछ इस घर का भी भार लेलो, यह ठीक ही है।" कह कर मैं भी उसके साथ ही शैल को गोदी में लिये ही चली गई।

"सुहाग या दुर्भाग्य"

उस दिन चन्द्रिका का वैभव, उल्लास, सुहाग भरा पत्र पढ़कर ईर्षा से मेरा हृदय जल रहा था। चन्दर ने लिखा था एक स्वप्न सा जिसमें टपक रहा था, भरा हुआ था, छलक रहा

था, उसका अनुपम सुहाग सुधीर का स्वर्गीय प्रेम। मैं जल उठी। बरबस मेरी आँखों से कुछेक आँसू टपक पड़े। मैं उन्हें समेट कर आंचल में बांधना नहीं चाहती थी। अतः यूं ही बिखर जाने दिया। जो ही नहीं चाहा हाथ उठा कर उन्हें पोंछ डालने को। मन शायद एक बारगी क्रोध, क्षोभ और अभिमान से भरा हुआ था। सोच ही रही थी कि एक दिन यह प्रेम भरा हृदय मेरा था और आज उसी के लिये चन्दर मेरी पुत्री उल्लास मना रही है और मैं उसकी मां विरहिनी बन उसी निष्ठुर सुधीर की याद कर रही हूँ।

यह याद भी मेरे लिये पाप है, मेरे जीवन का अदृश्य अभिशाप है। इसे मुझे भोगना ही पड़ेगा। इच्छा होती थी कि सृष्टि भर को भयंकर अग्नि बन कर भस्म कर दूं। जीने की इच्छा न होते हुये भी मुझे जीना ही पड़ेगा, यही सोच कर मैं क्रोध से और भी जल रही थी। आंसू न सूखे थे और उन्हें जल्दी सुखाने की अभिलाषा ही थी कि सीढ़ियों पर पदध्वनि सुनाई दी।

अपने शास्त्रोक्त पति की पदध्वनि मैं पहचानती थी। यह वही थे, मैं घबड़ा सी उठी। अभी उनके आने का समय तो था ही नहीं। गिरिजा कमरे में नहीं थी। दाई के पास दूसरे कमरे में थी। यदि होती तो उसका सहारा लेकर ही इन जले आंसुओं को छिपा जाती। कुछ और न सूझ सकने पर और पदध्वनि लगभग द्वार पर आजाने पर मैं झपट कर स्नान गृह में घुस गई। स्वामी शायद कमरे में आकर मेरी प्रतीक्षा में बैठ गये। इस बार मैं इच्छा पूर्वक अच्छी तरह रोई। मुझे स्वयं ही लज्जा आरही थी इस स्थिति पर।

छी: वेदना से रोती हूँ किन्तु अपने सर्वप्रिय सर्वाधिक पूजनीय स्वामी के नेत्रों की ओट में। कैसी भयकर विडम्बना है और इसी विडम्बना पूर्ण भाग्य को लेकर मैं घर बार करने आई हूँ। इस विधाता के निष्ठुर परिहास का कहीं अन्त भी है, ऐसा तो जान पड़ता नहीं किन्तु उसी कठोर हास्यध्वनि के बीच मुझे आल्हाद, उल्लास मनाना पड़ेगा। इन्हीं आंसुओं के बीच मुझे बसन्त बनाना होगा। बाहरे, मेरा बसन्त। कितना छलमय मेरा जीवन है मुझे जीवन में पहली बार ही जान पड़ा। अन्तरतम की पीड़ा घनीभूत हो उठी। फिर भी मुझे उठ कर मुख धोना पड़ा। दर्पण में मुख देखा तो मैं स्वयं ही चीख पड़ी। लज्जा से मानो आंखें ऊपर से उठती ही न थी। तौलिये से खूब रगड़ रगड़ कर वेदना के धब्बे गालों पर से पोंछ डालने चाहे किन्तु जान पड़ता था कि वह अमिट हो हैं। फिर भी किसी प्रकार बाल ठीक करके बाहर निकली। शायद इसी बीच में आधा घण्टा बीत चुका था। डर रही थी कि पूछने पर कहूंगी क्या? धोखा करके छलमय जीवन ले करके भी झूठ बोलने का मुझे अभ्यास न था। किन्तु जिस समय मैं स्वामी के पास पहुंची तो जान पड़ा प्राण बच गये।

उनका ध्यान बिल्कुल भी मेरी ओर न था। न जाने कैसा सूखा सा मुख लिये आराम कुर्सी पर खिड़की से बाहर आकाश की ओर दृष्टि जमाये बैठे हुये थे। आँखें बिल्कुल निर्जीव सी जान पड़ती थी। देखते ही मैं समझ गई किसी गम्भीर चिन्ता में निमग्न हैं। न जाने क्यों मुझे इस निरीह व्यक्ति पर जिसे कभी भी प्यार न कर पाई थी, यत्न करके भी नहीं दया हो

आई। स्नेह भरा, ममत्व से भरा, स्वर लेकर बोली—"आज इतनी जल्दी कैसे आगये ?"

उनका ध्यान शायद मेरे स्वर पर न था फिर भी मुख उठा कर बोले—"सुर्रो यह क्या हो रहा है ?" स्वर में करुणा होने पर मैं काँप उठी। मुझे जान पड़ा कि मेरे मनके पाप को सहस्त्र गुणा बड़े आकार में इन्होंने पढ़ लिया है। किन्तु साथ ही उन्होंने एक मुड़ा हुआ सा लेटर पेपर पर लिखा पत्र मेरे पैरों के पास ही डाल दिया। आश्चर्य से भरकर मैंने उठा कर पढ़ा। सचमुच ही पढ़कर मैं चकित रह गई। सुधीर का ही पत्र था। आद्योपान्त केवल मात्र धन की उचित अनुचित मांग से भरा पड़ा था। जान पड़ता था कि चन्दर से विवाह करके उसने संसार में सब से अधिक पुण्य कार्य कर डाला है और उसका मूल्य चन्दर के पिता को चुकाना ही होगा। क्षण भर पूर्व की ईर्षा अचानक ही दया में परिवर्तित हो उठी। चन्दर का सरल मुख मेरे सम्मुख नाच उठा। सचमुच ही सच्चे हृदय से मैं कह उठी—"चन्दर, बेटी मेरी।" आंखें तो मेरी यों ही सजल हो रही थीं और भी भीग उठीं। मेरे पति सदा शान्त ही रहते थे शायद मेरे स्वर से चौंककर बोले—"क्या करना होगा सुर्रो ?"

उनके स्वर में भारी करुणा छिपी हुई थी। कुछ क्षण स्थिर दृष्टि से ताकते हुये मैं स्थिर वाणी में बोल उठी—"न हो एक दो कोठियाँ उन्हें ही दे डालो। चन्दर का भविष्य धन के पीछे न बिगड़ जाये।"

"धन का लोभ नहीं करता सुर्रो, किन्तु इससे भी गुटरू के लिये सुख खरीद सकूंगा क्या ?"

सुधीर की लोभवृति मुझसे छिपी तो थी ही नहीं फिर भी मैं चुप ही रही। वह फिर कहने लगे—

"गुटरू की माँ इस सम्बन्ध के लिये राजो न थी। किन्तु न जाने मेरी आँखों पर क्यों पर्दा पड़ गया था। बुद्धि पर पत्थर पड़े थे।" कुछ देर चुप रहकर वे कहने लगे—

"नारी होकर घर में बैठी हुई ही जो वस्तु वह देख सकी, पुरुष होकर भी वह मैं नहीं देख पाया। मेरी अभागी बच्ची!" बहुत ही अस्थिर होकर कुर्सी की पीठ से उन्होंने सिर टिका दिया।

मैं मन ही मन कह उठी—"पुरुष हो, तभी ही तो संसार की अनेक वस्तुऐं नहीं देख पाते। जिस अभिमान को लेकर पुरुष अन्धा हो जाता है, उसी को त्यागकर नारी चुपचाप सब कुछ ही देख पाती है।"

उनसे कह नहीं सकी किन्तु स्वभावतः उन पर ममता बहुत सी हो उठी।

"फिर भी जमाई को सन्तुष्ट करना ही उचित है।" मैंने पक्की गृहिणी की भांति कहा।

"वह क्या हमारे वश की बात है। सुरो, चन्दर का ही तो सब कुछ है, किन्तु गिरजा के लिये भी रखना ही होगा। चन्दर की बहिन को रास्ते की भिखारिन तो बना सकूंगा नहीं। फिर यह सब कुछ तो अब तुम्हारा है। तुम निर्लोभ हो, जानता हूं, फिर भी जमाई के हाथ में सब कुछ तो सौंप सकूंगा नहीं।"

सीधे सादे व्यवहार-कुशल व्यक्ति की भांति वह बोल उठे।

मैं मन ही मन रो उठी—अत्यन्त व्यथा से। जिसका अन्न पेट में डाल पाती हूँ, जिसकी सन्तान को गर्भ में पाल सकना भी हृदय फटे बिना कैसे हो गया सो नहीं जानती, उसके धन पर मेरी ममता होगी भी कैसे ?

शायद यह वह समझ सकेंगे नहीं, किसी तरह भी नहीं। मेरे मिट्टी के माधव, मेरे पत्थर के देवता यदि किसी दिन भी यह जान पाते कि इस घर के किसी तिनके मात्र पर भी मेरी किसी दिन भी ममता हुई ही नहीं तो यूं सहज ही यह चर्चा न चला पाते, किन्तु मेरा हृदय व्यथा से भर उठा। अनजाने ही उन्होंने वहाँ चोट पहुँचा दी, जहाँ की चोट मेरे जीवन की सब से कठिन पीड़ा थी।

न जाने क्यों मेरी सारी झल्लाहट उस निरीह व्यक्ति पर बरस पड़ने को ही लालायित हो उठी। मैं कठोर स्वर में बोली—"चन्दर मेरी बेटी है और गिरजा भी। एक के सुदूर स्थित अनिश्चित भविष्य के लिये दूसरे का निश्चित भविष्य नष्ट करने की सलाह दूं ऐसा तो मुझ से हो सकेगा नहीं। रही मेरी बात, सो उसकी चिन्ता न करने पर भी कोई विशेष हानि होने की सम्भावना नहीं है।" आवश्यकता से अधिक अपने ऊपर अत्याचार कर चुकने के बाद मैं बड़े से पलङ्ग के एक किनारे पर थकी हुई सी बैठ गई।

"कितना बड़ा मन लेकर इस घर में तुम आई हो सो क्या मैं जानता नहीं हूं ? लक्ष्मी बहू ! किन्तु केवल इसी लिये तुम पर मनमाना अत्याचार कर सकूं यह भी तो मेरे वश की बात नहीं।"

अपनी प्रशंसा मेरे कानों में खटक उठी। जान पड़ा कोई बरबस शीशा पिघला कर दोनों कानों में डाल रहा है। अपने को संयमित करके मैंने कहा—"किन्तु इन्हें उत्तर क्या दोगे ?"

"कुछ भी नहीं।"

"दाई माँ कहती थी, चन्दर का वहाँ अब वैसा आदर नहीं रहा है।"

इस बार वृद्ध की आँखें भर आईं। सामने दीवार पर चन्द्रिका की मां की वृहदाकार फोटो लगी हुई थी। स्थिर दृष्टि से उसी की ओर देख कर वह कह उठे—"देखती तो हो बहू कितना दुष्ट निकला यह सुधीर। मैंने इसे क्या नहीं दिया, फिर भी सन्तुष्ट नहीं होता, लोभी। हां, हाँ तुमने तो कहा ही था।" छीः, सदा के शान्त व्यक्ति की यह अस्थिर वृत्ति देख कर मैं कुछ घबड़ा सी गई।

"मेरी तो राय है कि श्रीनगर वाली कोठी तो दे ही डालो। न होगा कुछ दिन तो चन्दर के शान्ति में बीत जायेंगे।"

"हां, और फिर वही खून मुंह लगने वाली बात होगी।"

"तब ?"

"सोचूंगा।" कह कर वह फिर उठ कर चल दिये। रोकने की मेरी इच्छा ही नहीं हुई।

मुझे स्वयं स्थिर होने के लिये समय की आवश्यकता थी। उसी समय मुझे याद आई कि इसी व्यक्ति, चन्दर के पिता की, एक और सन्तान मेरे गर्भ में पल रही है। मैं हाहाकार

कर उठी। पलङ्ग पर लेट कर ही जी भर के रो ली। "हे सृष्टि नियन्ता! चन्दर के दुर्भाग्य की सृष्टि यदि मेरे द्वारा ही होती है तो और चाहे जो हो मेरे गर्भ से इस अतुल धन का स्वामी उत्पन्न न हो। मेरे भगवान, तुम ऐसा करके कहीं उसके दुःख का बोझ बढ़ा न देना, नारायण।"

किन्तु उस समय मैं क्या जानती थी कि चन्दर के पिता का पुत्र ही मेरे गर्भ में अलक्षित रूप से बैठा था। जिस दिन उस अभागे प्राणी का मुख मैंने पृथ्वी पर देखा उसी क्षण न जाने क्यों जान पड़ा कि मानो मैंने ही चन्दर की हत्या कर डाली हो। किन्तु उस प्रश्न की मीमाँसा जल्दी ही होगई। चन्दर कुछ ही दिन बाद घर, अपने घर आई। और जाते समय दृढ़ता पूर्वक कह गई "मां और चाहे जो करो अपनी इस अभागी लड़की के साथी का स्नेह उसकी पत्नी के लिये धन द्वारा खरीदने का यत्न न करना। जाने या अनजाने में जिस दिन भी ऐसा करने का यत्न करोगी तो मैं अवश्य ही वह जान जाऊंगी और ऐसा होने पर तुम्हारी लड़की को सृष्टि भर में कहीं उस कलंक को धो डालने के लिये जल न मिलेगा, ऐसा न समझना।"

आश्चर्य से मैंने कहा—"स्वामी के स्नेह, आदर पर क्या तुम्हें तनिक भी लोभ नहीं चन्दर।"

मृत्यु की भयानक चीत्कार से भी कहीं अधिक करुण, कठोर और भयानक हंसी मुख पर लाकर चन्दर बोली—"किन्तु वह खरीदा नहीं जाता, माँ। स्वामी के मन के निकट जिस दिन अपना आसन रिक्त पाऊंगी उस दिन फिर नारी के लिये प्रयत्न

करने को भी क्या रह जायेगा। बनिये की डण्डी से तोल कर दिया हुआ प्रेम ग्रहण करने से तो उसका गले में आञ्चल फंसा कर मर जाना ही अधिक श्रेयस्कर है।"

आयु में छोटी इस लड़की के निकट प्रेम की व्याख्या सुनकर मैं चकित रह गई। मैं अपनी ही व्यथा से जल रही थी, आखिर पूंछ बैठी जिज्ञासा भाव से—"तब क्या स्वामी के घर, सन्तान किसी पर भी तेरा तनिक सा भी लोभ नहीं है, चन्दर ?"

"जो सौभाग्यवती नारी हैं उनके लिये यह प्रश्न होता ही नहीं। स्वामी का करके लोक और परलोक में उसका कुछ भी नहीं होता। जो कुछ भी होता है उसमें स्वामी नारी का भेद होता ही कहाँ है ? जिस दिन इस भेद की सृष्टि होती है उसी दिन नारी नारित्व खो बैठती है। जहाँ जाकर अपने और पराये की व्याख्या नहीं हो पाती, वहीं तो मां, भारत की रमणी गृहिणी बनकर आ बैठती है। भारत की कन्या तेरह वर्ष की आयु में ही जब गृहस्थी का भार उठा लेती थी तो वहीं से उसकी यह शिक्षा आरम्भ हो जाती थी। तब ही तो अपने पराये की सीमा को अतिक्रम करके वह एक दिन में ही इतनी छोटी आयु में ही साम्राज्ञी हो उठती थी।"

"किन्तु मैं तो ऐसा कर पाती नहीं चन्दर।"

"खूब कर पाती हो मां। ऐसा न कर पाती तो आयु में बराबर की जिसे पुत्री कहना भी हास्यास्पद है उसे इतनी सरलता से सन्तान रूप से ग्रहण न कर पाती मां!" मैं उत्तर ही क्या देती। कहने को शेष रहा ही क्या था। वह कहती गई—

"अपने को धोखा न दो, सचमुच ही जितना तुम्हें मैं समझ पाई हूं क्या तुम भी कभी स्वयं को समझ पाओगी ?" वह

जोश में कहती गई किन्तु मैं सुन न सकी। घोर व्यंग दुःख और अवज्ञा भरी मेरी खिलखिलाहट से कमरा भर उठा। चन्दर अप्रतिम हो उठी। मैंने कहा—"यह चारणों की सी स्तुति करना होम स्कूल में सीखा है क्या ?"

पर शीघ्र ही अपने परिहास पर मैं स्वयं लजा उठी। मैंने मन ही मन कहा—"चन्दर तुम सती हो, साध्वी हो, पतिव्रता हो। इस कुलटा मां की तुम पर कहीं छाया भी न पड़ जाये, यही आशीर्वाद देती हूं। तुम मेरे जीवन का छल क्या जानोगी किन्तु जान पाओ तो भी समझ पाओगी ही नहीं। और मैं भी समझा कर तुम्हारा मन भारी नहीं करूंगी।"

रात में एकान्त होने पर मैंने चन्दर के पिता को भली प्रकार समझा दिया कि चन्दर इस घर का एक तिनका भी स्वामी के घर में, अपने घर में, आदर खरीदने के लिये स्वीकार कर सकेगी नहीं।

चन्दर के पिता चन्दर को जानते थे। आज यह मुझसे भी कुछ छिपा नहीं रहा कि सुधीर अभागा है और अभागा ही रहेगा। रत्न पहचानने की न उसमें बुद्धि है और न योग्यता।

"दुर्भाग्य"

मेरे गर्भ जात नन्हे शिशु का जन्म और मेरी बेटी चन्दर का दुर्भाग्य शायद साथ ही साथ आरम्भ हुए। बच्चे के जन्म के बाद ही मुझे चन्दर का पत्र मिला—

मेरी दुर्दिन की साथी मां,

चरणों में अनेकानेक प्रणाम !

मुन्ने भइया को देखने के लिए कितनी तड़फ रही हूं, सो

क्या लिखने की बात है किन्तु माताजी से आज्ञा नहीं मिली अभी आने की। किन्तु मैं शीघ्र ही आऊंगी। युगान्तर की जो अभिलाषा तुम्हारे आने से पूर्ण हुई है उसका उपभोग अवश्य करूंगी। माँ मैं तुम्हें देखते ही समझ गई थी कि तुमसे मेरे पितृकुल का उद्धार ही होगा, सो ही हुआ। नन्हे भाई का मुख चूम कर उससे कहना कि तेरी दूर देश स्थित बहिन तुझे यह आशीर्वाद देती है कि मानव बनकर मानव योनि के लिये स्वाभाविक दुःख और सुख दोनों में ही तेरी सर्वत्र जय हो, विजय हो। गिरी को भी प्यार करना। माँ! मैं उस दिन की प्रतीक्षा में हूं जब गिरी कालेज में पढ़ने आवेगी। मैं उसे अपने पास ही रखकर पढ़ाऊंगी। शैल और गिरी कालेज से वापिस लौटेंगी तो मुझे अपनी प्रतीक्षा में पाकर मेरे गले से एक बारगी लिपट जायेंगी और भइया वह तो मेरा है ही। उस पर तुम्हारा अधिकार ही क्या है? भाई की साध जितनी मुझे थी पुत्र की साध तुम्हें उतनी थी ही कब?....." बहुत कुछ लिखने के पश्चात चन्दर ने लिखा था "मां तुमने भी तो मनोविज्ञान पढ़ा है। क्या सचमुच ही लोगों को कठिन मानसिक व्याधियाँ केवल मात्र गम्भीर वेदना से हो हो उठती हैं? .....और क्या उसका केवलमात्र कारण उस वेदना के प्रकट होने को बल पूर्वक दबाना ही होता है? सचमुच माँ मैं तो जान ही नहीं पाती कि दर्द कहां है किन्तु कहीं है अवश्य। न होने पर छाती के आंसपास हृदय के निकट इतना भारीपन ही भला क्यों जान पड़ता..... कुछ है अवश्य किन्तु क्या है, सो मैं नहीं जानती। मां आज अत्यन्त चपल हो उठी हूं, तुम कुछ अन्य न समझना। मैं यहां बहुत सुखी हूं। तुम्हारे जामाता का स्वास्थ अच्छा है। शैल भी खूब स्वस्थ है।

किन्तु न जाने क्यों मुझे इससे कुछ भय सा मालूम होता है। खैर, जाने दो यह बात न कहूंगी। पर मां आज न जाने क्यों जी चाहता है लिखे ही जाऊं, कुछ न कुछ लिखती ही जाऊं। कारण तो कुछ भी नहीं किन्तु न जाने क्यों कोई चुपके से मेरे कान में कह रहा है कि यह मेरा अन्तिम पत्र है।.....नहीं, नहीं छीः मैं क्या लिख रही हूं, मां। किन्तु अब यह पत्र फाड़ूंगी नहीं। जो मन में आज तक घोंट घोंट कर भीतर रखती रही वह बातें जब बरबस बाहर आ ही गई हैं तो उसे लौटाऊंगी नहीं। जाने दो, संसार की सब बातें ठीक भी नहीं होती और व्यवस्थित भी नहीं।".....कुछ पंक्तियों के बाद लिखा था "मां बहुत दिनों से पिता को कोई पत्र न लिख पाई। खैर तुम दोनों भिन्न तो हो ही नहीं। तुम्हें लिखकर जो पुष्पांजली समर्पित करती हूं वह भी तो उन्हीं के चरणों में जा पड़ती है। फिर उन्हें पृथक और लिखूंगी भी क्या? सब कुछ तो उनका तुम में ही है।"

नहीं जानती यह पंक्तियां पढ़कर कितनी देर तक मैं रोती रही। कितना छलमय है मेरा गृहस्थ जीवन। मन प्राण हाहाकार कर रहे थे। इच्छा होती थी कि लिख दूं चन्दर को "बेटी मेरी, वह तुम्हारे पिता हैं। मेरी सन्तान, मेरी गर्भजात सन्तान के पिता हैं, किन्तु मेरा उनसे सम्बन्ध ही क्या है? मेरे सर्वस्व तो वही हैं जो आज विश्व भर में मेरे सबसे अधिक पराये हैं।"

लिखने का साहस न हुआ। चन्दर का पत्र भी कुछ ऐसी विचित्र ध्वनि गुंजार रहा था कि इच्छा पूर्वक रोकते हुये भी कुछ आंसू मेरी आंखों से टपक ही पड़े। फिर तो एकबार, फिर मैं खुलकर रोई। दूसरे कमरे में शायद नवजात बालक भी रो उठा था, किन्तु उसके पास उसकी माता नहीं, नर्स आँसू पोछने, बहलाने को थी, जब कि मेरे पास अधिकाधिक आंसू बहाने

के लिये चन्दर का खुला पत्र पड़ा था। जाने कितनी देर मैं रोती रही। रात को नर्स कहती थी, ज्वर भी होगया था।

किन्तु दुर्भाग्य मेरा, चन्दर का वह अन्तिम ही पत्र था। अनेकों दिन बाद एक कोरा, व्यङ्ग सा पत्र आया। चन्दर का नहीं, उसके पति का भी नहीं, सास का भी नहीं, ससुर का भी नहीं, वरन् विजया का। लिखा था—

"दीदी,

क्या लिखूं? अच्छा, भरी जलन।

सुनो चन्दर तुम्हारी कौन है? लो, बेटी ही कह देती हूं ·· ···मानसिक क्लेश न सह सकने के कारण मानव की धन लिप्सा की शिकार हो गई। कर्ता की सर्वोज्ज्वल तारिका आज मस्तिष्क-शक्ति-विहीन है।

सुनो दीदी! और सुन कर रोओ, खूब रोओ। मानव के आँसुओं से, उसकी जलन से, मुझे शान्ति होती है। वह पागल हो गई है। उसकी नन्हीं बच्ची एक प्रकार से मातृहीन हो गई है। और भी सुनो·····

सुधीर·····हाँ तुम भी तो शायद उस अभागे को प्यार करती थीं, सरकारी वकील हो गया है। अधिक लिखने की इच्छा थी। किन्तु अवकाश नहीं है। व्यक्तिगत कामों से कहीं अधिक आवश्यक कामों के लिये मेरी पुकार हो रही है। तुम चन्दर की सुधि लेना। उसकी अवस्था बड़ी ही दयनीय है। बेचारी भावुक, आदर्श प्रिय, कोमल कलिका चन्दर····· और उसकी प्रति छवि·····उसकी बच्ची·· ·····।

अच्छा, तुम्हारे·····उन्हें, क्या कहूं? पति को मेरा प्रणाम। क्षमा करना दीदी, उन्हें इच्छा करके भी जीजा जी

किसी दिन भी न कह सकूंगी। वृद्ध ने विवाह करके चन्दर का जीवन भी नष्ट किया।

अन्त में छोटी होकर भी यही कहती हूं कि तुम्हारी शीघ्र ही बरात आये और यमराज विवाह करके घर ले जायें। तुम्हारी शीघ्र मुक्ति हो। मेरा इससे अच्छा आशीर्वाद और तुम्हारे लिये हो ही क्या सकता है ?

तुम्हारी बिज्जा।"

पत्र अग्नि का बुझा तीर था। मैं रोई, खूब रोई, जी भर कर रोई। आँसू चुकते ही न थे।

मेरी भोली चन्दर·····पागल हो गई। मुझे विश्वास ही नहीं होता था। किन्तु जान पड़ा, मैं स्वयं ही पागल हो उठूंगी। बिज्जी के शब्द "मेरे विवाह से चन्दर का जीवन नष्ट हुआ" मेरी छाती में विष-बाण की तरह खटक रहे थे। तीव्र पीड़ा से मैं तड़फ रही थी। किन्तु मैं पागल नहीं हो सकी, उतनी भाग्यवान मैं थी ही कब ?

नहीं जानती कब और कैसे, मैंने यह समाचार चन्दर के चिन्ताग्रस्त पिता को दिया। सुनते ही वह तो बच्चों की भांति हाहाकार करके रो उठे।

कठोर दृष्टि से मेरी ओर देख कर सहसा स्वयं ही बोल उठे—"तू यहाँ क्यों आई ? तेरे इस घर में प्रवेश करने से ही मेरी बच्ची का जीवन नष्ट हो गया। छीः, यह मेरी धन-लिप्सा इस नागिन और उसकी सन्तान के कारण ही तो थी। मेरी गुटरू के मानसिक क्लेश की.....।" बड़ी देर तक वह न जाने क्या बकते रहे।

विजया की ऐसी ही बातें पढ़कर रोई थी, किन्तु अब हँसी आ गई, करुणा भी हो उठी, किन्तु क्रोध नहीं आया। क्रोध करती भी किस पर ? इस दीन निरीह व्यक्ति पर, निष्फल क्रोध ? एक बार ईर्षा से भी जल उठी, इच्छा हुई कह दूं— "देवता, तुम्हारी चन्दर का जीवन मैंने नष्ट नहीं किया वरन् महात्मा मेरा यह लोक तो नष्ट था ही, परन्तु तुमने मेरा परलोक भी नष्ट कर दिया।"

"आँसू"

क्या लिखूं, कथा थोड़ी सी तो और रह गई है। अपनी भी और पराई भी। जो शेष है उसमें भी आँसुओं के अतिरिक्त और चीज ही क्या है, जो लिखूं।

दुनियाँ में याद करके भी आत्मा हिल उठती है। अतु लिखने बैठी हूं तो लिखूंगी ही, लिखे बिना काम चलेगा जो नहीं। हाँ, तो उस दिन मैं यकायक चन्दर के पतिगृह पहुंच गई। आना तो मेरे पति भी साथ ही चाहते थे, किन्तु एक प्रकार से बरबस ही उन्हें ढकेल कर मैं आ पहुँची। साथ ही मुंशी जी थे। दोनों बच्चों को घर ही छोड़ आई थी।

शहर में मेरी एक सखि रहती थी, उसी के घर ठहरने का विचार था। हम लोग ठीक दोपहर तीन बजे स्टेशन पर पहुँच गये। सखि को सूचना न दे सकी थी, परन्तु उसका पता मालूम था, टैक्सी करके उसके घर जा पहुँची। मुंशी जी को बाहर ही ठहरा कर बरामदा पार करके कोठी के जनाने भाग की ओर चल दी। पिछले बरामदे में सुरुचिपूर्ण ढङ्ग से मेज के चारों ओर कुर्सियाँ लगी थीं। परिवार के सभी सदस्य बैठे चाय

पी रहे थे। हंसी के कहकहों से कोठी गूंज रही थी। बच्चे और बड़े मिलकर एक स्वर में ही हंस रहे थे। एक क्षण को मैं द्वार के पास ही ठिठक गई।

कितनी सुखमयी है इसकी गृहस्थी ! और मैं अभागिनी अभी क्षण भर में ही अपनी दुःख कथा से, सुखदा—इस गृह की सुखी स्वामिनी, का मन भी विषाद से भर दूंगी।

सुखदा सहसा मुझे देख कर चिल्ला उठी—"ओह ! सुरी खड़ी क्यों है, आ न। वेलकम ! वेलकम !!"

मुझे ज़ान पड़ा कि सुखदा अभी तक भी बिलकुल वही, ठीक वही है, जो विवाह से पूर्व कालेज में पढ़ते समय थी। मेरे साथ वह फर्स्टइयर तक ही पढ़ सकी थी, सेकण्डईयर तक पहुंचने के पूर्व ही उसका विवाह हो गया था।

मुख प्रसन्न करके मैंने कहा—"तूने ही भला कब याद किया सुक्खी" और मैंने उसके पति को प्रणाम किया।

सुशील कुमार शर्मा बोले—"आइये पहले चाय पी लीजिये, फिर बातें होंगी।"

सुखदा ने तब तक नौकर को सामान आदि अपने कमरे में रखने का आदेश कर दिया था। मेरे कहने पर, मुंशी जी के रहने के लिये भी व्यवस्था कर दी गई।

मैंने हंस कर कहा—"अभी तो मैंने स्नान भी नहीं किया है।"

सुखदा विस्मय से पागल हुई जा रही थी। धीरे से मुख निकट लाकर बोली—"उठ फिर स्नान कर ले। चार तो बजने लगे हैं।" कह कर वह उठ खड़ी हुई।

"सुखदा, तू इन लोगों को चाय पिला, मै आपही स्नान कर आती हूं।"

"नहीं, नहीं रेवा सब खुद देख-भाल लेगी। रेवा, मैं तेरी मौसी को जरा गुसलखाना दिखा दूं, तुम लोग चाय पीकर समाप्त करो। मेरी प्रतीक्षा न करो।" कहकर मुझे लिए हुए सुखदा ऊपर चली। ऊपर पहुँचते ही उसने कहा—"कैसे बिना खबर समाचार दिए आ पहुंची सुरभि! क्या बात है? कहीं जीजा जी से रुठकर तो नहीं आ रही है?"

मैं खिलखिलाकर हँस पड़ी, सचमुच सुखदा, कहीं तनिक भी, तनिक सी भी नहीं बदली है। "हाँ, अब मेरी रुठने, मनाने, मनने वाली ही तो उमर रह गई है न सुखदा?"

"क्यों, अभी देखकर तो समझी थी कोई गुलाब खिल गया है।"

"हां, नीला गुलाब। क्यों री, तुम्हारे साहित्य में कोई नीला गुलाब होता है क्या?"

"शायद नहीं। पर सच बता कैसे आई?"

मैंने गम्भीर भाव से कहा—"मेरी बेटा है न एक, चन्दर, उसकी यहीं ससुराल है....."

बात काटकर वह उतावली से बोली—"तेरी बेटी का ससुराल? अभी चार ही साल तो तेरे विवाह को हुये हैं।"

"तुझे पता नहीं क्या? पहिले की बात है।"

"अच्छा, तब ही इतनी जल्दी बूढ़े होने की चिन्ता कर रही है।"

"सुना है, वह पागल होगई है। उसे ही देखने आई हूं।" सूटकेश में से साड़ी निकालते हुये मैंने कहा।

"और लड़की के पिता।"

"उनका शरीर कुछ अच्छा नहीं है, बहिन। उन्हें जान-बूझ कर छोड़ आई हूँ।"

कुछ देर ठहर कर सुखदा बोली—"सच कहना सुरभि दूसरे की सन्तान पर क्या पेट की सन्तान जैसी ममता हो जाती है? हां, अपने बच्चे कहां छोड़ आई है? हुये तो होंगे ही।"

"बच्चे दो हैं। घर ही हैं और दूसरे की सन्तान पर ममता...सुखदा, चन्दर क्या कोई दूसरे की सन्तान है, वह तो मेरे स्वामी की ही सन्तान है। फिर चन्दर वैसी लड़की ही नहीं है जिसे एकबार देखकर कोई प्यार किये बिना रह सके।"

कुछ सोचकर सुखदा बोली—"ओह, मिसिज विज की बहू तो तुम्हारी चन्दर नहीं? वही जो यहां की बड़ी अच्छी शोशल वर्कर है। सुना है उनकी बहू पागल होगई है।"

"हां, हां वही, वही सुखदा मेरी चन्दर है।"

"ओह मिसिज कुमार कहो। तब मिसिज सुधीर कुमार तुम्हारी बेटी है। एक आध बार मिली हूँ। सुना है आजकल हालत खराब है।"

सुनकर मैं ठहर न सकी। झटपट गुसलखाने में घुसकर स्नान समाप्त किया। जबरदस्ती दो कप चाय भी सुखदा के साथ पीनी पड़ी।

पर न जाने क्यों चाय इतनी कड़वी लग रही थी कि गले से नीचे उतरती ही न थी। मन-प्राण चन्दर की ओर ही लगे थे। जान पड़ता था एक एक क्षण देर करके मैं चन्दर के प्रति पाप और अपने पति के प्रति विश्वासघात कर रही हूँ। ज्यों त्यों सुखदा की कार चन्दर की कोठी के द्वार पर पहुँची। मैं अकेली ही आई थी, सुखदा या मुन्शी जी किसी को भी साथ नहीं लाई थी। इससे पूर्व मैं कभी यहां आई भी न थी और चन्द्रिका कभी सास को मायके साथ नहीं लाई थी। कोई ऐसा अवसर ही नहीं आया था। अतः उन्हें देखा भी न था। जाते ही दरबान से कहा कि मिसिज बिज से कोई मिलने आई हैं। कार में बैठे ही बैठे कोई दस मिनट बिताये। उसके पश्चात पुकार हुई। चन्दर की सास भारी शरीर वाली आकर्षक रमणी थी। युवावस्था जान पड़ता है पुराने प्रेमी की भांति अब भी उसके गले से जबर्दस्ती चिपटी हुई थी।

ड्राईंग रूम में एक भारी सोफे के एक कोने में आप बढ़िया जरीदार किनारे की बंगलौरी बहुत गहरे हरे रंग की साड़ी और सफेद सिल्क का ब्लाउस पहिने हुये बैठी थी। मुख पर चिन्ता या दुःख के चिन्ह बिल्कुल ही न थे। बहुत शिष्ट और शान्त जान पड़ती थी। मुझे देखते ही बोली—"आओ बहिन।" मैंने समझा शायद पहिचान गई हों। मैंने झटपट उसके पास जाकर प्रणाम किया और फिर पांच गिन्नियां उसके पैरों के पास रक्खकर, उसी सोफे के दूसरे कोने में बैठ गई। वह

शायद चकरा गई, अचकचा कर बोली,—"पहिचाना नहीं बहिन, सुधीर से कोई काम अटका है क्या ?" पुत्र सरकारी वकील है, अतः इतनी बड़ी रकम को मां किसी गैर कानूनी काम को करवाने की रिश्वत समझ रही थी। "पहचानोगी कैसे ? समधिन कभी मिली भी तो नहीं और मुझे भी कभी नहीं सूझा कि चलो बहिन के चरण ही छू आऊं।"

गिन्नियां वह उठा चुकी थी किन्तु मेरे उत्तर से उनकी शान्त और शिष्ट छवि में कुछ रूखापन आगया।

"कब आई ! न चिट्ठी न तार, कैसे आ पहुंची।"

शायद मेरे अकस्मात यूं आ पहुँचने को वह अच्छी दृष्टि से नहीं देख सकी। अनेक अपमान सहने को तैयार होकर ही मैं घर से चली थी। बोली—

"सो तो है ही, लेकिन सोचा दीदी के घर जाने को सूचना की क्या आवश्यकता ?"

शायद मेरा इतना अधिक बहनाया उन्हें सह्य न हुआ, बोली, "अच्छा जब आगई हो तो सामान आदि उतरवालो, न हो दो चार दिन रह ही लो।" इच्छा हुई कुछ मजाक करने की, जो चाहा कह दूं "चलो रह ही जाती हूं हफ्ते दो हफ्ते", पर न कहा। सीधे साधे स्वर में मैं बोली "दो एक दिन ही रहना है। सोचा दीदी को क्या कष्ट दूं। मेरी एक सखि है वहाँ उसके पास ही ठहर गई। हां, चन्दर दिखाई नहीं पड़ी बहिन। उससे भी मिललूं फिर चलूं। तुम्हारे दर्शन बदे थे सो तो हो ही गये।"

कुछ क्षण को वह सहम गई किन्तु तुरन्त ही सम्भल कर

बोली,—"इधर कुछ दिनों से बहू का स्वास्थ अच्छा नहीं रहता। डाक्टर ने अलग रहने को कहा है। बच्ची भी पास नहीं जाती। फेर भी अभी मिलोगी क्या उससे ?"

"आई तो इसीलिये हूं।"

कुछ झुंझलाहट के स्वर में उन्होंने कहा—

"अच्छा, तो चुक्खी को साथ भेजती हूँ, ऊपर उसके कमरे में ही चली जाओ। माफ करना, मुझे जरा एक मीटिंग में जाना है। घण्टे दो घण्टे में आ जाऊंगी। तब तक यहीं रहना। साथ ही मेरे आने पर खाना पीना होगा।"

"सो बहन, तुम्हारा दिया ही तो खाती हूँ, फिर भी इस घर का जल भी भला मैं ग्रहण कर सकती हूँ ?"

इस बार बड़े ही जले स्वर में मिसिज विज बोली—"चन्दर कौन तुम्हारे पेट की लड़की है ?"

मैं मन ही मन मुसकराई। असली स्वरूप आरहा था प्रकाश में। हंसकर बोली—"सो क्या कोई गैर की लड़की है ? अपनी तो है ही दीदी !"

वह अधिक न बोलकर चुक्खी को बुलाकर आदेश करने लगी। इसी बीच न जाने कहां से सुधीर ठीक वहीं वैसा ही सुन्दर चुलबुला नवयुवक सामने आ पड़ा। मेरी नाड़ियों का समस्त रक्त क्षण भर को जम सा गया, बर्फ होगया। किन्तु नारी होने पर कठोर राति, कठोर कर्तव्य का पालन तो करना ही पड़ेगा। आज वह मेरा दामाद जो है। ओ ! मेरी सुप्त नारी तू सो जा, तू मरजा अभागिन ! किन्तु तू विद्रोह करेगी ?

यह क्या ? तू जीवित होना चाहता है, मेरे सुधीर को देखकर ! छीः, छीः मर जा, अभागिनी तू मर जा। जबरदस्ती

उसका गला घोंट कर मैंने सिर उठाया। मेरे समस्त चेहरे पर शायद खून की बूंद भी नहीं बच रही थी—"सुधीर प्रणाम करो, तुम्हारी सास है नई ब्याही हुई।"

सुधीर ने शायद झटपट प्रणाम करने का उद्योग किया किन्तु एकाएक मेरे मुख की ओर देख कर रुक गया। न जाने क्यों? न जाने बिखरी स्मृतियाँ इकट्ठी करने अथवा··· ····· मैं भी मानव हूं और वह भी स्त्री और स्त्रियों में से बहुत ही दुर्बल मन वाली। मुझे डर हुआ कि कहीं असफल न हो जाऊ, बिखर न जाऊं। तुरन्त कठोर होकर हृदय पर पत्थर रखकर बोली—"सुधीर प्रणाम करो न ?"

सुधीर ने प्रणाम करके कहा—"गुरभि देवी, आप ही चन्दर की नई मां हैं। वह आपकी तो बहुत बातें करती रहती हैं।"

"हां, सो तो करेगी ही। मेरी बेटी है न।"

मैंने झटपट दो गिन्नियाँ सुधीर के हाथ में भी दे दीं किन्तु मेरा कण्ठ मानो घना मरूस्थल हो उठा था। पर वहां पानी की बूंद कहां।

जैसे तैसे गिरती सम्हलती चन्दर के कमरे तक पहुंची। सुधीर भी साथ न था और मिसिज विज भी नहीं। सुक्खी मुझे द्वार दिखाकर चलती बनी। कमरे का द्वार खुला ही था। चन्दर दोनों पैर फैलाये नन्हीं बच्ची की तरह गुड़िया खेल रही थी।

अब मैं रुक न सकी, चीख मार कर गिर पड़ी। न जाने कब तक मैं बेहोश रही किन्तु जब आंखें खुली तो सुधीर मेरे पास ही कुर्सी पर बैठा था। दूसरी ओर एक नर्स खड़ी नाड़ी देख रही थी।

मैं अचानक बड़बड़ा उठी—"सुधीर तिलतिल करके जला रहे हो, एक बारगी ही गला घोंट दो न ?" शब्दों में तीव्र पीड़ा और स्वर में जलन थी। शायद सुधीर ने लज्जा से मुख फेर लिया। मैं सम्हल गई। सुधीर से बात करने का आज मेरा अधिकार ही क्या है ? किस दावे पर मैं उसे उलहना दूं ? वह मेरा जामाता है।

"सुरी. तुम स्वस्थ नहीं हो। तनिक चुपचाप लेटी रहो।" मैं जल उठी। जब अपने हाथ से ही सर्वस्व को आग लगा चुके हो, तो आज दुर्दिन में यह दावा किस नाते दिखाने आये हो, छीः सुधार। शान्ति पूर्वक उठ कर बैठ गई। बोली—"सुधीर बड़ों का सम्मान करना सीखो। मैं तुम्हारी सास हूं।"

अन्तिम वाक्य उच्चारण करते समय मैंने बड़ी कठिनता से आँसू रोके। शायद मेरी दुर्बलता सुधीर से छिपी न रही। नर्स चली गई थी। सुधीर केवल आर्द्र स्वर में धीरे धीरे बोला—"स्नेह का दावा छीना नहीं जाता। सुरी, मुझे क्या कभी भी क्षमा न करोगी ?" स्वर में ढेर सी कातरता थी। जी चाहा, युगल चरणों पर लेट कर कह दूं 'सुधीर मेरा मन सदा सर्वदा तुम्हारा ही है, कभी एक क्षण को भी किसी और का हुआ नहीं।" पिघलने लगी थी। एकाध चोट की ही कसर थी कि विवेक ने चाबुक मारा। हाय री अभागिनी हिन्दु नारी संयम ही तो तेरा जीवन है, वही न रहने पर तुझे अपने गले में पत्थर बाँधकर डूब जाने को भी संसार भर में जल मिलेगा नहीं। मैं सम्भल गई। समस्त मन प्राण से जीवन में पहली ही बार मैंने सच्चे हृदय से अपने स्वामी के चरणों का ध्यान किया।

"छीः, सुधीर क्या यही तुम्हारे योग्य है? आज मैं तुम्हारी माँ हूं, तुम्हारी पत्नी के भाई-बहिनों की जननी। अपने घर में मेरा अपमान मत करो। चले जाओ, मेरे सामने से। पर यह सदा याद रखना कि चन्दर जिसे तुमने जान बूझकर नष्ट किया है, नष्ट करने की वस्तु न थी।"

अब मैं चन्दर के पास गई, वह मुझे देखते ही बड़बड़ाने लगी—"तुम तो घर के फीके बादलों के से रङ्ग वाली हो। तुम कौन हो? तुम बहू हो। वाह, तुम मेरी नई मां कैसे हो सकती हो? वाह तुम कैसे होगी? तुम हो ही नहीं, तुम हो सकती ही नहीं.....?"

बड़ी देर तक वह बकती रही। उसे समझाना फिजूल समझकर मैंने नर्स को बुलाकर डांटा कि उसका सिर हफ्तों से धोया क्यों नहीं गया। नर्स कहने लगी—"घर के अन्य कामों से छुट्टी मिले तो इनका काम करूं, मुझे कुछ यही काम तो है नहीं।"

मैं चुप रह गई। सचमुच जिसके पिता की तिजोरी का बहुत सा धन इस घर के मालिक के बैंक के हिसाब में जमा हो चुका है, उसकी सेवा के लिये किसी सेवा दासी की आवश्यकता है ही क्या? इस बार रोने को भी जी नहीं चाहा। जी चाहा कि इस समाज के व्यंग मजाक पर खिलखिलाकर हंसूं। हंस-हंस कर कोठी को गुञ्जार दूं। मुझे भय हुआ कि बहुत देर तक उस वातावरण में रह कर मैं भी पागल हो जाऊंगी, निसन्देह निश्चय रूप से।

चन्दर की सास आ गई थी, उनसे जाकर बोली—"बहिन चन्दर तो पागल हो गई है जान पड़ता है।"

"हां, इलाज तो हो रहा है।"

"हमें सूचना क्यों नहीं दी, बहिन ?"

"सो तुम ही आकर क्या कर लेतीं, और जो करना है अब कर लो, अभी है तो जिन्दा ही।"

इतने कड़वे उत्तर की मुझे आशा न थी। इसके लिये मैं तैयार भी नहीं थी।

फिर भी सम्भल कर बोली—"दीदी, चन्दर को मेरे साथ न भेज दो ? तुम्हारी बहू है स्वस्थ भी और अस्वस्थ भी। जिस दिन आज्ञा करोगी सिर के बल आकर पहुँचा जाऊंगी।"

"क्यों, यहाँ क्या इलाज नहीं करवा पाते ? हाँ भाई हम तो गरीब आदमी ठहरे। राजा की लड़की का इलाज कैसे करवा सकेंगे, इसीलिये उसे बाप के घर भेजना पड़ेगा, चाहे चार जने हमारी निन्दा ही क्यों न करें।"

मेरे मुख में तो बड़ा कठोर उत्तर आया, पर असमय जान कर खुशामद से बोली—"दीदी, लड़की राजा की हो चाहे

"सो तुम ही आकर क्या कर लेतीं, और जो करना है अब कर लो, अभी है तो जिन्दा ही।"

"देखो, लड़की को देखने आई हो सो देख लिया, हमारे घर के प्रबन्ध और हमारी इच्छा को हम पर ही छोड़ो। अपनी बहू की व्यवस्था हम आप ही करेंगे।"

"यहां, यही देखो बहिन, उसके बाल कैसे गन्दे पड़े हैं। दिमाग की बीमारी ठहरी, रोज सिर धुलाना चाहिये।" मैंने नम्रता से कहा।

"सो क्या मैं नहीं जानती हूं ?" वह कुछ नरम पड़ी। "अच्छा अभी तो कह नहीं सकती, शाम को कचहरी से आयेंगे। सुधीर भी आ ले, फिर सोच लेंगे, पर तुम्हें चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।"

प्रणाम करके मैं कार में बैठ गई। सुखदा के बरबस कौर मुख में डालने पर भी मैं दो चार कौर से अधिक न खा सकी। अत्यन्त संयम करते करते भी मैं रात को सुखदा की गोद में ही सिर रक्खकर फूट फूटकर रोने लगी। मेरी इच्छा अभी और एक आध दिन रहने की थी किन्तु अपने पर विश्वास नहीं रह गया था। मेरा व्याकुल असंयमी दुर्बल मन स्वामी के चरणों से लिपट कर अपने बचाव का मार्ग, अपना आश्रय ढूंढना चाहता था। चार लम्बे सालों में जिन भावनाओं को गला घोंट कर मार चुकी थी, वही आज फिर से जीवित हो कर मुझे कष्ट दे रहे थे। मुझे स्वामी के चरणाश्रय के बिना उनसे अपने बचने का कोई मार्ग ही दिखाई नहीं देता था। मुन्शी जी को वहीं छोड़कर तथा चन्दर की रोज की खबर लिखने को कह कर सुखदा के बहुत रोकने पर भी मैं दूसरे दिन रात को ही चल पड़ी। सुबह गांव पहुंचने पर स्वामी के चरणों में प्रणाम करके मैंने पाया कि मेरा मन बहुत

कुछ स्वस्थ है। 'मेरे निरीह स्वामी, मेरे इस लोक के आश्रय' मैंने मन ही मन कहा—"भगवान मैं दुबल हूं, पापिनी हूं, अपराधिनी हूं, तुम्हें तो देख पाती नहीं किन्तु मेरे इस एकमात्र सहारे को कहीं असमय में ही न छीन लेना।" किस सौभाग्यवती नारी को अपने सुहाग के विषय में ऐसी शंका कभी हुई होगी।

"पागल"

"चन्दर, मेरी बिटिया, मेरी उज्ज्वल नारिका आज संसार के पागलों की श्रेणी में है, सोचकर भी दुःख होता है। लेकिन पागल होना भी क्या दुःख की बात है। मैं तो कई बार सोचती हूं कि सुख सुहाग से भरी पूरी चन्द्रिका के बदले काश कि मैं पागल हो सकती। निरन्तर मानसिक द्वन्द ने मेरा मन सर्वथा जरजर ही तो कर डाला है मेरे पति के शरीर की भांति ही। फिर भी यह मन अभी मस्तिष्क के साथ ठीक ठीक सम्बन्ध स्थापित किये ही हुये है यही आश्चर्य का विषय है। हाँ, तो पगली चन्द्रिका ने जिस समय पागलपन की अवस्था में ही अपनी अन्तिम सन्तान को जन्म दिया था तो मैं रो उठी। वह पशु चन्द्रिका का स्वामी उस समय भी यह जानने को उत्सुक था कि सन्तान पुत्र है अथवा कन्या। भगवान ने कृपा इतनी ही की कि सन्तान उत्पन्न होते ही मर गई। चान्द्रका अचेत थी। केवल कभी कभी क्षीण स्वर से कराह उठती थी। कभी कभी चीख भी उठती थी "यदि यह पाप भी है तो मेरा नहीं, मेरा नहीं।" न जाने कौन से पाप की ओर उसका संकेत था। सन्तान उत्पन्न होने का प्रबन्ध हस्पताल में किया गया था। चन्दर, पगली चन्दर के मन में अनजाने ही सम्भवतः कोई

दुविधा रही होगी, कोई मानसिक द्वन्द जनक कष्ट रहा होगा, किन्तु जान पड़ता है पागलों को अच्छे भले मनुष्यों की न्याई तुलनात्मक विवेचना तो जगत की करनी नहीं पड़ती और सम्भवतः इसीलिये कष्ट भी कम ही होता है। कौन जाने, पर मन विषाद से भरा जारहा था। चन्दर की सास उस समय भी किसी सभा की स्त्री सुधारक सब कमेटी की मीटिंग में गई थीं।

अभागी चन्दर उस समय भी नित्य की न्याई ही बेसुध थी। उस समय शायद एक बजा हो। चाँदनी रात्रि था। चन्द्रमा तब भी आकाश में मानो चन्दर के मेरे और मनुष्य मात्र के दुर्भाग्य पर व्यंग रूप में खिलखिला कर हंस रहा था। वह हंसी भले ही विश्व में किसी और ने न सुनी हो किन्तु मेरे निकट उस क्षण सर्वथा स्पष्ट हो उठी थी। नर्स एक किनारे कुर्सी डाले चुपचाप आँखें मूंदे थी। पास वाले कमरे में ही मेरे सोने की व्यवस्था थी किन्तु मुझे नींद आती ही नहीं थी। मन सर्वाङ्ग रूप से भारी हो उठा था। अतीत के सुन्दर दिनों की स्मृति मन की सहज गुत्थियों को अचानक कड़ा करके मानसिक क्लेश ही बढ़ा रही थी। मैं अपना कमरा छोड़कर चन्दर के पलंग के पास ही आराम कुर्सी पर आ बैठी। खिड़की से चन्द्र की साक्षात चन्द्रिका मेरे चान्द्रिका के मुख पर गिर गिर कर उसे मानो चिढ़ाना चाहती थी। मुझे जान पड़ा वह होठ बिचका कर मुझसे कह रही है "यही तेरी चन्द्रिका है?" मैंने घबड़ा कर चन्दर के मुख की ओर देखा। यह क्या? चन्दर के होठ नीले पड़ गये थे। गालों के चारों ओर भी एक नीली सी रेखा खिची जान पड़ी। मृत्यु की साक्षात् विभीषिका उसके मुख पर नाच उठी। मैं क्षण भर को आनन्दित हो उठी। मेरी पुत्री के वेदना-

मय जीवन का आज अन्त हो जायेगा। सावित्री की तरह पतिव्रता, सीता की तरह पवित्र यह रमणी जिसकी मां होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त है जिसके भाग्य में शान्ति पूर्वक अपनी छाती पर मानव अत्याचार को सहन करना भर ही लिखा था, आज विश्व की दुर्दान्त वेदनाओं के पार पहुंच जायेगी। किन्तु हर्ष अधिक देर तक रह न पाया। कुसंस्कारों ने, मोह ने, जड़ ममता ने आँखों में न जाने कहाँ से खारा पानी ला दिया। मैंने धीरे से जाकर नर्स को सचेत किया। नर्स तो सतर्क थी ही। उसे चन्दर के पास भेजकर मैं बाहर जाकर टहलने लगी। पैर यद्यपि थक कर दुःख रहे थे किन्तु ठहरते ही न थे, ठहरा जाता ही न था। जान पड़ता था कि उन्हें कोई बरबस घसीटे लिये ही जारहा है। इस समय मैं चाहती थी कहीं भाग जाना। उफ़! इस कठोर कर्तव्य प्रधान मेरे दाम्पत्य जीवन में, प्रेम विहीन, नीरस, कठोर, शुष्क, करुण दाम्पत्य जीवन में आकर जिसने मेरी प्रथम अभ्यर्थना की थी जिसने मधुर स्वर में उसकी कठोरता का स्थान अपनी स्निग्धता से भर दिया था, जो मेरी बेटी भी थी, सखि भी थी, गुरु भी थी, सचमुच ही सदा ही जिसके निकट मैं नारी के स्वामी के प्रति किये गये कर्तव्य की शिक्षा प्राप्त करती रही; जिसने सर्वप्रथम मेरे हृदय में मातृत्व की सृष्टि की; वही चन्दर कुछ क्षणों के पश्चात् संसार में न होगी। मैं उसकी माँ, उसके मृत शरीर के पास ही बैठकर रोऊंगी. कल्पना से मैं काँप उठी। मुझे जान पड़ा कि चन्दर के कमरे की ओर से रुदन-ध्वनि सी आ रही है। जान पड़ा सारी सृष्टि घूम रही है, और सम्भलते सम्भलते भी मैं न जाने कब गिर पड़ी, अचेत होकर।

आँख खुली तो मैं अपने ही कमरे में अपने ही बिस्तर पर पड़ी थी, हस्पताल से बाहर उस मकान में जो मैंने लिया हुआ था। मेरे स्वामी मेरे पास ही बैठे एक टक मेरे मुख की ओर देख रहे थे जिनसे कभी लज्जा नहीं हुई थी, कभी प्रेम भी नहीं हुआ था, उन्हें देखते ही न जाने क्यों लज्जा होने लगी। फिर भी साहस करके उनकी ओर देख कर मैंने लेटे ही लेटे पूछा, बड़े भारी भयानक उत्तर पाने की आशा से—"चन्दर का क्या हाल है ?"

"वह तो ठीक है। नर्स कहती है रात को एक-दो बार फिट आ गया था। लेकिन तुम्हें क्या हो गया सुधी ? तुम्हें तो फिटस कभी नहीं आते थे।"

"हुआ कुछ नहीं, यूं ही गर्मी से जरा चक्कर सा आ गया था।" कहकर ज्यों ही मैंने उठना चाहा कि जान पड़ा मेरा सारा शरीर कुछ कठिन रस्सियों से जकड़ा हुआ सा है। सिर पर जान पड़ा मन-दो-मन का कोई पत्थर रखा हुआ है। फिर भी बरबस मैं उठना ही चाहती थी, ताकि उन्हें मेरी अवस्था का भास न हो सके। सहसा वह स्वयं ही बोल उठे—"हाँ, हाँ करती क्या हो ? डाक्टर ने उठने को मना किया है। अभी दो घण्टे और चुपचाप पड़ी रहो। नर्स को समाचार देता हूं, आकर दवा दे जाये।" कहकर वह उठकर चल दिये। मैंने धीरे-धीरे मन ही मन कहा—"नारायण ! यह यातना अब कब तक भोगनी होगी ? जिन्हें प्रेम नहीं कर सकी, जिनकी सेवा भी नहीं कर सकी, उन्हीं की निःसङ्कोच सेवा ग्रहण करके मुझे नर्क में भी स्थान नहीं मिलेगा। नारायण ! सच्चिदानन्द दयालु प्रभु ! मेरी और दुर्गति न करो। इनसे मैंने तो कुछ भी पाने

की आशा भी नहीं की थी और इच्छा भी नहीं। किन्तु जो कुछ भी अनजाने ही, अनिच्छा से ही, इनसे ग्रहण कर पाई हूं, उसके बदले में इन्हें दो सन्तान दे चुकी हूं। प्रभु! हमारा देना-पावना चुकता हो गया है। हमारा हिसाब साफ है अब और अधिक दण्ड न दो। नारायण इहलोक में मेरा पथ साफ रह सके, इसलिये अब परलोक का रास्ता साफ कर दो।" अधिक सोचने की शायद मस्तिष्क में शक्ति भी नहीं थी। अतः खाली सा मस्तक लेकर चुपचाप पड़ रही। न जाने कौन सी बे वाद सी दवा नर्स आ कर पिला गई। मेरे पति फिर पास आ कर बैठ गये। मेरी इच्छा न जाने क्यों हो रही थी कि वह चले जायें। मैंने धीरे से कहा—"तुमने स्नान आदि करके कुछ नाश्ता कर लिया?'

"कर लूंगा।" उन्होंने संक्षेप में कहा।

'नहीं, नहीं, जाओ कर लो।" मेरे स्वर में न जाने क्या था कि वह तुरन्त उठ खड़े हुए। उनके जाने के कुछ ही देर बाद सुधीर आये। उनके आने का मार्ग हमारे घर में सदा ही खुला था। इच्छा करके भी मैं उसे बन्द कर पाती ही नहीं थी। वह जामाता थे न घर के। आते ही उन्होंने कहा—"भगवान का धन्यवाद है। आप की तबियत तो अच्छी जान पड़ती है।"

मैंने "हां" कह कर पीठ फेर ली।

सौतेली सास हूं ना, इसलिये अनिच्छा से भी मुझे सुधीर का स्वागत करना ही पड़ता था।

किन्तु इस समय वह निभा न पाई।

"सुरभि, क्या मेरा अपराध इतना बड़ा है जिसका कि कोई प्रतिकार हो ही नहीं सकता? यद्यपि मैं स्वयं न जाने

कब से तिल तिल करके जल रहा हूं। जिस दिन से घर पर माँ के निकट ही तुम्हारी सदा प्रसन्न मुख-छबि को गम्भीर वेदना की छाप से ओतप्रोत देखा, उसी दिन से जल रहा हूं। फिर भी क्या प्रायश्चित अभी पूरा हुआ नहीं ?" उसने बिना किसी भूमिका के ही कह डाला।

कमरे में कोई भी और न था तो भी मैं लज्जा से भर उठी। फिर भी न जाने किस शक्ति ने मुझसे कहलवा दिया– "एकदिन अनेक यत्न करके जिस जख्म को ढक चुकी हूं, मरने वा स्वांगकर चुकी हूं, उसी को बढ़े हुए नाखून से कुरेद कर क्यों ताजा कर रहे हो, सुधीर बाबू ?" स्वर बड़ा ही दीन था। शायद इससे सुधीर बाबू को अपनी परिभाषा में प्रोत्साहन सा मिला। वह तुरन्त ही बोल उठे,—"सुरो, अपराध कितना भी बड़ा क्यों न हो, मुझे विश्वास है कि तुम्हारा प्रेममय हृदय, उदार मन अवश्य ही क्षमा कर देगा।"

तब तक मैं सम्भल चुकी थी। कुछ तीखे से स्वर में बोली—"सुधीर बाबू, तुममें है ही क्या जिसके बल पर तुम किसी के निकट भी क्षमा मांग सको। फिर भी यदि क्षमा मांगना ही है तो मांगो जाकर मेरे देवता सरीखे स्वामी के चरणों में जिनके धन पर लुब्ध दृष्टि रख कर तुमने उनका सर्वनाश ही कर डाला है। और क्षमा मांगो उस देवी रुपिणी मेरी बेटी चन्दर से जिसका निस्वार्थ स्वर्गिक प्रेम भी तुम्हें ऊंचा न उठा पाया। अथवा क्षमा माँगो बिज्जी, प्रेम की उस प्रतिमा से जिसने मन-मन्दिर में एक बार तुम्हें देवता बना कर बिठा डाला था। मेरे लिये तो तुम सदा ही क्षम्य हो, मेरी पुत्री के स्वामी हो ना ?"

अन्तिम वाक्य मैंने कुछ इतनी शक्ति से कहा कि मुझे स्वयं ही वह अस्वाभाविक सा जँच उठा।

इस बार सुधीर कुछ अप्रतिभ सा होकर बोला—"सच-मुच ही मुझ में ऐसा है ही क्या, कि कोई मुझे मान प्यार दे सके ?"

"छीः, चन्दर का प्यार भी जिसे सन्तुष्ट न कर पाया ; जिसके मन की भूख न मिटा पाया, संसार भर में उसके लिये तृष्णा शान्त करने को और जल मिलेगा ही कहाँ ? जाओ, सुधीर बाबू, जाओ। मेरे स्वामी जीवित हैं, देवतुल्य हैं, मैं सौभाग्य मन्दिर में बैठकर अपने देवता का अपमान न कर सकूंगी, कभी भी नहीं, कदापि नहीं।"

"जाता हूं।" कह कर सुधीर चला गया। मैं कुछ क्षण उसकी जाती हुई प्रतिमा को देखती रही, फिर रो पड़ी। कितना अनर्थ किया था मैंने अपने साथ। सब को यावज्जीवन धोखा ही तो देता आई हूं। हायरे ! मेरे अन्याय, धोखे और व्यथा भरे जीवन। थोड़े देर रो कर मैं शान्त हो गई। ऐसा न होने पर मेरे स्वामी को दुःख और आश्चर्य जो होता।

झटपट उठ कर मैं स्नानादि से निबटने चली गई। सिर फटा जा रहा था। मन प्राण में भयंकर अंधकार सा छाया हुआ था। नस-नस में अग्नि जल रही थी। पर स्नानादि करना अनिवार्य ही था। स्नान करके जब रसोई में पहुँची तो देखा महाराजिन नाश्ते की सामग्री लिये बैठी है।

"क्यों महराजिन, उन्हें नाश्ता करवाया या नहीं ?"

"वह आपकी इन्तजार कर रहे थे।"

एक बार फिर मेरी आंखों में आंसू छलछला आये। हायेरे, मेरे अभागे स्वामी कितनी पापिनी हूं मैं और कितने उदार मेरे स्वामी। जल्दी से आंचल से आंसू पोछकर मैं नौकर को आवाज भी न देकर स्वयं ही दूध का गिलास उठा कर चली। महाराजिन नौकर द्वारा अन्य सामग्री भेजने का प्रयत्न करने लगी। ड्राइङ्गरूम में मेरे प्रवेश करते ही वह चौंक से पड़े।

"सुर्री, कल रात भर अचेत रहा। अब मेरे लिये दूध लाया जा रहा है, नौकर सब मर गये हैं क्या?"

मुझे न जाने क्या होगया। उन्माद ही हो गया हो, शायद रुके हुए आंसू छाती से बाहर निकलने को मचलने लगे। उन्हीं के चरणों में फर्श पर बैठ कर कठिनाई से मैंने कहा—"स्वामी कुछ भी तो कभी तुम्हें दे सकी नहीं, अब यह इतना सा अधिकार भी छीन कर मुझे निराश्रय न कर देना।" रुके हुए आँसू वेग से बह चले। उनके उज्ज्वल गौर चरणों पर अपना काला मुख रखकर मैं जोर से रो पड़ी। जान पड़ता है कि वह घबरा गये। उनके स्वर में भी घबराहट थी।

"तुम्हें हो क्या गया है, सुर्री?" कहकर उन्होंने मुझे उठाना चाहा। पर जान पड़ता है उन चरणों से मेरी हटने की इच्छा ही न थी। नौकर इससे पूर्व ही नाश्ता रखकर चला गया था।

कुछ अधिक घबड़ाकर बोले—'सुरभि रानी, फिट तो नहीं आ गया फिर? यह हो क्या रहा है?"

मैंने थोड़ा सा स्थिर हो कर कहा—"कुछ भी नहीं, केवल तुम्हारे चरणों में सिर देकर थोड़ा रोने को जी चाहा था।"

"वाहरे, जी" कहकर वह हंस पड़े।

उन्होंने मुझे आदरपूर्वक पास ही कोच पर बिठा लिया। मुझे जान पड़ा, आज मेरे निर्मुक्त आँसुओं ने, मेरे और उनके बीच की कालिमा पर पड़ा हुआ पर्दा अपने वेग से फाड़ डाला है। मेरा अब उनसे राई-रत्ती कुछ भी छिपा नहीं है, कुछ भी अलग नहीं है, सब ही कुछ तो मुक्त है, खुला हुआ है। सब ही कुछ उनका ही है, पाप भी और पुण्य भी। प्रसन्न मुख से मैंने कहा—

"तुम कुछ और तो नहीं सोच रहे हो ?"

"सोचता हूं, चन्द्रिका के पागल होने पर, तुमने मुझे और उसे दोनों को ही सम्भाल लिया है, किन्तु भगवान न करे, मेरी उन्मादिनी भावुक रानी, यदि कहीं तुम ही पागल हो गई तो मुझे स्वयं भी पागल हो होना पड़ेगा।"

मैं हँस पड़ी, निर्दोष मुक्त हँसी। "सो कभी होने का नहीं।" मैंने कहा।

"ऐसा ही हो सुरी। गिरजा कहां है उसे तो बुला लो।"

"अच्छा" कहकर मैंने नौकर को बुलाकर, नर्स से गिरि को लाने का आदेश किया।

"फिर सुधीर"

"मैं घर जाऊंगी।"

"सुना तो, पर यह हुक्म क्यों हो रहा है ?"

मैंने मुन्शी जी को शाम की ट्रेन में सीट रिजर्व करने को कह दिया है।"

"मुझ से पूछा तक नहीं।"

"उसकी आवश्यकता न थी।"

"चन्दर का क्या होगा ?"

"उसे प्रति सप्ताह आकर देख जाया करेंगे।"

"इतना व्यर्थ खर्च और कष्ट बढ़ाने की अपेक्षा यहीं क्यों नहीं बनी रहती।"

"नहीं, यहाँ नहीं रहूंगी।"

"कभी तो तुमने जिद की नहीं। सुनीं बात क्या है ?"

"बात क्या होती ? मेरा जी नहीं लगता, मैं गांव जाऊंगी, जाऊंगी ही।"

"अच्छा तब जाओ" उन्होंने एक लम्बी निश्वास लेकर कहा।

उनकी ठंडी लम्बी सांस मेरा अन्तर छेदती चली गई, पर मेरा जाना आवश्यक था। रुक सकता था ही नहीं, जाना अनिवार्य ही था। यदि न जाती तो शायद लोक और परलोक में फिर मुख दिखाने योग्य नहीं रहती। न जाने क्यों मैं दिन दिन सुधीर की ओर आकर्षित ही होती जाती हूं। वह मेरा है ही कौन ? मेरा उससे नाता ही कौन सा है ?

फिर भी अनजाने ही मुझे उसके निकट होता जाना पड़ रहा है। मैं सुधीर के सामने पड़ना भी नहीं चाहती। किन्तु जिस समय वह आ ही जाता है तो मेरे दोनों पैर मानो पृथ्वी से इस प्रकार चिपक जाते हैं कि अनेक यत्न करके भी छूट नहीं पाते। इच्छा होती है कि मैं बात न करूं। सुधीर के बात करने पर भी उसे दुत्कार दूं किन्तु ऐसा कर नहीं पाती। न जाने जिव्हा में कहां से शक्ति आ जाती है, मुख में वाणी आ विराजती है। मैं बोलने लगती हूं और बोले ही चली जाती हूं।

उस दिन समय बड़ा सुहावना था। सन्ध्या होने ही वाली थी। हस्पताल में सारा दिन व्यतीत करने के पश्चात, मैं अभी घर लौटी थी। अत्यधिक थकान में स्नान करने तथा खाने पीने की भी कुछ इच्छा न थी। उस दिन तीसरे पहर का नाश्ता मैंने नहीं किया था। मेरे पति सुबह से ही कार द्वारा पास के नगर में किसी व्यापार सम्बन्धी काम से गये हुए थे। रात्रि में उनके लौटने की सम्भावना न थी। मेरी इच्छा उस दिन घर ही बच्चों के पास रहने की थी। सीधे आकर मैं अपने कमरे में लेट गई। नर्स मुन्ने को लेकर आई।

"आओ" कह कर मैं पलङ्ग पर ही उठ बैठी। मुझे मुन्ने को गोद में लिये हुए भी कई घण्टे बीत चुके थे। यद्यपि अपने या यूं कहूं अपने पति के बच्चे देखकर मुझे कुछ विशेष आनन्द नहीं होता था। फिर भी यूं ममतावश तो शायद अपना बच्चा सब को ही सुन्दर दिखता हो, पर वह सचमुच ही सुन्दर था। आवेश में आकर मैंने गोद में बिठा कर उसका मुख चूम कर मन ही मन कहा—"अभागे बालक! तुम्हारी अभागिनी माता अपने हृदय का समस्त प्रेम भी निर्मुक्त भाव से तुम पर बिखेर पाती नहीं, कैसा दुर्भाग्य है?" मूक हृदय की मूक भाषा शायद मुन्ने ने समझ ली। मुझे जान पड़ा कि उसकी निर्दोष भोली आँखें कह रही हैं—"तब माँ, हमारा क्या दोष? हम तो लोक-परलोक में केवल तुम्हें ही जानते हैं।"

मैंने नर्स से कहा—"तुम जाओ। एक घण्टे बाद आकर नन्हें को ले जाना।"

मेरी इच्छा इसी मूक भाषा में कुछ देर बातचीत करने की थी। नर्स चली गई, बच्चे को मैंने छाती से लगा लिया।

ठीक इसी समय चन्द्रिका की बड़ी लड़की शैलजा भी आ गई। वह तीन वर्ष की हो चुकी थी, शायद एक-आध मास अधिक भी। गिरिजा का हाथ पकड़े देवी प्रतिमा सी शैलजा मेरे कमरे में आई। गिरिजा भी प्रायः शैल की ही आयु की थी।

"आ बच्ची, आ शैल" कह कर मैंने साथ ही तीनों बच्चों को अपनी जलती हुई छाती से लगाना चाहा। शायद मेरी छाती इतनी विशाल थी नहीं जो इस समूह को समा सकती। शैल का मुझ से शायद विशेष प्रेम था। गिरिजा की देखा-देखी वह भी मुझे माँ और चन्द्रिका को जीजी कहती थी। चन्दर के पास तो प्रायः इन्हें जाने भी नहीं देते थे और चन्दर तो न जाने क्यों, इसकी सूरत दूर से ही देखकर चिल्लाने लगती थी। हां, तो कहां बहक गई। बच्चों के संसार में, मैं अपने का, अपनी थकान को, अपने मस्तिष्क को, सभी कुछ भूले हुए थी।

शैल को अपनी गुड़िया के लिए एक मोटरगाड़ी की आवश्यकता थी। गिरिजा को शायद हवाई जहाज की आवश्यकता थी। उन दोनों की भोली आवश्यकताएँ टूटे फूटे असम्बन्धित शब्दों में की गई, सुनकर मैं अपने को ही भूल गई थी। नन्हा केवल कभी-कभी मुंह खोलकर अकारण ही हंस देता था। दोनों ही बच्चियाँ उसकी मुस्कान पर खिल उठती थीं। मैं अपनी समस्त वेदना भूलकर, अपने आपको भी उन्हीं में से एक अनुभव कर रही थी। इसी समय सुधीर ने कमरे में प्रवेश किया। वह पहले ही बार मेरे कमरे में आया था। अन्यथा हम ड्राइङ्गरूम में ही मिला करते थे।

आते देखकर अनिच्छा से कहना ही पड़ा। "आओ।"

"ओह, शैव भी यहां ही है?"

"हां, थोड़ी देर हुई नौकरानो के साथ आई थी।"

"इसे भी अपनो ही शरण में ले लो ना, सुरभि।"

"इच्छा हुई कह दूं. इसकी मुझे गरज ही क्या पड़ी है ?" किन्तु कहा—"हां, दो तो मुझसे सम्भल ही नहीं पाते।"

"सो बात और है, इसे तुम न सम्भाल पाई तो सृष्टि भर में कोई भी सम्भाल न सकेगा, सुरभि।"

हाय रे! नारो का जला मन। मुझे लगा कि इस स्वर में प्रेम की झंकार कहीं है अवश्य। मुझे जान पड़ा कि चन्दर के स्वामी ने मेरे अतिरिक्त सृष्टि भर में और किसी को कभी प्रेम किया ही नहीं। मन चञ्चल हो उठा। मुझे जान पड़ा कि मेरे जीवन में कहीं कोई बड़ी भारी त्रुटि रह गई है जिसका प्रतिकार आज भा मैं कर सकतो हूँ। इसी समय वह फिर बोले—"सुर्री. यहां आ जाता हूं तो मानो अपना समस्त दुःख-ताप भूल ही जाता हूं किन्तु यहां से जाकर फिर वैसे ही।" न जाने इस बार मेरे मस्तिष्क को कौन सी नसें झंकृत हो उठीं कि आंखों से दो बूंद आंसू गिर ही पड़े।

"रो नहीं, सुर्री।" उन्होंने दूर ही खड़े खड़े कहा। बच्चे सुधीर को देखकर कभी के भाग गये थे, केवल मुन्ना उसी प्रकार हां बैठा था। न जाने क्यों मुझे और भी अधिक रुलाई आने लगी, अनेक यत्न करके भी मैं आंसू रोक पाई नहीं। कुछ कह भी न सकी। न जाने क्या सोचकर वह एकदम मेरे निकट आ खड़े हुए। रुमाल निकाल कर मेरे मुख पर झुके ही थे कि मुझे जान पड़ा मेरे स्वामी की सन्तान, मेरा नन्हा पुत्र अपनी दोनों बड़ी बड़ी आंखें धिक्कार से भरकर मेरे मुख पर जमाए हुए है। मैं

कांप उठी। एक क्षण भर में ही जब कि उसका हाथ मेरी आंखों पर होता, मैं पलंग से झटक कर दूर जा खड़ी हुई थी। यह अचानक व्यापार देखकर मुन्ना रो उठा। मैं उन्मादिनी की तरह कह उठी—"छीः, सुधीर क्यों न रोऊं मैं? मेरे आंसू क्या वेदना के द्योतक हैं जो संसार की दृष्टि से मैं उन्हें छिपा कर रक्खूं। मेरे आंसू तो स्वामी के प्रति मेरी भक्ति के आशीर्वाद स्वरूप हैं, प्रसाद हैं, वह चिरजीवित रहें, युग-युग तक इसी प्रकार बने रहें।" कह कर मैं मुन्ने को गोद में उठा कर कमरे से बाहर निकल गई। इसके बाद ही स्वामी के कमरे में उन्हीं की शय्या पर, उन्हीं के पुत्र को छाती से लगाए न जाने कितनी देर तक रोती रही। रह रह कर टीस की तरह, कसक की भांति चन्दर के अनेकों दिवस पूर्व कहे हुए शब्द मेरी छाती में खटक उठते थे। "तुम मां हो, नारी होकर चाहे जो कुछ करो, किन्तु माँ होकर जगद जननी मां की मर्यादा रखनी ही होगी।" उसने फिर आगे कहा था बड़े ही गम्भीर स्वर में "उसे जाने या अनजाने किसी दिन भी नष्ट न कर बैठना, माँ।" मैं मां हूं, मातृ-जाति की ही नहीं वरन् स्वयं भी दो सन्तानों की जननी हूं। मैंने संसार में अपने पति की दो सन्तानों को जन्म दिया है। आज यदि चन्दर पागल न होती तो उससे जाकर कहती कि "अरी मेरी अभागी सन्तान, तेरी मां संयमी नहीं, मातृत्व की मर्यादा का उसे समुचित ज्ञान नहीं। आज तू ही उसे आशीर्वाद दे कि वह शीघ्र ही मातृत्व की मर्यादा को लिये हुए मर जाए। सचमुच उसका असयमी शरीर मानसिक पाप को लिये हुए ही भस्म हो जाए।"

मैंने उसी समय दृढ़ निश्चय कर लिया कि किसी भी

कारण से यहां रहूंगी नहीं। मझे अपने ऊपर विश्वास ही नहीं था। इच्छा हुई कि स्वामी से एक एक अक्षर खोल कर कह दूं। पर हायरे, नारी का दुर्बल सशंकित मन, उन्हें सामने पा कर भी कुछ भी न कह पाई। केवल यह ही कह पाई "मैं घर जाऊंगी।" उनके अनेकों प्रश्न सुन कर इससे अधिक कुछ न कह सकी कि मुझे घर जाना ही होगा। उनसे कहती भी तो शायद वह हंस देते किन्तु मैं पापिनी तो उनसे कह सकी ही नहीं।

खैर, दूसरे दिन ही हम गांव चले आए। गांव के घर में पहुंचकर मेरा मन कुछ स्वस्थ सा जान पड़ने लगा। इस बार बच्चों की देख-रेख भी मैं स्वयं ही करने लगी। सप्ताह में एक बार चन्दर को देखने भी जाना ही पड़ता था। मेरे स्वामी को दिल की बीमारी थी, अतः उनका बार बार जाना ठीक न था। वहां जाकर भी मैं सुधीर की आंख बचाकर ही चन्दर को देख आती थी। इधर सुधीर चन्दर को कभी देखने जाता ही नहीं था। दिन बीतने लगे किन्तु मेरे स्वामी का स्वास्थ्य अब कुछ मानसिक चिन्ता आदि के कारण गिरने लगा था। चन्दर का पागल होना तो उनके लिये वज्राघात ही था जिसका कि प्रतिकार वह कभी भी न कर सके। उनका गिरता हुआ स्वास्थ्य देखकर मैं भी चिन्तित हो उठी हूं।

"वैधव्य"

मेरे स्वामी शनिवार से पलंग पर लेटे थे। आज दूसरा शनिवार भी हो गया किन्तु उठे नहीं। सांस का वेग उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता था। दोनों आंखें निरन्तर अंगारों की तरह जलती रहती थीं। ज्वर भी एक सौ पांच के लगभग ही रहा

करता था। पिछले मंगलवार से कई सुयोग्य डाक्टर तथा एक नर्स भी वहीं पर मेरे स्वामी के कमरे के आसपास ही घेरा डाले पड़े रहते थे किन्तु अवस्था में परिवर्तन रत्ती भर न हुआ। न जाने क्यों मुझे अपने मन का एक नया ही अनुभव हुआ। अज्ञात आतंक मेरे समस्त हृदय पर छा चुका था। मुझे जान पड़ता था जैसे मेरा सुहाग ही सचमुच मेरा सब कुछ है। इस आश्रय की मुझे दृढ़ता पूर्वक रक्षा करनी ही होगी। दुर्बल हृदय नारी हूँ न? बड़े यत्न से मैं उनके पास ही बनी रह कर अपने अधिकार की रक्षा करना चाहती थी। जान पड़ता था उनके पास खड़ी रहकर उनके मुख की ओर एक बार स्थिर दृष्टि भर ताक लेने से ही मुझे लोक और परलोक में अन्य कोई भय रह जाता ही नहीं, फिर भी मेरा मन अशान्त था। कभी-कभी नर्स झिड़ककर स्नेह भरे स्वर से कह ही देती थी—"बहूजी यही काम तो करती हूँ पर तुम जैसी स्त्री नहीं देखी। तुम्हें तो न भूख ही लगती है और न नींद ही आती है। थोड़ा अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान रक्खो न? और फिर हम लोग किस लिये हैं।" मेरे कान में तो शब्द पहुंच जाते पर मैं उसे किस प्रकार बताती कि यत्न करने पर किसी प्रकार भोजन का ग्रास चबा तो भले ही लूं किन्तु गले से नीचे उसे किसी प्रकार भी ठेल नहीं पाती हूं, अनेकानेक प्रयत्न करके भी नहीं। शरीर के क्लान्त हो जाने पर भले ही उसे नरम-नरम, कोमल शैय्या पर डाल दूं बेतरतीब बिखरा हुआ, किन्तु पलकों पर नींद तो बुला पाती ही नहीं, इच्छा करके भी नहीं। भविष्य न जाने क्यों भयंकर रूप से मेरी आंखों के आगे नाच उठता है। किन्तु उसे यह सब क्या सम-

झाया जा सकता है, और समझाने पर भी वह समझेगी किस प्रकार ? वह समझ पायेगी ही नहीं।

हिन्दू नारी प्रेम न कर पाने पर भी स्वामी को अपने जीवन में महत्वपूर्ण स्थान दिये बिना रह पायेगी ही नहीं। यह ऐसा निर्विवाद सत्य था जिसकी उपेक्षा कोई भी हिन्दू नारी सहज ही न कर सकेगी। नर्स की बात सुनकर मैं चुपचाप हंस दिया करती थी। ऐसी हंसी जिसे सुनकर शायद दृढ़ता, शायद कठोरता स्वयं भी रो पड़े।

उस दिन गम्भीर रात्रि थी। बारिश के बाद तुरन्त ही आकाश स्वच्छ हुआ था, नर्स पास के रिटायरिंग रूम में थी। मैं स्वयं उनके पास आ बैठी थी। वह सो रहे थे, सांस आज शाम से ही कुछ ठीक था।

दवा तो सदा मैं अपने हाथों से ही पिलाती थी। न जाने क्यों मुझे चांदनी देखने का लोभ हो आया। मैं खुली खिड़की के सम्मुख जा खड़ी हुई। चन्द्रमा पूर्ण कलाओं सहित खिलखिला रहा था। मैं न जाने कब तक एकटक खड़ी चन्द्र-किरणों को देखती रही। एकाएक चौंक पड़ी। उनको क्षीण सा आवाज थी। "सुर्री" तुरन्त ही घूमकर मैं उनके पास आ खड़ी हुई। उनके मुख की ओर देखने का साहस मुझमें न था। न जाने मन कैसा हो उठता था। मैं नीचे दृष्टि किये ही खड़ी रही।

"सुर्री, बैठ जा।"

उन्होंने आज पहले ही बार मुझे तू से सम्बोधित किया था। मैं उनकी चारपाई पर ही बैठ गई। "सावित्री सत्यवान

को यम के हाथों से छीन लाई थी, सुरी जानती है।" अभिप्राय न समझकर भी मैंने धीरे से कहा—"हाँ"

"पर वह सतयुग था मेरी रानी। तू रात दिन अनवरत सेवा करके भी मुझे यम के हाथों से छुड़ा पाएगी नहीं।" उनका प्रेम भरा स्वर·····उस अलिप्त विशुद्ध प्रेम से भरा हुआ स्वर, जिसका कि उनके निकट दो बच्चों की माँ होने पर भी मैंने कभी स्वाद न पाया था, सुनकर मैं अपने आपको रोक न सकी। मेरी आँखों से न जाने कब आँसुओं की बूंदें गिर पड़ीं, शायद उनके उस हाथ की अंगुली पर, जो मेरे समीप ही बिस्तर पर रखी थी। नीला बल्ब मानो उन बूंदों पर प्रकाश की किरणें बिखेर कर हंस उठा, व्यङ्ग की हंसी। मेरे मन, प्राण अचेत हो उठे, उस व्यङ्ग की वेदना की तीव्रता से। उन्होंने अपने अशक्त हाथों से समीप खींच कर, अपने बहुत ही निकट रखकर मेरा सिर थपथपाया। फिर धीरे-धीरे बहुत ही धीमे स्वर में बोले—"सुरी रानी, मैं बचूंगा नहीं, मृत्यु समीप ही है। मैंने अभी एक स्वप्न देखा है, जानती हो क्या?" मुझे जानने की इच्छा ही नहीं थी। फिर भी वह बोलते ही गये—"चन्दर की मां आई थी, वह कहती थी, तुम तो आ रहे हो मेरे पास, किन्तु सुरी को किसके पास छोड़ोगे? मैंने हंसकर कहा—यह सोच न करो रानी, सुरी स्वयं अपना अवलम्ब भी बन सकती है, उसे किसी अन्य अवलम्बन की आवश्यकता ही कहां है? किन्तु उसे तृप्ति न हुई, न जाने कहाँ से एक कमल पुष्प लाकर उसने तुम्हें उसमें छिपा कर, वायुमण्डल में उड़ा दिया और फिर बोली, आओ, अब चलें, सुरी और चन्दर दोनों शीघ्र ही हमारे पास आ जायेंगी। ठीक ही कहता हूं सुरी, मेरी सावित्री, सत्यवान

न होने पर भी मैंने तुम्हारी जो निःसङ्कोच सेवा ग्रहण की है, उसे मैं मृत्यु से परे जाकर भी भुला न सकूंगा, किन्तु मुझे बचा न पाओगी।

बात इतने धीरे-धीरे और रुक-रुक कर कही गई थी कि मैं उसे शायद आदि से अन्त तक याद भी न रख सकी, और ग्रहण भी न कर सकी। उनके मुख पर एक नवीन उल्लास था। नाक के ठीक नीचे दो बूंद खून की दिखाई दीं। शायद होठों की कोर पर भी एक हलकी सी खून की रेखा सी बन गई थी। मैंने न जाने कैसे धैर्य और दृढ़ता से, बिना तौलिया इत्यादि छुए, आंचल से ही, खून की बूंदें मानो अपने आंचल में ही सञ्चय कर लीं। जान पड़ता है कि कुछ एक शून्य सा मेरे मन में भरता जा रहा था। दवा का समय हो गया था, पर मेरा मन उनके हाथ के स्पर्श से परे होने को करता ही न था। नहीं जानती, इस व्यक्ति से प्रेम था अथवा नहीं, पर एक मोह सा मेरी सारी आत्मा पर अचानक ही छा गया था। इसी समय नर्स आ गई। मैं तो काष्ठवत बैठी ही थी। उसने धीरे-धीरे फीडिंग कप, दवा सहित उनके मुख से लगा दिया। स्वामी ने एक प्रश्न-सूचक दृष्टि से मुस्करा कर मेरी ओर देखा। स्पष्ट दीखता था कि वह कह रहे हैं "अब भी दवा ?" मैं सहम गई, पर बोलने की शक्ति मुझमें रह ही न गई थी। मेरे संकेत से दवा पिला कर नर्स चली गई। आज मैं उनके साथ एकान्त में ही रहना चाहती थी। आज, केवल आज रात्रि भर के लिए, मैं अपने आपको विश्वास दिलाना चाहती थी कि वह मेरे, केवल मेरे हैं और अखिल ब्रह्माण्ड भर में अन्य किसी के भी नहीं, किसी के भी नहीं।

थोड़ी देर वह चुप रहे। उनका दुर्बल हाथ मेरे सिर पर रक्खा था। उसे वह बच्चे की तरह थप थपा रहे थे। थोड़ी देर बाद फिर बोले—"लोग कहते हैं वसीयत सोच-समझकर करो। ट्रस्ट बना दो, स्त्री युवती है; केवल चार वर्ष ही तो सुहाग देखा है। लेकिन मेरी तो ट्रस्टी तुम्हीं हो। तुमसे अधिक विश्वास और किस पर करूं? सुर्री, मेरी रानी! यह न सोचना कि तुम्हारा तो सर्वनाश किया है, धन से उसका बदला देना चाहता हूँ। उहुँ! अब देने लेने की और इच्छा नहीं है.....केवल तुमसे अधिक और विश्वासपात्र कोई मिला नहीं।" सदा के गम्भीर स्वामी आज इस प्रकार किस आन्तरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर मुखर हो उठे थे, सो आज दुर्दिन में भी मुझसे छिपा न रहा। न जाने कैसे मेरे मुख से निकल पड़ा—"धन मेरा है ही नहीं।"

"पर इसकी रक्षा तुम्हें करनी ही होगी। अपने अग्नि को साक्षी किये हुए स्वामी की सन्तान के लिए।" इस बार मैं सच-मुच ही रो पड़ी। हाय रे दुर्भाग्य! प्रभु, कितने दिन सूम के धन की भांति मुझे यह पराई गृहस्थी ढोनी पड़ेगी?

न जाने कितनी व्यथा सम्भाल कर उन्होंने कहा—"सुर्री, रो मत। केवल चार वर्ष ही तो इस घर में रही है। समाज के व्यर्थ बन्धनों ने तुझे बांध तो दिया है, किन्तु जहां केवल ममता ही हो, दया ही हो, प्रेम जरा भी नहीं, वहां आंखों के आंसू भगवान का सर्वोत्तम कर दक्षिणा का सर्वश्रेष्ठ दान ही तो विष बन जाता है।"

अब मैं सहन न कर सकी। मेरे मानसिक पाप की कथा इनसे भी छिपी हुई नहीं है। क्या मैं किसी दिन भी इन्हें

ममता, दया के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दे सकी। मैं फूट-फूट कर रोने लगी। बहुत देर तक रो चुकने के पश्चात् मैंने कुछ शान्त होकर कहा—"मेरे स्वामी! इस पापिनी, विश्वास-घातिनी को आज सर्वान्तःकरण से क्षमा कर दो, मेरे देवता! मैं सच ही किसी दिन भी तुम्हें नारी हृदय का सहज प्यार न दे सकी। यत्न करके भी नहीं।"

"जानता हूँ।" उनके स्वर में इतना अधिक प्रेम था, दर्द था, व्यथा थी कि मैं व्यथित हो उठी। आंसू भी शायद अब चुक गये थे। पत्थर की अंगारे सी लाल आंखें फाड़-फाड़ कर उन्हें ताकती रही, आश्चर्य से।

"किन्तु इसीलिये किसी दिन भी अपने पर रोष न करना सुरी! व्यर्थ ही अपने को अपराधी समझ कर, अपनी ही दृष्टि में छोटी भी न हो उठना। प्रेम करना, कर सकना सहज है किन्तु निस्वार्थ भाव से, केवल मात्र कर्तव्य भावना से, केवल भार वहन करने की शक्ति, वैसा संयम, यदि विश्व भर में कहीं पाओगी तो केवल भारतीय नारी के हृदय में ही। संयम आनन्द-दायक भले ही न हो पर वह इसी कारण किसी दिन छोटा हो जायेगा सो बात नहीं है। इसी एक संयम को देख कर ही तो तुम पर इतना विश्वास कर सका हूं। सुरी! आशीर्वाद देता हूं कि तुम यह संयम कभी किसी कारण से भी न खो बैठो।" शायद यही उनके अन्तिम वाक्य थे मुझसे। उसके पश्चात मैं वहां से हिली नहीं। दूसरे दिन सूर्यास्त तक, जब कि मेरे स्वामी के जीवन का सूर्य भी अस्त हो गया, केवल एक बार और बोले थे प्रातः काल बच्चों से।

गिरिजा और शैलजा को देखकर बोले—"गुटरु जैसा अतुलित विश्वास भरा प्रेम और उदार मन पाकर भी सुर्री जैसा संयम पाओ, इससे बड़ा और क्या आशीर्वाद दूं ?

नन्हें को देखकर केवल मुस्करा दिये।"

"जिसे सुर्री जैसी मां मिली हो, उसे और आशीर्वाद क्या दूं?" यही उनके अन्तिम वाक्य थे।

मन भर आता है, लिखा जाता नहीं। उसी दिन गोधूलि की वेला में सूर्य अपनी लालिमा समेटते-समेटते मेरी माथे की सिन्दूर लालिमा भी समेट ले गया।

कुछ बहुत अधिक कहने को रहा नहीं। एक दिन इस घर में नववधू बनकर आई थी। मेरी बेटी, मेरा परछन करके लाई थी। कैसा विचित्र था स्वागत! आज वह चन्दर भी नहीं। उतनी विद्या, बुद्धि लिये चन्दर पागलखाने में पड़ी है, और मैं वैधव्य की अकल्याणी प्रतिमा·····। छीः उन से किसी दिन भी प्रेम नहीं किया, फिर भी कितने उदार थे वह, कितना विशाल मन पाया था, मेरे स्वामी ने। सब धैर्य देने आये और चले गये। मेरे निरीह पिता भी बहुत ढेर सा रोकर चले गये। पिता का तो शायद साहस ही नहीं हुआ; पर मां ने, मेरी शान्त, साहसी और गम्भीर माँ ने आँसुओं में डूबे हुए ही कहा था, उरभि का हाथ पकड़ कर—"सुर्री, कुछ दिनों के लिये घर चली चल बेटी। जिद न कर, जी बहल जायेगा।"

दीन स्वर था, पर मैंने दृढ़ता से कहा—"माँ, अपने स्वामी की देहरी किस पर छोड़ जाऊं? उनकी अनुपस्थिति में उनकी पत्नी ही तो अपने श्वशुर की देहरी की नित्य पूजा करेगी।"

स्वर शून्य था। माँ शायद समझ नहीं पाई कि यह क्रोध था अथवा कुछ और। एक बार ध्यान से उरभि के सुहाग भरे सिन्दूर-दिप्त मुख की ओर देखकर बोलीं—"नहीं जानती यह अभिमान है अथवा क्रोध, पर सुरी, बेटी मेरी, एक बार जब तूने स्वेच्छा से ही अपने जीवन का आनन्द, सिर का सौभाग्य छोटी बहिन को दान करके ही वृद्ध को वरा था, तो आज क्रोध करके दान का महत्व छोटा न कर।"

मैं स्थिर स्वर में बोली—"कौन कहता है, मेरे स्वामी वृद्ध थे। ससार के लिये कितने पुरुष, किसी भी दशा में, उनके तलवों की भी समता आधुनिक विचार धारा में कर सकते हैं। छीः, माँ……।" शायद घृणा से मैं और कुछ न कह पाई। माँ अपनी लड़की को पहचानती थी, चली गई। पिता का सूखा हुआ सा मुख कुछ देर देख कर मैंने धीरे से पिता के चरण छू लिये।

मन ही मन पिता ने न जाने क्या कह दिया पर मुख से केवल इतना ही बोले—

"अपने और बच्चों के स्वास्थ्य का ध्यान रखना सुरी।"

उनकी मृत्यु के एक पखवारे बाद बिज्जी का पत्र आया था, लिखा था:—

दीदी,

बधाई। छुट्टी होगई बन्धन से। अब तुम भी जिससे शीघ्र ही पयान कर सको वही उपाय करना। अन्य किसी काम की तो तुम हो नहीं। सुधीर से सावधान। बाहर जा रही हूं मिल सकती नहीं—शेष फिर।

तुम्हारी बिज्जी

अभागी विज्जी मेरे स्वामी का महत्व जानती तब न? किन्तु मैं ही क्या उनका महत्व जान पाई थी ? मेरी सान्त्वना का एक-मात्र केन्द्र था अब गिरिजा और नन्हे की सेवा—उनकी, अपने स्वामी की सन्तान की भविष्य चिन्ता—उन्हें यथार्थ मनुष्य बनाने का प्रयत्न। इधर गृहकार्य की देखभाल करने के कारण जल्दी जल्दी चन्दर के पास भी नहीं जा पाती हूं पर वह भी तो मेरी बेटी, सबसे अधिक अपनी बेटी है न। मेरे·····मेरे स्वर्गगत स्वामी की प्रिय सन्तान·····मेरे अग्नि को साक्षी करके स्वीकार किये हुये स्वामी की सन्तान·····मेरी बच्ची—मुझ वंधव्य की अकल्याणमयी प्रतिमा की वेदना से परिपूर्ण बच्ची—।

"आज"

उस दिन तो नहीं जिस दिन मेरा सौभाग्य विन्दु लौकिक दृष्टि से अस्त हुआ था किन्तु कुछ ही दिन बाद जरा स्वस्थ होते ही सोचा था कि चलो अच्छा ही हुआ जिसके साथ नैसर्गिक प्रेम नहीं, जिसकी मुख छवि हृदय के स्पन्दन का कारण नहीं बन पाती, जिसके चरणनख मन में चन्द्र किरण की तरह चमक नही उठते, उसे लेकर घर गृहस्थी करना भी तो एक प्रवन्चना मात्र ही था। धोखा देना विश्व में भयकर पाप है, किन्तु उससे भी अधिक भीषण पाप है स्वयं अपने आप को धोखा देना।

सदा का ही मेरा जीवन छलमय रहा है किन्तु उस दिन मानो स्वयं को ही सम्बोधित करके मैं कह उठी—"मन तुमने बहुतों को धोखा दिया, बहुतों से छल किया किन्तु स्वयं को न छल सको, यही आशीर्वाद देती हूँ।"

आशा हुई, सान्त्वना भी हुई कि अब जीवन शान्त बन सकेगा। कम से कम एक और व्यक्ति को छलने का मौका तो अब न मिलेगा और वह व्यक्ति मेरे स्वामी थे। अग्नि को साक्षी करके समाज के प्रतिनिधियों के सम्मुख उन्होंने मुझे गृहणी पद प्रदान किया था, मेरी मांग में सिन्दूर भरा था।

जितना कुछ कभी पाया था उनसे, उसके बदले में समाज को साक्षी बनाकर ही अपने मनप्राण की हत्या करके भी, उन्हें चौगुना दे चुकी। पद मर्यादा आदि के बदले मैंने उन्हें सन्तान दी। अब भी यदि कुछ उनका देना पावना शेष रह ही गया हो तो आजीवन उनकी सन्तान की सेवा करके उसे भी चुका दूंगी। क्या यह मेरी अक्षय शान्ति के लिये कुछ कम होगा।

सान्त्वना सुन्दर थी। कुछ एक दिन उस सुन्दर भावना में शान्ति पूर्वक बीत गये। कहीं कोई रोक न थी, कोई विराम न था। एकरस लगातार जीवन धारा बहे जारही थी। किसी का भय भी न था, किसी की प्रतीक्षा भी नहीं। इसी बीच आठ मास, आठ लम्बे लम्बे प्रत्येक तीस प्रातः और सन्ध्या समेटे हुये मास बीत गये। इसी बीच दो घटनायें और हुई। एक तो यह कि चन्दर की अवस्था सुधरने लगी। न जाने कैसे अपने आप उसका ज्ञान लौटने लगा। एक दिन मैंने उसके कमरे में बहुत से अव्यवस्थित कागज पड़े देखे। पढ़ने पर वह उसकी सुव्यवस्थित आत्मकथा सी दीख पड़ी। उधर डाक्टर की रिपोर्ट भी थी कि यद्यपि वह बोलती प्रायः नहीं के बराबर ही है किन्तु उसकी मानसिक स्थिति सुधर रही है। एकदिन तो वह मुझे देखते ही मुस्करा उठी।

मैंने कहा—"चन्दर मुझे पहचानती हो, मैं कौन हूं ?" प्रश्न सुनकर वह हस पड़ी खिलखिलाकर, ऐसी हंसी जैसी मैंने उनके मरने से पिछले लगभग दो वर्षों से नहीं सुनी थी। मैं चकरा गई पर वह धीरे-धीरे स्पष्ट स्वर में कहती ही गई—"तुम्हें पहचानूंगी नहीं माँ ? तुम्हारे इस वैधव्य वेष, असीम धैर्य्य और अतुलित संयम को देखकर ही तो जीवित हूं।" मैं आश्चर्य से ठक रह गई। यह तो पागल का प्रलाप है नहीं। यह तो बड़ी ही सुव्यवस्थित गुंथी हुई प्रखर बुद्धिवाली रमणी, मेरी चन्दर की बात है। मैं खिल उठी। मैंने चन्दर को छाती से लगा कर उसका सिर न जाने कितने नेत्र-बिन्दुओं से भिगो डाला। हाय रे, अभागे सुरभि के स्वामी ! आज तुम होते, तुम्हारी चन्दर फिर विद्या-बुद्धि लिये खड़ी है। किन्तु कौन जाने यह परिवर्तन क्षणिक है अथवा चिरस्थायी। जो भी हो ऐसा उल्लास मैंने बहुत दिनों से नहीं पाया था। उस दिन मैं बहुत देर तक चन्दर से बातें करती रही। इच्छा थी डाक्टर से मिल कर उसे आज ही इस भयंकर स्थान से निकाल ले जाऊं, पर हाय रे दुर्भाग्य, आशा पर कुठाराघात। डाक्टर ने कहा कि अभी स्थिति भय से परे नहीं है। यद्यपि कभी-कभी वह बिलकुल चेत में होती है। लिखती-पढ़ती भी है, बातचीत भी ठीक करती है किन्तु फिर भी अधिकतर उन्माद में ही रहती हैं। यहां तक कि कभी-कभी वह उन्माद चरम सीमा तक भी पहुँच जाता है। कई बार तो वह अन्य विनाश-प्रिय पागलों की अवस्था तक पहुंच जाती हैं। इसी आशा से कि आज तो चन्दर ठीक है कुछ और बातें ही करलूं, मैं फिर उसके पास जा पहुँची। किन्तु इस बार वह शून्य दृष्टि से, शून्य में ताक कर बोली—"पधारो, भव-भव

के भगवान! आओ, आओ यशोधरा के सिद्धार्थ, तुम्हारा शुभागमन कल्याणकर हो।"

उन्माद बढ़ रहा था, मेरा हृदय फट क्यों नहीं जाता।

दूसरी घटना हुई बिज्जी का मिलन। पाँच छ वर्षों के बाद उस दिन दोपहर को मैं यूं ही विचार-मग्न लेटी हुई थी। कहीं जीवन भर में खोजने पर भी पकड़ने को, सोचने को, कुछ मिलता ही न था। सब शून्य, सब शून्य, उसी शून्य में सोच पाने के लिये, कोई एक, मन एकाग्र करने के लिये बिन्दु खोज रही थी। पास ही एक बड़े पलंग पर पंखे की हवा में गिरि और नन्हा लेटे थे, सो रहे थे सुख की नींद। खस की टट्टियों से छन कर आने वाली गीली हवा भी मेरे मन प्राण को शीतल करने में असमर्थ प्रायः हो रही थी। इसी समय थोड़ा सा झांककर नौकरानी ने देखा। मैंने करवट बदल कर कहा—"क्या है?" उसके हाथ में एक कार्ड था। मुझ से मिलने इस समय आ ही कौन सकता है? मैंने उत्सुकता से कार्ड देखा—उसी के हाथों के उन्हीं सुन्दर सुडौल अक्षरों में, लिखा था—"विजया।"

मैं स्वयं ही दौड़ कर बाहर जा पहुँची। कितनी भिन्न थी वह विजया, मेरी छोटी सी बहिन बिज्जी से।

विजया कुछ पहले से अधिक दुबली और काली हो गई थी। धूप में शायद बहुत दूर से पैदल ही चल कर आ रही थी। मुख तो एकदम धूमिल हो ही उठा था। पैरों के जूतों पर भी एक-एक इञ्च धूल चढ़ी हुई थी। पुराने देशी जूते थे और हलके हलके, शायद भूरे रंग के, मौजे भी थे। साड़ी का रंग क्या था, सो तो जान नहीं पड़ता, पर फिर भी कभी कुछ रहा

अवश्य होगा। हाथ में एक टाट का सा थैला था, खूब बड़ा सा और खूब भरा सा। थकान से शरीर का एक-एक अंग चूर हुआ जा रहा था। ऐसी विजया को सामने खड़ी देखकर मैं आश्चर्य से भर उठी। यहां तक कि कुछेक क्षण हिल भी न पाई। खड़ी खड़ी ही विजया बोली—"दीदी पहचाना नहीं क्या ? फिर कोई और द्वार खोजूं रात बिताने के लिये ?" कह कर स्वयं ही हंस पड़ी, बड़ी जोर से। कितनी निर्दोष थी वह हंसी, कितनी वेदनापूर्ण, कितनी भरी-भरी।

मैं बिज्जी से लिपट गई, नौकरानी के सामने ही। "बिज्जी रानी ! कितनी देर बाद मिली हो और सो भी कैसे विचित्र वेश में।"

मैं बरबस बिज्जी को खींच-खांच कर थैले समेत कमरे में घसीट लाई। बच्चे तब भी सो रहे थे, कुछ बड़ी ही उदासीनता से बिज्जी ने कहा—"दीदी तेरे बच्चे हैं ?" इच्छा न होते हुए भी मेरे मुख से निकल गया "हाँ, मेरे स्वामी के।"

"ठीक, ठीक।" कह कर बिज्जी चुप हो गई। उसके मुख की असाधारण गम्भीरता देखकर मैं कुछ बोल भी नहीं पा रही थी। जान पड़ता था कि वह मुझ से कुछ बहुत ही दूर की वस्तु है। बहुत ऊंची सुदूर.....और मैं कितनी तुच्छ, कितनी नीची, कितनी छोटी.....।

"कुछ खाने को मिलेगा, बड़ी भूख लग रही है।"

कहकर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही, बिज्जी दोनों जूते समेत पैर फैलाकर मेरे पलङ्ग पर तिरछी लेट रही।

"मिलेगा" मैंने लज्जित होकर कहा—"पर धूल में भर रही है, नहायेगी नहीं क्या ?"

"स्नान-ध्यान करो तुम ? यहां तो वर्ष में न जाने कितने दिन यूं ही निकल जाते हैं।" कहकर स्वयं ही एकाएक न जाने क्या याद करके उसने जीभ दाँतों तले दबा ली।

"तेरी इच्छा" कहकर मैंने बाहर जाकर नौकरानी को झटपट चाय का सामान और साथ ही कुछ समोसे और कचौरियाँ भी बना लेने को कहा। स्वामी के देहान्त होने के पश्चात् मैं कभी रसोई में झाँकी भी न थी। जाती भी किसके लिये, और मेरे पास शून्य बिन्दु ही इतना अधिक सोचने के लिए था कि अन्य किसी कार्य के विषय में सोचने की आवश्यकता ही न थी।

मेरे कमरे में लौटकर आने से पूर्व ही विजया खूब पाँव फैलाकर सो गई थी। शायद वह रात भर सोई भी न थी। मैंने अपने हाथ से उसका जूता उतार दिया और फिर मैं भी एक आराम कुर्सी पर लेट ही गई। विजया के मुख पर मेरी दृष्टि थी। जान पड़ा विजया के मुख पर गहरी वेदना, कटु तीव्रता है, परन्तु साथ ही किसी स्वर्गिक ज्योति की झलक भी अवश्य ही है। मेरी भोली नन्ही बिज्जी को हो क्या गया ? मैंने सोचा एक रात अकस्मात ही घर से अन्तर्ध्यान हो जाने वाली कितनी भिन्न, कितनी चिर नवीन है, यह रमणी— मैं सोचने लगी।

लगभग एक घण्टे बाद चाय आई। गरम-गरम कचौड़ियां और समोसे भी थे। फ्रूट क्रीम तो पहले से ही तैयार थी। मैंने बिज्जी को जगाया। इस बार जाग कर बिज्जी कुछ स्वस्थ जान पड़ी।

"आह ! इतना सामान ? दीदी आज तो मैं पेट भरकर खाऊंगी। लेकिन अपना स्नान गृह तो दिखाओ तनिक मुंह धो लूं। स्नान करने तक का इस समय धैर्य नहीं है।"

"कपड़े तो दूं, बदल डाल।"

"सो पीछे देखूंगी।" कहकर बिज्जी ने मोजे भी उतार डाले। मैं आश्चर्य से भर उठी। उसकी ऐड़ी जगह-जगह से फटी थी, बिवाईयों से खून बह कर जम गया था। मेरी आँखों में भरा जल देखकर बिज्जी हंस पड़ी, किन्तु तुरन्त ही स्नान-गृह में जाकर मुंह धो आई। और आते ही खाने पर जुट गई।

इस बीच में नर्स आकर बच्चों को उठाकर स्नान आदि कराने ले गई थी। मैं स्वयं कुछ खाना भी भूल गई। कितनी सर्वग्रासिनी थी भूख उसकी। कचौड़ी की ओर बिना देखे ही जान पड़ता था वह उसे मुंह में बरबस ढकेले जारही थी। लगभग आठ-दस कचौड़ियां खा चुकने पर बिज्जी ने मेरी ओर देखा—"अरी दीदो, अभी बैठी ही हो। लो, कुछ खाओ ना।"

मैं चौंक पड़ी—"खाती हूं, तेरे लिए चाय तो बना दूं।" कहकर मैं चाय बनाने लगी। मेरे मन में भीषण भूकम्प सा आ रहा था। मैं विजया का इतिहास जानना चाहती थी, पर उसके मुख की एकाग्र एकान्त दृढ़ता देखकर पूछने का साहस ही नहीं होता था। सामग्री लगभग सारी समाप्त कर चुकने पर उसने कहा—"दीदी, और कुछ मँगाओ। भूख मिटी नहीं अभी।"

"अच्छा" कहकर मैने और लाने की आज्ञा दी।

वह पहली ही बार, कुछ देर, एक टक मेरे मुख की ओर देखकर बोली—"आश्चर्य की तो बात ही है, किन्तु दीदी आज तीसरे दिन कुछ खा रही हूं।"

"नहीं, नहीं, सो नहीं सोच रही हूँ, बिज्जी।"

"देखो दीदी, तुम मुझ से कुछ पूछना नहीं। इच्छा होने पर स्वयं ही चाहे कुछ बता दूं।"

"अच्छा कहकर मैं अभिमान से भर उठी। इसका कुछ भी जानने का क्या मुझे किञ्चित भी अधिकार नहीं है। जाने दो, जब कभी किसी पर रोष नहीं किया, सुधीर पर भी नहीं, कर पाई ही नहीं, तो आज बिचारी बिज्जी पर ही क्यों क्रोध करूं। बिज्जी ने शायद मेरे मन का भाव पढ़ लिया, तनिक सा मुस्करा कर बोली—"दीदी, मुझ पर रोष न करना। सदा ही तुम्हें जलाती रही हूं। पर आज तो केवल तुम से मिलने ही आई हूं, कुछ जलाने नहीं।"

मैंने सरल भाव से कहा—"तुझ पर क्यों क्रोध करूंगी रानी।"

विजया खा-पीकर तुरन्त ही सो गई। मैं न जाने किस भाव से गीता की पोथी लेकर पढ़ने बैठ गई। मैंने आज पाँच वर्ष बाद गीता छुई थी। विजया सो रही थी और मैं पढ़ रही थी।

रात्रि से कुछ पूर्व ही विजया उठ गई और खाना खाकर फिर सो गई। दूसरे दिन दोपहर को विजया पूर्ण स्वस्थ थी। बच्चे आज दूसरे कमरे में नर्स के पास ही थे। एक ही पलंग पर हम दोनों लेट रहे।

विजया स्वयं ही बोली—"चन्दर का क्या हाल है, दीदी?"

"उसी तरह बिज्जी ! कितना प्रतिभापूर्ण था वह मस्तिष्क, किन्तु आज कितना भावहीन हो उठा है।"

न जाने क्या सोचकर बिज्जी हँस पड़ी। "वह सदा की ही भावुक थी, दीदी ! तुम नहीं जानती, पर मैं उसकी सह-पाठिनी रही हूं। यशोधरा को छोड़कर सिद्धार्थ के चले जाने में भी, उसे यशोधरा की त्रुटि जान पड़ती थी। सरल थी वह अथवा महामूर्ख। सुधीर जैसे दम्भी और दुष्ट के साथ उसका जीवन कभी शान्तिपूर्वक चल सकता ही नहीं था, दीदी।"

"नहीं बिज्जी तू कहीं भूलती अवश्य है। साथ न चल सकने की बात नहीं है। सुधीर का साथ नहीं चल सकता था तेरे साथ, नहीं चल सकता था मेरे साथ, किन्तु जो अटल विश्वास के बल पर संसार भर की वेदना को छाती पर केवल सहना भर ही जानती हैं उनकी जाति से है चन्द्रिका। अखिल विश्व में सुधीर का साथ यदि कोई सचमुच हा दे सकती है तो वह चन्दर ही।"

"कहती क्या हो दीदी ? चन्दर ने अपना जीवन ही तो नष्ट कर लिया। यही क्या नारी जीवन का उद्देश्य है ? यही क्या उसकी विश्व यात्रा की चरम सीमा है।"

"जो स्वयं कर नहीं सकती, उसकी व्याख्या भी शायद मेरे मुख से अच्छी न लगे किन्तु रानी बहिन! दूसरे के पाप-ताप को भी अपने मधुर विश्वास के बीच जो ढक सकते हैं, जिनकी आत्मा का अविचल सत्य विश्व भर के असत्य को, विश्व भर के अन्याय को, राख में ढकी हुई चिनगारी की भांति अपने अन्दर ढका हुआ ही रख पाते हैं, जो स्वयं उसके ताप से तिल तिल

कर भस्म होते रहते हैं, भले ही आमूल जल ही क्यों न जायें किन्तु किसी अन्य को उसका कण तक नहीं छूने देते। विश्व भले ही उनका महत्व न समझ सके किन्तु विश्व भर के आंखों से भी बड़ी जिनकी आंखें हैं, विश्व भर की दृष्टि से भी प्रखर जिनकी दृष्टि है, वह उनका मूल्य आँकने में कभी भी भूल न कर पायेंगे, यही चिर सत्य है।"

विजया जोर से खिलखिला कर हस पड़ी।

"कविता सुन्दर कहती हो दीदी! पगली चन्दर यदि तुम्हारी कविता समझ पाती तो शायद धन्य धन्य हो उठती किन्तु विज्जी तो चन्दर है नहीं, वह तो अन्याय को अन्याय कहना ही जानती है, अन्य कुछ भी कह कर उसकी पूर्ण व्याख्या होगी नहीं।" अन्तिम वाक्य उसने बड़े ही कठोर स्वर में कहा।

"अन्याय भले ही अन्याय हो किन्तु उसका श्रेष्ट प्रतिकार अन्यायी को कष्ट देने, दण्ड देने की अपेक्षा अपनी छाती पर अन्याय सह लेना ही है। भले ही वह रुखकर न हो, भले ही हम वैसा न कर पायें किन्तु चन्दर वैसा कर सकी थी। विज्जी रानी! तुम उसका महत्व समझो या न समझो, पर लोक और परलोक में कहीं भी मैं साक्षी की भांति खड़े होकर कह सकूंगी कि चन्दर का उपकार भले ही कभी किसी ने किया हो किन्तु चन्दर ने कभी किसी को दुःख नहीं दिया, वरन सबके हिस्से का दुःख, सबके भाग की वेदना चेहरे की मुस्कान लिये हुये ही अपनी छाती पर सहती रही, भले ही उस प्रयत्न में उसने अपना लौकिक ज्ञान खो दिया हो। किन्तु दूसरे की पीड़ा को सह सकने की शक्ति भी कितने लोगों में है, सुनो तो सही।"

बिज्जी ने व्यंग से कहा—"सचमुच ही अधिक व्यक्तियों में नहीं है। विष खाने की क्षमता भी अधिक व्यक्तियों में नहीं है, और हत्या करने की भी नहीं किन्तु इसी से वह अधिक महत्व पूर्ण हो सकेंगे सो किसी प्रकार भी समझ में नहीं आता।"

"बुद्धि में न आ सकने पर भी किसी वस्तु का महत्व कम नहीं हो जाया करता।" मैंने शान्ति पूर्वक कहा।

"शायद।" कहकर व्यंग मुस्कान सहित कुछेक क्षण को विजया ने आंखें बन्द करलीं, शायद कुछ पूर्व स्मृति उसके मस्तिष्क में उदय हो उठी हो। मै चुप ही रही। विजया स्वयं ही कुछ देर पश्चात बोली ठीक ऐसे जैसे कोई कुवे में से बोल रहा हो—"दीदी अन्याय को सह जाने में हो यदि कोई महत्व होता हो तो कसाई की छुरी तले पड़ी हुई गाय संसार में सबसे अधिक महत्व शालिनी होती। केवल इसीलिये तुम्हारे बाहुओं में शक्ति नहीं है, केवल इसी कारण कि तुम्हारे मन में साहस नहीं है। यदि दीन हीन की भाँति अन्यायी के पद तले ही सिर झुकाकर कुचले जाने वाला अन्याय तुम सिर आंखों पर धारण कर सकती हो तो तुम अपने को भले ही मानव कह लो किन्तु मैं तो मानव को उस पतित प्रतिमा को कभी भी आदर की दृष्टि से देख न सकूंगी।"

मुझे जान पड़ा कि उसके शब्दों के भीतर कहीं एक भयङ्कर ज्वालामुखी निहित था। शब्दों में असह्य ज्वाला थी। उसके शब्द मेरी आत्मा में घुसकर उसे भी झुलसाने लगे। एक दिन अनेकों वर्ष पूर्व मैंने भी ठीक इन्हीं शब्दों से अपने निरीह पिता की भर्त्सना की थी। किन्तु उन्होंने मुस्करा कर कहा था—

"पगली, अन्याय.....कितना अन्याय है तेरी मां का ? अरी बावली ! उसका अन्याय भी तो मेरे सिवा अन्य किसी पर नहीं गिरता। और यही तो उस अन्याय का महत्व है। भले ही तू उसे अन्याय कह कर त्याज्य समझ ले किन्तु वह न मिलने पर जो पीड़ा मुझ को होगी, उसे तू कैसे समझेगी। उस अन्याय के पीछे मेरी कितनी मंगल कामना निहित है, सो कोई साध्वी सौभाग्यवती ही जान सकती है।" उस समय तो मैं झुंझला कर चुप हो गई थी। किन्तु जिस दिन चन्दर ने हँसकर कहा था, "मां, किसके पाप-अत्याचार की बात करती हो ? मेरे स्वामी की ? किन्तु मुझ में और उनमें अन्तर है ही कहां ? जब वह और मैं एक ही हैं तो फिर उनका अत्याचार मुझ पर— यह भला कैसे ठीक हो सकता है ? और फिर मानव मात्र ही तो एक आत्मा है, अन्तर है ही कहाँ ? जब अन्तर ही नहीं रहा तो कौन किस पर अत्याचार करेगा ?" "ठीक, ठीक", न जाने क्यों मैं चिल्ला उठी—"जो सांसारिक भेद से, मानवीय अन्तर से, लौकिक विभिन्नता से सर्वदा ऊपर, सर्वदा दूर पहुंच चुके हैं, उन व्यक्तियों के लिये अन्याय की व्याख्या क्या होगी, सो तो बता बिज्जी।"

शायद मेरे प्रश्न और कहने के ढङ्ग से बिज्जी घबरा उठी। फिर भी सम्भल कर बोली—

"तुम्हारी भाषा समझ सकूं अथवा नहीं, किन्तु यह अवश्य समझती हूं दीदी ! कि किसी के भी द्वारा किये हुए पाप का अभिनन्दन नहीं किया जा सकता।"

तब तक मैं भी सम्भल चुकी थी। मैंने यथासम्भव साधारण स्वर में ही कहा—"पाप जिस स्तर पर खड़े होकर मानव मस्तिष्क को छू पाते हैं, उसी स्तर पर तो हम खड़े हैं बिज्जी। हमारे लिये पाप अभिनन्दनीय नहीं हैं, सच ही नहीं हैं। किन्तु जो व्यक्ति उस स्तर से ऊंचे उठ गये हैं उनके लिये चारों ओर शिव ही शिव हैं, मंगल ही मंगल है। पाप उनकी छाया तक को स्पर्श नहीं कर पाता, फिर भला उनके मस्तिष्क में घुसेगा कैसे? और जब पाप उन तक पहुंच पाता ही नहीं तो वह उसे पहचानें क्योंकर?"

"कौन सा बुढ़िया पुराण ले बैठीं दीदी।" उसने कहा। "मैं तो जानती हूं साधारण सी बात कि मनुष्य के कोप में किसी अनजान सन्ध्या की कालिमा में अचानक दो शब्द किसी तरह मानव की दुर्बलता को आदर्श का रूप देने के लिये आ घुसे थे। वही दो शब्द है 'क्षमा' और 'सहनशीलता'। इन्हीं को लेकर भावुक व्यक्ति मन भर के धोखा खाया करते हैं।"

मैंने चिढ़कर कहा—"फिर भी 'क्षमा' और 'सहनशीलता' कुछ हंस कर उड़ा देने की वस्तु नहीं है। जो क्षमा नहीं कर पाते.....।"

बात काट कर बिज्जी बोली—"वह देते हैं दण्ड, कठोर दण्ड .....दण्ड देना, दे सकना यही तो मानव का साहसी रूप है ना। मानव को अमानुषिक रूप देकर उसे पंगु करके देवता कहकर न बहलाओ..... .....उसे मानव ही रहने दो, दीदी। देवता न होकर यदि वह मानव ही बना रहा, तभी उसका कल्याण निश्चय है।"

"कौन कह सकता है, वह कल्याण होगा अथवा अकल्याण, किन्तु यह जानती हूं कि दण्ड देना, क्षमा करने, सह सकने की अपेक्षा कहीं सरल है।"

इस बार बिज्जी उत्तेजित हो उठी। बचपन से ही उसे जानती हूं वह सदा की ही गम्भीर है, किन्तु उसकी उत्तेजना में प्रलयंकारी ज्वाला रहती है। व्यङ्ग से उसने कहा—"तब ही न दीदी, सुधीर को क्षमा करके कठिन कार्य करने का अभ्यास कर रही हो। मेरी बात तो जाने दो, किन्तु जिस दिन वह पामर तुम्हारे प्रेम भरे हृदय को ठोकर मारकर, चन्दर के धन की ओर बढ़ा था, उस दिन गृहस्थ की सुकुमार कन्या! तुम्हें, सृष्टि भर में कहीं पैनी कटार उसके हृदय से उतार देने को नहीं मिली? तुमने चुपचाप तकिये पर आंसू बहा कर कहा—'मैंने क्षमा कर दिया।' इसके बाद समाज ने जब बरबस तुम्हें एक बूढ़े के गले बांध दिया तो तुमने सिर झुकाकर वधु वेश में चिता की सी लाल लाल अग्नि को साक्षी करके कहा—"मैंने क्षमा किया।" फिर उसी वृद्ध की सन्तान को गर्भ में धारण करके आंखों का पानी बहाते हुए तुमने एकान्त में कहा, 'मैंने सहन किया।' छी·····यही है है न तुम्हारी क्षमा! तुम्हारी सहनशीलता·····छीः"

अधिक उत्तेजना से विजया का मुख लाल हो उठा था। वह अवज्ञा की हंसी हंस पड़ी।

इस बार मुझे उत्तर देने की अधिक चिन्ता न थी जितनी कि उसकी उत्तेजना शान्त करने की।

मैंने कहा "क्या जानूं विज्जी, यही आज तक जाना था और यही मानती भी हूं।"

"माने जाओ, माने जाओ, कसाई की छुरी तले पड़ी हुई गाय माने जाओ। इसी में तुम्हारा कल्याण है, अक्षय स्वर्ग जो मिलेगा। वही स्वर्ग, जिसका कुछ स्वाद तो तुम्हारी देवी चन्दर, सुपुत्री ले रही है। सचमुच ही यदि मेरा हाथ रुक न जाता होता तो मैंने अभी की चन्दर की छाती के ठीक बांई ओर कटार मार दी होती।"

मैं काँप उठी। इतनी तीव्र ज्वाला भरी हुई है, इस बालिका के उर में, दुर्बल उर में—यह क्या है? नारी की स्वभाविक दुर्बलता को छिपाने का अस्वभाविक प्रयत्न अथवा सचमुच की प्रतिहिंसामयी भयंकर ज्वाला?

कुछ ठहर कर मैंने कहा—"विजया! जो सृजन करते हैं वह सदा ही नष्ट करने वाले से बड़े हैं किन्तु उनसे भी बड़े हैं—वह जो उसका चुपचाप केवल भार मात्र ही वहन किये जाते हैं। इस सत्य को किसी दिन भी न भुला देना।"

"जो इच्छा हो, कहो दीदी, किन्तु मैं इस जन्म में तो सुधीर को कभी क्षमा नहीं करूंगी, किसी कारण भी नहीं।"

मैंने प्यार से उसके शरीर पर हाथ रक्खा। रहस्य अब बिल्कुल स्वच्छ था स्फटिक मणि की तरह। धीरे धीरे मैंने कहा—'फिर करोगी भी क्या रानी?"

"उसका खून पियूंगी, दीदी।" उसने शान्ति से कहा पर उसके शान्त स्वर के साथ उसकी आंखों से निकलने वाले अग्नि स्फुलिंग भी मिले हुये थे। मैंने उस समय तक भी इसे पागल का

प्रलाप मात्र ही समझा, किन्तु इसके बाद बिज्जी ने दूसरे दिन तक मुझसे फिर कोई बात नहीं की। दूसरे दिन सन्ध्या को अपना थैला सम्भाल कर वह द्वार तक जा खड़ी हुई।

"तो जाती हूँ, दीदी।"

"अरे अभी से, बिना कुछ कहे सुने ही बिज्जी।"

मैंने उसी दिन बिज्जी के पिता को तार दिया था। कल सुबह ही वह पहुंचने वाले थे। खोई हुई लड़की का अचानक ही जो पता लगा था।

"बस इससे अधिक किसी से भी ममता करने पर हमारा काम चल सकेगा क्या?"

"तेरी सारी ही बातें रहस्यपूर्ण हैं....."

उसने बात काटकर कहा—"अधिक कुछ पूछने पर, बताने पर फिर तुम मेरा मुख भी इस जीवन में नहीं देख पाओगी दीदी। भला चाहती हो तो मेरे विषय में फिर कभी कुछ सोचना भी नहीं और जानने का प्रयत्न करना भी नहीं। तुम या तुम्हारा कोई भी व्यक्ति मेरा पता जानने का यत्न भी न करे। मैं तुम्हें स्वयं ही अपना पता दे दूंगी।"

"अच्छा।" कहकर मैं धप से कुर्सी पर बैठ गई। क्षण एक कमरे के द्वार पर मूर्ति की भांति बिज्जी खड़ी रही। फिर एकाएक मेरी कुर्सी की बांह पर बैठकर मेरे गले से लिपट गई। इस बार उसकी आँखों में आंसू थे। "दीदी, एकबार अनजाने ही एक पाप किया था। एक नीच को सचमुच ही प्यार किया था, उसी के दण्ड स्वरूप स्वयं को कठोर निर्वासन दण्ड दिया है।

मेरे हृदय में क्षमा कहीं नहीं है दीदी, है केवल दण्ड ही दण्ड। मुझे क्षमा कर दो, तुम तो दण्ड देती नहीं हो न? मेरा प्रायश्चित अभी पूरा हुआ ही कहाँ है? सचमुच ही दीदी री, तुझे और चन्दर को न जाने किस अशुभ घड़ी में प्यार कर बैठी थी। आज सब कुछ भूल जाने पर भी तुम दोनों की ममता को अकारण ही सहेजे बैठी हूं।" कहकर उसने चटपट रूमाल के छोर से आंसू पोंछ डाले और फिर सहसा मेरे बांये गाल पर चुम्बन करके, बिजली की सी फुर्ती से कमरे से बाहर होगई। मुझमें तो शायद उठने की भी सामर्थ्य रह ही नहीं गई थी।

मैंने मन ही मन कहा—"विश्व भर की वेदना को चुपचाप छाती पर सह जाने वाली चन्दर, और विश्व भर के अत्याचार की सामूहिक राशियों को अपने क्रोध की ज्वाला से भस्म कर सकने वाली बिज्जी, तुम दोनों प्रणम्य हो। दोनों ही धन्य हो····· साथ रहने, खेलने, पढ़ने पर भी कितनी भिन्न रही हैं—यह दो नारी मूर्तियां····· ·····मां! अन्नपूर्णा माँ काली! तुम दोनों ही मेरे जीवन को अपनी छाया से, अपने स्पर्श से अनजाने ही धन्य करने को एकत्रित हुई हो।"

आंखों से आंसू झर रहे थे। नहीं मालूम वह वरदान का निर्मल जल था अथवा ग्लानि बहा डालने के लिये खारा पानी।

एक दिन जिस प्रकार अचानक ही बिजया आ गई थी, आज उसी प्रकार अचानक चली गई। उसके जीवन में है—अग्नि ·····अग्नि की भयङ्कर ज्वालायें, उन ज्वालाओं से वह झुलस चाहे रही हो किन्तु कुछ है तो, जिसे लेकर उसका जीवन चल

रहा है। वह कहती है बदला लेना ही चाहिये। अत्याचारी को दण्ड देना ही चाहिये—कुछ सोचने की सामग्री है उसके पास, उसके मन के आसपास की वृत्तियों को एकत्रित करने के लिये कुछ भाव बिखरे हैं। भले ही झुलसा देने वाले हों, भस्म कर देने वाले हों, किन्तु हैं तो सही।

चन्द्रिका के पास है शान्ति और अतुलित वेदना। वेदना का भार भले ही उसके हृदय को कुचल डाले, उसके मस्तिष्क को चीर फाड़ डाले किन्तु फिर भी कुछ है तो सही कुछ कह सकने योग्य तो है ही। किन्तु मेरे निकट तो शून्य मात्र ही है।

स्वामी की जीवित अवस्था में मेरा जीवन पल-पल, क्षण-क्षण छलमय तो था ही। छल से घिरा रहने पर भी कुछ तो था। उनकी चिन्ता, अपने भावों को उनसे छिपा रखने का यत्न, यह सब कुछ भी तो कम नहीं था। मेरे जीवन में भी कर्म था, उद्देश्य था, कुछ कह सकने योग्य कुछ था। सोचा था चलो उनकी मृत्यु के साथ ही दुश्चिन्ता, धोखा, अशान्ति का अन्त हुआ, किन्तु कहां? अब तो जीवन और भी शून्य हो उठा। आज तो वह कुछ कह सकने वाली वस्तु भी नहीं रही। आज तो जीवन में कुछ भी नहीं रहा। आज प्रातः से सन्ध्या तक न किसी की टेढ़ी भ्रकुटी की चिन्ता है और न किसी के सूखे मुख की। किसी की अनिच्छा से सेवा करने की भी चाह आज नहीं है। तब सब कुछ कृत्तिम था, ओछा था, बनावटी था, किन्तु था तो सही ना? आज है केवल मात्र एक शून्य। एक घना भयंकर शून्य—जिसका आदि भी नहीं है और अन्त भी नहीं। कितना भीषण है वह शून्य····· जहां न कोई चिन्ता है और ना आनन्द।

मेरे हृदय में क्षमा कहीं नहीं है दीदी, है केवल दण्ड ही दण्ड। मुझे क्षमा कर दो, तुम तो दण्ड देती नहीं हो न? मेरा प्रायश्चित अभी पूरा हुआ ही कहाँ है? सचमुच ही दीदी री, तुझे और चन्दर को न जाने किस अशुभ घड़ी में प्यार कर बैठी थी। आज सब कुछ भूल जाने पर भी तुम दोनों की ममता को अकारण ही सहेजे बैठी हूं।" कहकर उसने चटपट रूमाल के छोर से आंसू पोंछ डाले और फिर सहसा मेरे बांये गाल पर चुम्बन करके, बिजली की सी फुर्ती से कमरे से बाहर होगई। मुझमें तो शायद उठने की भी सामर्थ्य रह ही नहीं गई थी।

मैंने मन ही मन कहा—"विश्व भर की वेदना को चुपचाप छाती पर सह जाने वाली चन्दर, और विश्व भर के अत्याचार की सामूहिक राशियों को अपने क्रोध की ज्वाला से भस्म कर सकने वाली बिज्जी, तुम दोनों प्रणम्य हो। दोनों ही धन्य हो ··· साथ रहने, खेलने, पढ़ने पर भी कितनी भिन्न रही हैं—यह दो नारी मूर्तियां····· ·····मां! अन्नपूर्णा माँ काली! तुम दोनों ही मेरे जीवन को अपनी छाया से, अपने स्पर्श से अनजाने ही धन्य करने को एकत्रित हुई हो।"

आंखों से आंसू झर रहे थे। नहीं मालूम वह वरदान का निर्मल जल था अथवा ग्लानि बहा डालने के लिये खारा पानी।

एक दिन जिस प्रकार अचानक ही बिजया आ गई थी, आज उसी प्रकार अचानक चली गई। उसके जीवन में है—अग्नि ·····अग्नि की भयङ्कर ज्वालायें, उन ज्वालाओं से वह झुलस चाहे रही हो किन्तु कुछ है तो, जिसे लेकर उसका जीवन चल

रहा है। वह कहती है बदला लेना ही चाहिये। अत्याचारी को दण्ड देना ही चाहिये—कुछ सोचने की सामग्री है उसके पास, उसके मन के आसपास की वृत्तियों को एकत्रित करने के लिये कुछ भाव बिखरे हैं। भले ही झुलसा देने वाले हों, भस्म कर देने वाले हों, किन्तु हैं तो सही।

चन्द्रिका के पास है शान्ति और अतुलित वेदना। वेदना का भार भले ही उसके हृदय को कुचल डाले, उसके मस्तिष्क को चीर फाड़ डाले किन्तु फिर भी कुछ है तो सही कुछ कह सकने योग्य तो है ही। किन्तु मेरे निकट तो शून्य मात्र ही है।

स्वामी की जीवित अवस्था में मेरा जीवन पल-पल, क्षण-क्षण छलमय तो था ही। छल से घिरा रहने पर भी कुछ तो था। उनकी चिन्ता, अपने भावों को उनसे छिपा रखने का यत्न, यह सब कुछ भी तो कम नहीं था। मेरे जीवन में भी कर्म था, उद्देश्य था, कुछ कह सकने योग्य कुछ' था। सोचा था चलो उनकी मृत्यु के साथ ही दुश्चिन्ता, धोखा, अशान्ति का अन्त हुआ, किन्तु कहां? अब तो जीवन और भी शून्य हो उठा। आज तो वह कुछ कह सकने वाली वस्तु भी नहीं रही। आज तो जीवन में कुछ भी नहीं रहा। आज प्रातः से सन्ध्या तक न किसी की टेढ़ी भ्रकुटी की चिन्ता है और न किसी के सूखे मुख की। किसी की अनिच्छा से सेवा करने की भी चाह आज नहीं है। तब सब कुछ कृत्तिम था, ओछा था, बनावटी था, किन्तु था तो सही ना? आज है केवल मात्र एक शून्य। एक घना भयंकर शून्य—जिसका आदि भी नहीं है और अन्त भी नहीं। कितना भीषण है वह शून्य····· जहां न कोई चिन्ता है और ना आनन्द।

हाँ, तो उस दिन मैं चन्दर को देखने गई थी। चन्दर एलिस के साथ सिनेमा देखने गई थी। डाक्टर ने प्रति सप्ताह चन्दर को सामाजिक चित्र दिखाने की सलाह दी थी। उन चित्रों का उसके मस्तिष्क पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा, ऐसी डाक्टर की सम्मति थी।

नीचे से ही कराहने का शब्द सुना। कुछ आगे बढ़ी तो देखा कमरे में अकेली शल पड़ी ज्वर में छटपटा रही थी। नन्हीं फूल सी शैल की खूब लाल लाल आंखों में, खूब ही स्वच्छ जल भरा था। मुझे देखते ही चिल्ला उठी "मां"। मैं दौड़कर लिपट गई शैल से। मैंने कभी गिरिजा को भी शायद छाती से नहीं लगाया था किन्तु शैल न जाने कितनी देर तक मेरी छाती से ही लगी हुई, अन्त में मेरी गोद में ही अचेत होगई। ज्वर की तीव्रता से, न जाने कितनी देर मैं उसी प्रकार बैठी रही। कमरे के प्रकाश का स्थान अन्धकार ने ले लिया था। कभी कभी केवल शैलजा की कराहट के स्वर से मौन भग होता था। गृहिणी, उस बच्ची की दादी उसे रोगावस्था में ही छोड़कर नगर की स्त्री सुधार समिति की वार्षिक मिटिंग में गई हुई थी। शायद नौकरानी को देख भाल करने के विषय में कह गई थी। गृहिणी के द्वार से बाहर होते ही नौकरानी छोटे बाबू के दो तल्ले के कमरे की सफाई में जुट गई। सवेरे बाबू का आदेश मिला था, पर समय के अभाव से अब तक कर न पाई थी। उसके बाद बड़े बाबू का पूजा स्थल भी धोकर रात्रि पूजा की व्यवस्था करनी थी। साधु प्रकृति बड़े बाबू पूजा किये बिना जल भी ग्रहण नहीं करते थे। महाराजिन रसोई से बाहर ही नहीं आती थी। नौकरों को अपने कामों से समय ही नहीं मिलता था। पागल माँ की अपदार्थ सन्तान की देखभाल करने को भला और रह भी कौन

गया था। अन्धकार कुछ कुछ गाढ़ा होने लगा था, इसी समय एक मानव मूर्ति आ खड़ी हुई ठीक द्वार के सामने। भीतर अन्धकार था, शायद मेरे मनके भीतर भी।

सुधीर ने बाहर से ही पूछा—'शैल कैसी है ?" शायद बैठी हुई नारी मूर्ति को उसने नौकरानी ही समझा हो।

मैंने जलकर कहा—"अभी मृत्यु की घड़ियाँ गिनने में देर है, न हो तब तक और ही काम कर आओ।"

अन्धकार होने पर भी मैंने स्पष्ट देखा कि सुधीर एकबार सिर से पैर तक कांप उठा। फिर धीरे धीरे अन्दर आगया।

"सुरभि" क्या शैल अकेली ही पड़ी थी। हाँ, मां को तो आज जरूरी ही जाना था। नर्स चन्दर के साथ गई हुई है। पर लाडो कहां मर गई ? अभी खबर लेता हूँ।" कहकर सुधीर ने जाने का उपक्रम किया। मैं तो जली भुनी बैठी ही थी।

"जिस घर के व्यक्ति, मालिकगण ही किसी वस्तु को अपदार्थ समझ कर असमय में ही पैरों से ठेल कर दूर कर देते हैं, तीनों लोकों में यत्न करके भी कोई उसे उस घर के दास-दासियों के लिये आदरणीय नहीं बना पाता।"

"यह क्या कहती हो सुरी ? शैलजा तो मेरा प्राण है।" सुधीर ने स्वर में करुणा भरकर कहा, किन्तु स्वर में स्वाभाविकता नहीं आ सकी।

ग्लानि से भरकर मैं कठिनता से कह पाई—"छीः, मैं तुम्हारी सास हूँ, मां तुल्य। तुम्हें अपने मुख से सुरी कह कर सम्बोधन करते लज्जा नहीं आती ?"

"मेरे लिये तुम सदा ही सुरीं हो।"

"अचेत लड़की के सिर पर खड़े होकर अपनी सन्तान की उपस्थिति में स्वयं को धोखा देते लज्जा से डूब नहीं मरते।" कहती हुई मैं नन्हीं सी शैल को लिये हुए ही बाहर चली आई। किन्तु क्षण भर में ही इसे लेकर कहां बैठूं, यह कठिनाई भयानक रूप से मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुई।

सुधीर ने स्विच दबा कर प्रकाश कर दिया और फिर कमरे से बाहर आ गया।

"तुम्हारी इच्छा, आप बैठें, मैं जाता हूं।" कह कर सुधीर चला गया, ऊपर अपने कमरे में। मैं फिर शैल के कमरे में आ बैठी। क्षण भर में ही क्षणिक आवेश धुल गया। मुझे जान पड़ा कि मैं अकारण ही सुधीर पर कठोर हो उठी थी।

इच्छा हुई कि उसके चरणों पर सिर रखकर कह दूं "सुधीर, क्षमा करो, मैं किसी पर भी कठोर नहीं होना चाहती। यह अधिकार मुझे किसी दिन मिला भी नहीं था, किसी के लिये नहीं। किन्तु मानसिक क्लेश और विकार ने मुझे पागल कर दिया है।" आंसू आंखों से निकलने का यत्न कर ही रहे थे कि लाडो आ पहुँची।

"ओह रानी जी, कब आईं ? लो मैं तो रात दिन बिटिया के पास ही रहती हूं और क्या बड़ी बहू कुछ कम करती हैं। आज जरा जाना था जरूरी नहीं तो बिटिया तो उनका प्राण है। छोटे बाबू हाथों ही हाथों रखते हैं। सिर्फ छोटी बहू तो फूटी आंख भी नहीं देख पाती। न जाने नौ महिने गर्भ में कैसे रक्खा था .....मैं इसके बिना..... हायरे मेरी बच्ची कैसे तप रही है ..."

वह बिस्तर की चादर खींचते खींचते न जाने और क्या क्या बकती जाती, पर मैं ऊब उठी। मैंने धीरे से कहा—"लाडो सिर पर पट्टी रखना है, गुलाब जल और सिरका तो एक कटोरी में डाल लाओ।"

"अभी लो, सो क्या मैं जानती न थी। मैं तो पहले ही जानती थी कि ताप जोर पर है। आखें जो कपार पर चढ़ी हैं।" कहती कहती पुरखिन की मुंह चढ़ी, घर की दासी, चौखट से बाहर होगई। उस रात मैं घर भी न जा सकी, केवल शाम को एकबार मेरी नर्स दोनों बच्चों का समाचार दे गई। बच्चों का किसी दिन भी मुझसे मोह न था। तो भी स्वामी की मृत्यु के बाद आज पहली ही बार मैं उनको अकेले नर्स के पास छोड़कर इस घर में रही थी। रात बैठे ही बैठे बीत गई। पुरखिन इसी बीच दो बार आई—एक बार अपने जाने की क्षमा मांगने, तथा दूसरी बार सोने से पूर्व शैल का हाल पूछने और अपनी न जाग सकने की असमर्थता बताने—पिछले तीन वर्ष से उन्हें सिर दर्द का रोग है ना। वह तो जाग सकती ही नहीं है।

सुधीर इस बीच में फिर एकबार भी नहीं आया। लाडो वहीं फर्श पर सोती रही और एलिस कई बार आकर देख गई। चन्दर तो आ सकती ही न थी। न जाने क्यों शैल को देखते ही उसके मस्तिष्क का समस्त रक्त खौलने सा लगता था। क्षण भर के लिये शैल के पास बैठे ही बैठे मेरी आंख झपक गई। एक स्वप्न सा था। स्वामी खड़े थे मेरे सामने, उनके साथ एक नारी भी थी, शायद चन्दर की मां हो।

स्वामी ने कहा—"गुरी, चलोगी वहां, जहां हम हैं। बड़ा

ही आनन्द है। वहां तो सदा ही वसन्त है, यहाँ की तरह वहां रोग शोक हैं ही नहीं।"

महिला ने कहा—"चलो, सुरभि, बहिन मेरी ! वहां नरगिस के फूलों की एक माला मैंने बनाई है बड़ी ही सुन्दर, बड़ी ही उज्ज्वल। वही तुम इनके गले में पहना देना।" कहकर वह मुस्कराई।

"किन्तु शैल ? इसका क्या होगा ?" मैंने कुछ चिन्ता से कहा। स्वामीने सुदूर अंगुली से संकेत किया.....दूरी पर एक नदी बह रही थी। खूब स्वच्छ जल से भरी हुई, वह थी खूब श्वेत चाँदी सी उज्ज्वल। वहीं एक कमल पुष्प की नाव बनाये शैल तैर रही थी। स्वच्छ सुन्दर, उसी नदी के तट पर एक ओर एक कमरे में सुधीर और चन्दर बैठे हैं.....चन्दर वीणा छेड़ रही है और सुधीर एक टक उसके मुख की ओर देख रहा है। चन्दर की आकृति, मुख छवि सब कुछ उसी दिन की सी है जब कि वह मुझे नव-वधु वेश में घर में लाई थी। जाने क्या सोचकर मैं उधर ही दौड़ पड़ी। दौड़ते दौड़ते स्वयं ही नदी में गिर पड़ी। पैर फिसल गया। सर्व ग्रासी लहरें मुझे डुबोने लगीं। अतल में.....मैं एक हल्की सी चीख मारकर चौंक पड़ी। पसीने में मानो मैं नहा गई थी। शैल उसी प्रकार अचेत थी। घबरा कर शैल के माथे पर मैंने हाथ रखा, माथा जल रहा था। इधर मेरा रोम-रोम काँप रहा था, दिल धड़क रहा था। आज जीवन में पहली ही बार मुझे डर लगा। मुझे जान पड़ा कहीं अज्ञात प्रदेश में मेरे स्वामी मेरे डर पर खिलखिला कर हंस रहे हैं। मुझे लगा कि वास्तव में प्रेत जैसी भी कोई सत्ता होती ही है

और वही मेरे सर्वाङ्ग को जड़ किये डाल रही है। अकारण ही मैंने लाडो को आवाज दी।

लाड़ो एक बार 'हां, हूं' करके फिर न बोली। न जाने क्यों मैंने मन ही मन कह डाला—"नारायण! किसी दिन भी तुम्हें जाना नहीं, माना नहीं, समझ पाई भी नहीं किन्तु तुम सत्य अवश्य हो। तुम हो अवश्य, यदि हो तो बताओ मेरे पापों का अभी प्रायश्चित नहीं हुआ क्या? मन के साथ युद्ध कर सकने की सामर्थ्य अब मुझ में नहीं है। प्रभु! मुझे क्षमा करो जगदीश्वर।" मैंने अनजाने ही किसी शक्ति के सम्मुख सिर झुका दिया। बिज्जी होती तो शायद हंसकर कहती, यह मानव की सब से बड़ी हार है, यह उसका सब से घृणित दीन रूप है, किन्तु मुझे जान पड़ा कि मुझे कुछ बल प्राप्त हो गया। धैर्य से मैंने शैलजा का ताप लिया। ज्वर कम न था, किन्तु मेरे मन का ताप शायद कुछ कम होने लगा था।

प्रातः गिरिजा मेरी छाती से आकर लिपट गई। मुन्ना भी कुछ विचलित सा ही था। किन्तु शैल का ज्वर उतर रहा था। गिरिजा ने अपनी वाणी में मुझे समझाया कि मुझे शैल को भी ले चलना होगा, अपने साथ ही। नर्स के साथ गिरिजा कार में आई थी। मुझे भी कार में ही जाना था। मैंने कल दोपहर से जल तक भी न पिया था। नर्स को शैल के पास छोड़ कर मैं अकेले ही चन्दर के पास गई। गिरिजा को भी नीचे ही छोड़ गई। चन्दर किसी भी बच्चे की दृष्टि सह पाती ही नहीं थी। केवल इच्छा होने पर कभी-कभी मुन्ने को प्यार कर लेती थी। अधिकाँश तो बोलती ही नहीं थी।

आज बैठी हुई कुछ पढ़ रही थी, मुझे देखते ही प्रसन्नता से बोली—"ओह, मां, आई है। आओ, आओ मां !" यह स्वागत कुछ नया ही था, मैं सहम सी गई, पर पास जाकर बैठ गई।

चन्दर स्वयं ही बोली—"माँ, डेडी अच्छे हैं ? तुम उन्हें अकेला क्यों छोड़ आती हो ? जानती नहीं, उन्हें पानी तक तो पीने की समझ है नहीं।" बहुत बार चन्दर को उनकी मृत्यु का समाचार दिया जा चुका था। पर वह सदा ही भूल जाती थी। मैंने तो अब बताना ही छोड़ दिया, चुप ही रही। पर चन्दर आज कुछ अधिक बाचाल हो रही थी, स्वयं ही बोली—"अच्छा, कोई बात नहीं है। हैं तो कुशलपूर्वक ही ?"

मैंने छोटी सी 'हां' भर कर दी। यद्यपि मेरे मन में, न उस समय पीड़ा थी और न हर्ष ही।

"मुन्ना नहीं आया ?"

"आया है, बुलाऊं ?"

"घाह री, मां, तुम्हारी बुद्धि ! इसी बुद्धि को लेकर डेडी जैसे भोले व्यक्ति को लेकर, घर बार करोगी मां ? मेरा भाई। मेरा प्यारा भाई और उसके लिये पूछती हो बुलाऊं ?" फिर स्वयं ही चिल्ला कर बोली—"एलिस जा तो, मेरे नन्हे भाई को उठा ला, नीचे होगा। मैं तो आप दौड़ जाती नीचे। पर यह नीचे जाने जो नहीं देते, वहां गन्दगी रहती है ना ? यह कहते हैं पैर गन्दे हो जायेंगे।" कहकर खुद ही खिलखिला कर हंस पड़ी। इसके बाद बहुत देर तक मुन्ने को प्यार करती रही। यह सब कुछ देख कर मुझे सन्तोष हुआ।

मेरे चलने की तैयारी करते ही चन्दर बोली—"मां, आज मेरा जन्म दिन है, मनाओगी नहीं क्या ?"

"हां, हां क्यों नहीं चन्दर ?"

"तब मैं ढेर सारे फूल लूंगी और हां मां, बिज्जी को भी बुलाना, कमल को भी, फिर नदी किनारे पिकनिक को चलेंगे। वह भी बहुत दिन से पीछे पड़े हुये हैं।"

कुछ न समझ कर भी मैंने कह दिया—"अच्छा चलेंगे।"

"कब"

"सन्ध्या को।"

नीचे आने के लिये सीढ़ियां उतरते उतरते मुझे एलिस ने बतलाया कि चन्दर पन्द्रह दिन से प्रतिदिन यही समझती है कि आज उसका जन्म दिन है और सुधीर उसे पिकनिक पर ले जाने के लिये पीछे पड़ा हुआ है। उसने कहा डाक्टर की राय है कि उसे अवश्य पिकनिक पर ले जाया जाये। नदी तट की वायु उसके मस्तिष्क पर अच्छा प्रभाव करेगी। इस समय शैल को ज्वर भी न था।

एलिस ने उसके पास रहना स्वीकार कर लिया। सन्ध्य को जाना तय हुआ। पुरखिन की सम्मति तो असानी से ही मिल गई, किन्तु सुधीर चलने को किसी प्रकार भी राजी नहीं होता था। उसे शायद कुछ दिन पूर्व ही किसी दल की ओर से गुमनाम पत्र मिला था कि किसी मुकदमे में राज्य की ओर से अन्यायपूर्ण पैरवी करने के लिये वह लोग उसे अवश्य ही दण्ड देंगे। बहुत कुछ कहने-सुनने तथा समझाने पर कि उन्हें हमारी स्कीम का पता भी क्या होगा, स्कीम तो अभी बनी है, वह भी

चलने को तैयार हो गया। मुझे अभी कुछ ही घण्टों में खाना, नहाना आदि निबटा कर यहां आना होगा और फिर एक नौकर को साथ लेकर सुधीर, चन्दर, मैं और मुन्ना चले जायेंगे नदी तटपर। सुधीर की इच्छा थी कि दो चार और व्यक्तियों को भी निमन्त्रित किया जाये किन्तु एक तो इससे प्रोग्राम अधिक फैल जाने का भय था और दूसरे मेरे मन की अवस्था आज वैसी न थी कि और व्यक्तियों के साथ कुछ घण्टे भी बिताये जायें। रात का स्वप्न दिन में भी मेरे मन पर पूर्ण रूप से छाया हुआ था। एक बार तो इच्छा हुई कि ना ही चला जाय, किन्तु चन्दर का हित जो था और मेरे पश्चात उसको लेजाने वाला कोई भी न था। सोच समझ कर मैं किसी प्रकार राजी ही हो गई। खाने पीने आदि का प्रबन्ध भी मुझे ही करना होगा, यह सोचती हुई मैं तुरन्त ही मुन्ने को गोद में लिये हुए कार में बैठ गई। नर्स भी गिरिजा को लेकर आगई, मेरी सुन्दर फूल सी गिरिजा!

घर पहुँचते ही स्नान करने के पश्चात डाक देखी। तीन पत्र थे, एक में तो मुंशीजी ने लिखा था कि कुछ व्यापार के विषय में आवश्यक सलाह करनी है, मैं तुरन्त ही वहां पहुँच जाऊं। उत्तर दिया कि कल प्रातः की मेल से चल दूंगी। कर्तव्य-जो ठहरा और शैल भी अब अच्छी है। आज सन्ध्या की पिकनिक भी हो जायगी। हायरी, अभागी चन्दर!

दूसरा पत्र था मां का। पिता की तबीयत ठीक नहीं रहती—उरभि शीघ्र ही मां होने वाली है, और उसकी ससुराल में कोई उत्तम प्रबन्ध नहीं हो सकता। वह घर भी नहीं आ सकती। अतः यदि घर पर मैं कुछ दिनों के लिये पिता के पास रह जाऊं तो अच्छा हो।

एक-एक शब्द में विनम्र प्रार्थना थी। मुझे जान पड़ा कि मैं कालिज से पढ़ा के लौट कर अपने कमरे में पैर फैलाये बैठी हुई एक उपन्यास पढ़ रही हूं कि पिता ने बैठक से मीठी सदा की प्यारी आवाज दी है—'सुरी'। इच्छा हुई चिल्ला उठूं—"आई, पिता जी।" और दौड़कर जा लिपटूं—अपने पिता के गले से, ठीक पांच वर्ष पूर्व की तरह। किन्तु हायरे, अभागे पाँच वर्ष! तुमने कितनी गहरी खाई खोद दी है, मेरे जीवन और मेरे देवता पिता के बीच में। क्या आज भी मैं उसी प्रकार जा सकती हूं उनके गले से लिपटने। माँ ने अन्त में लिखा था—"ओ, मेरी गर्वीली सन्तान! मैंने एक दिन तेरी छोटी बहिन के परिवार के कल्याण के लिये तेरे निकट शब्दहीन भिक्षा मांगी थी, तूने वह भिक्षा दी, मुझे खाली लौटाया नहीं। किन्तु विश्वभर में तेरा वह त्याग, तेरी इस अभागी जननी के अतिरिक्त और कोई भी नहीं जान पाया हो, सो भले ही न जाने, किन्तु मैं उसे भले प्रकार जान सकी हूं। किन्तु बेटी तूने भी उस मेरे अपराध के बदले में मुझे कुछ कम दण्ड नहीं दिया है। सन्तान का अपने जीवन पर चुपचाप अपने ही हाथों किया हुआ अत्याचार, माता-पिता के लिये सब से बड़ा दण्ड है, यह माँ बन कर अब तक तू समझ ही गई होगी। किन्तु आज सचमुच ही भिक्षा माँगती हूं, मुझे क्षमा करदो, सुरी। जानती हूं तू किसी दिन भी इस दाम्पत्य जीवन को लेकर सुखी नहीं हो सकी, किन्तु बेटा जो हो चुका है, वह लौटने का नहीं, किसी प्रकार भी नहीं। फिर स्वयं अपने ऊपर क्रोध, अभिमान करके उसका महत्व छोटा न करो। जो दान एक बार प्रसन्न मुख से दिया था, उस पर किसी दिन भी आँसू न गिराना, बेटा!"

पढ़कर मैं केवल मात्र मुस्करा दी। जिसके जीवन में निरन्तर शून्य, केवल मात्र शून्य ही रह गया हो, कहीं विराम नहीं, अर्द्ध विराम भी नहीं, कहीं भेद भी नहीं, रुकावट भी नहीं; केवल मात्र है गति, एक सी, लगातार गति·····वह भी लक्ष्य-हीन, किसी के लिये भी नहीं, किसी ओर भी नहीं; केवल मात्र शून्य में, शून्य सी, शून्य के लिये ही गति, वह किसी के, किसी भी आदेश को रखेगी कहाँ? उसकी झोली तो शून्य से ही भरी है, शून्य ही है।

लिखा—"मां, व्यर्थ ही अपने को दुःख न दो। मुझे तनिक सा भी क्रोध, अभिमान नहीं है। दाम्पत्य-जीवन में कभी दुःख भी नहीं हुआ। पिता से मिलने की इच्छा है, उनकी सेवा करने की भी. किन्तु ऐसा सौभाग्य शायद शीघ्र मिलेगा नहीं, बड़े घर की गृहिणी हूं ना? इधर मेरी बेटी पागल है, सो तो तुम्हें मालूम ही है। उसकी नन्हीं लड़की बीमार है। उधर व्यापार सम्बन्धी सलाह मुंशी जी के साथ करनी है। यथा सम्भव इस मास के अन्त तक आऊंगी।

उरभि को प्यार। तुम्हारे और पिता के चरणों में प्रणाम—

—तुम्हारी बेटी सुरी"

तीसरा पत्र था विजया का। यही उसका मेरे घर से जाने के बाद प्रथम पत्र था। लिखा था—

दीदी,

मिलना चाहती हूं पर मिलूंगी नहीं। तुमसे किस लिये मोह बढ़ाऊं? तुम मेरी हो ही कौन? अरे 'दीदी' लिखा है आरम्भ में, अच्छा जो लिख चुकी हूं सो काटूंगी तो नहीं किन्तु

उस दिन तुम्हें क्या अधिकार था मेरी भावनाओं को छिन्न भिन्न कर देने का ? मैं प्रतिहिंसा, प्रतिशोध की पुजारिन हूं। मुझे नारी का काली कराली रूप ही प्रिय है किन्तु तुमने उस दिन उसके अन्नपूर्णा कमला रूप का वर्णन करके मेरे हृदय में एक भयंकर द्वन्द-प्रतिद्वन्द उत्पन्न कर दिया, क्यों ? इससे तुम्हें क्या मिला? कुछ भी तो नहीं। किन्तु मेरी शक्ति नष्ट हो गई। अच्छा—मैं अपनी नष्ट प्रायः शान्ति पुनः प्राप्त करूंगी। प्रतिहिंसा का व्रत पूरा करके ही रहूंगी। फिर भले ही मैं भी चन्दर की तरह पागल हो जाऊं—फिर कोई चिन्ता नहीं होगी। आशा नहीं, कि यह पत्र तुम्हें कभी भी मिले, किन्तु यदि मिले तो तुम दुर्बल, दीन पशु-प्रतिमा अपनी दोनों आँखें आंचल के छोर से पोंछ कर कह उठना—हाय री अभागी विजया .....बिचारी पागल होगई।' किन्तु मैं तब तक तुम्हारी दया, तुम्हारी करुणा और तुम्हारे शब्दों की नमी की पहुँच से बहुत दूर जा पहुँचूंगी—यह जान रक्खो। यह जान रखना, कुछ भी हो, अब इस जीवन में तुमसे नहीं मिलूंगी। पत्र भी नहीं लिखूंगी। कभी चन्दर से मिलना तो कह देना—विजया ने कहा था 'मेरी आदर्श यशोधरा! विजय तुम्हारी नहीं है, विजय मिली विजया को और पराजय मिली चन्द्रिका को। किन्तु शायद मेरी विजय तुम्हारी पराजय से कहीं अधिक कड़वी, कहीं अधिक शुष्क है। कौन जाने तुमने पराजय का आनन्द लिया अथवा नहीं किन्तु मैं इस अभागी विजय का आनन्द नहीं ले सकी।'

बस मेरा अन्तिम आशीर्वाद है कि तुम शीघ्र ही इस मानसिक सहन शीलता के चंगुल से छुटकारा पाओ।

बिज्जी"

मैं सचमुच ही पत्र पढ़कर रो पड़ी। नहीं, अब और रोऊंगी नहीं। अब कुछ और लिखूंगी भी नहीं। जीवन में बढ़ता हुआ शून्य मुझे बुरी तरह घेरता जा रहा है। कौन जानता है इसका अन्त कहां होगा। पिछले कई वर्षों में बहुत कुछ लिखा है। यह क्या है ? मेरी आत्म-कथा अथवा वेदना-रुदन। पर अब और नहीं लिखूंगी। लिखने से पीड़ा कुछ बढ़ ही जाती है घटती नहीं। नहीं, नहीं अब और पीड़ा बढ़ाऊंगी नहीं ····मैं मां हूँ मुझे अपनी सन्तान को, अपने स्वामी की सन्तान को, मनुष्य बनाना है। मुझे तो पागल होने की भी सुविधा नहीं है। अवकाश भी नहीं·····कल का स्वप्न फिर याद आरहा है। ·····पर नहीं, यह अन्तिम शब्द है। अब कभी भी कुछ नहीं लिखूंगी और होगा भी क्या लिखकर—

विजयश्री की आत्म कथा

"प्रारम्भ"

आह, दुर्भाग्य! आज मुझे भी अपनी आत्म-कथा लिखनी पड़ेगी। किन्तु मेरी आत्मकथा में है ही क्या? केवल मात्र दो पंक्ति, नारी जीवन के उभरे हुये आंसुओं की। "अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध, आंखों में पानी।" किन्तु मेरे जीवन में तो आंचल का दूध, छाती का रक्त और आँख का पानी यह सब कुछ ही छाती के भीतर धधकती हुई ज्वालामुखी में पड़कर कभी का भस्म हो चुका है। अब रहा ही क्या है, फिर भी जब उस दिन पागलखाने के भारी द्वार को लाँघ कर भीतर पहुंच सकी तो जान पड़ा कि इस सूखे हुये अश्रु-श्रोत में एक बार फिर तूफान सा आने लगा है। सचमुच ही मुझे रोये हुये एक लम्बा समय बीत गया था। मेरे आँसुओं के पीछे छिपा हुआ हृदय भी अब एकदम सूखकर काठ होगया था, तो भला आंसुओं का तो फिर कहना ही क्या। हाँ, तो मैं उस दिन चन्दर से मिलने गई थी। सुना है वह पागल हो गई है। आह लेकिन मैंने आत्मकथा तो अन्त से आरम्भ करदी। कोई हर्ज नहीं, अब तो यह लिखकर ही अतीत की स्मृतियाँ खखोलूंगी। चन्दर का पागल होना मेरे लिये कोई नयी बात न थी। जिस दिन से उसका विवाह हुआ था उसी दिन से मुझे रात दिन उसके पागल होने के स्वप्न आते थे। वह अत्यन्त भावुक प्रकृति थी ना? हाँ, तो लेडी डाक्टर की उपस्थिति में ही चन्दर लाई गई।

कितनी उज्ज्वल दृष्टि थी आज भी·····आज भी मेरी सखि की। वह हस्पताल के एक सुन्दर कमरे में रहती थी। उसके चारों ओर का वातावरण उसकी इच्छानुसार फूलों के वृक्षों से सजाया गया था। डाक्टर तथा मेटरन दोनों का ही, उससे सुना जाता है, सहज स्नेह है। डाक्टर ने मुझे बतलाया कि वह अधिकतर पढ़ती रहती है। कभी कभी होश में होने पर लिखती भी रहती है किन्तु जो कुछ लिखती है वह कभी किसी को देती नहीं। पूछने पर भी कह देती है कभी देख लेना। पागलों का और कोई भी लक्षण, सिवाय गुमसुम हो जाने और कभी कभी बिना कारण ही जोर जोर से रोने के उसमें और कुछ भी न था। कभी कभी कुछ चिल्लाने भी लगती है लेकिन सदा अचेत नहीं रहती। किन्तु डाक्टर कहता था कि उसका अचेत रहना अधिक सुखकर है। चेतना में शायद वह अधिक दयनीय हो जाती है। सुनते हैं उसके पति ने उसे अधिक दिन तक घर में रखना उसके स्वास्थ्य के लिये हानिकर समझा है। छीः, सुधीर तुम्हारा विश्वास करना अविश्वास करने से अधिक भयंकर है। चन्दर के पिता उसे घर ले जाना चाहते थे पर डाक्टर ने आज्ञा न दी, क्यों कि गाँव में रखकर बहुत सुयोग्य डाक्टरों का हर समय मिलना असंभव सा ही है और कभी कभी चन्दर को दौरे आने पर डाक्टर का होना आवश्यक हो जाता है। फिर भी वह और चन्दर की नई मां अपने दोनों बच्चे, एक पुत्री और छोटे पुत्र को लेकर प्रतिमास चन्दर को देखने अवश्य आते हैं। तबतक कभी सुरभि, दीदी या नई मां को विवाह के पश्चात् देखा तो नहीं था। किन्तु जान पड़ता था कि जिस दिन देखूंगी उस दिन आँखों की भागीरथी को रोक न सकूंगी। चन्दर उसकी सगी लड़की तो

है नहीं फिर भी जो मुक्त प्रेम वह चन्दर पर बरसा रही है वह संसार के लिये आदर्श वस्तु है। हां तो चन्दर, वही सुन्दर बुद्धिमर्त आदर्श लड़की चन्दर, आई। उसकी नीली गम्भीर आकाश जैसे रंग की साड़ी उसके गले में बड़ी ही सुन्दरता से, सरलता से लिपटी थी। श्वेत ब्लाउज पर इम्बरौयडरी स्वयं मेटरन ने करके दी थी। बड़ी ही सुन्दर कट की ब्लाउज थी, जान पड़ा कमरे में रूप की रानी आगई। खुले हुये बाल बड़ी सुन्दरता से, कोई एक नर्स ने जो कि चन्दर के पिता ने उसके लिये नियुक्त की थी, बना दिये थे। यही सब बातें डाक्टर ने मुझे बताई। चन्दर ने आते ही पुलक कर कहा—"आओ, आओ बिज्जी, कहो आज मिस श्रीपत का क्या हाल है ?" मेरी आंखों के आंसू मुझे चन्दर का सुन्दर मुख देखने ही नहीं देते थे। मिस श्रीपत कालेज में हमारी अंग्रेजी साहित्य की अध्यापिका थी। अनेकों बार मैं चन्दर और कमल साथ बैठकर मिस श्रीपत से विभिन्न विषयों पर बहस किया करते थे। परन्तु छात्र-मण्डली में वह 'मूडी परसन' के नाम से प्रसिद्ध थी। प्रतिदिन जब भी हमें कोई लड़की मिलता तो हम उससे मिस श्रीपत के उस दिन के मूड का हाल पूछ लिया करते थे।

चन्दर शायद उस दिन कालेज जीवन के ही स्वप्न देख रही थी। वह कहते सोचते भी दुःख होता है, पागल थी ना ? और पागल के लिये अतीत और भविष्य तथा वर्तमान में कोई भेद तो होता है ही नहीं। सहसा मैं उत्तर न दे सकी। उसने स्वयं ही कहा,—"तो मैं तैयार हो लूं। चलेगी ? क्या कालेज बिज्जी ? मेरी बिज्जी बड़ी रानी है। तू ठहर तो सही, मैं अभी तैयार हो लेती हूँ।"

मैं कुछ कहने ही वाली थी कि मेटरन ने मेरे कान में कहा,—"आप इन्हें ऐसा ही उत्तर दें जैसा कि यह आशा कर रही है, नहीं तो यह समझ पायेगी ही नहीं। इस समय इसका व्यक्तित्व छात्र जीवन को ही वर्तमान मान रहा है।"

बड़ी कठिनाई से आंसुओं की बाढ़ रोककर मैंने कहा—"अब तो मैं तुमसे मिलने आई हूँ, कालिज तो अब कल चलेंगे चन्दर! इस समय बैठो कुछ गपशप हो। आज तुझे मिसिज नन्दा के लेक्चर की मजेदार बात सुनाऊं।"

अचानक छोटे बच्चे की भांति ताली बजाकर चन्दर नाच उठी—"बिउजी रानी तू बड़ी ही भली है, सचमुच मैं आज सारे दिन ही मिसिज नन्दा के विषय में सोचती रही थी। कल उन्होंने जो प्रश्न दिया था वह मैंने तो अभी तक किया ही नहीं। भई करूं क्या, लास्की तो मुझे मिली ही नहीं। लाईब्ररेरी में गई थी सुबह पर लास्की थी इश्शुड, मैं क्या करती? अब मिसिज नन्दा कल नाराज होंगी, यही ना? अब तू ही बता मैं क्या करूं?"

मैं क्या कहती, आसुओं ने मुझे अन्धा कर दिया था। एक दिन और मैं इसी प्रकार रोई थी, खूब रोई थी। इतना रोई थी कि दोनों आंखें खूब लाल होकर फूल गई थीं। किन्तु शायद उस दिन चन्दर के प्रति मेरे हृदय में कुछेक ईर्ष्या के भी बीज थे। वह रात थी, चन्दर के विवाह की रात। मैं चन्दर के विवाह पर नहीं गई थी। क्यों नहीं गई थी सो केवल वही लोग जान सकते हैं जिन्होंने कभी किसी क्षण किसी वस्तु को अपनी सम्पूर्ण रूप से अपनी समझ लिया हो और फिर वह वस्तु उनसे केवल

इसलिये छीन ली गई हो कि उनके पिता के पास अतुल धन राशि नहीं है। छीः, आज मैं क्या सोचने लगी। हां तो उस दिन मैं जी भर कर रोई थी। शायद चन्दर के सौभाग्य जनित ईर्षा के कारण। किन्तु आज रो उठी—उस फूल की सी कोमल, शान्त, संयमी और सरस्वती तुल्य बुद्धिशालिनी चन्दर के दुर्भाग्य पर। मैं शायद कुछ उत्तर देती किन्तु मेरे उत्तर देने के पूर्व ही शान्त सरल, भोली, शिशु-मूर्ति चन्दर एकदम रण-चण्डिका बन उठी। बड़े जोर से पास पड़ी हुई मेज पर हाथ पटक पटक कर चन्दर, क्या कहूं चन्दर या चन्दर का शरीर, चिल्लाने लगा—"बिज्जी तुझे मेरे स्वामी का अपमान करने का क्या अधिकार है? तूने मुझे धोखा दिया है·····तूने उनका अपमान किया है।·· ····" उसकी चिल्लाहट इतनी तेज थी कि मैं घबड़ा गई। डाक्टर ने मुझे शान्त करके कहा—"यह अक्सर ऐसे ही चिल्लाने लगती हैं।"

चन्दर कहती ही जारही थी "एलिस·····तुम झूठी हो। तुम झूठ बोलती हो····· ···मेरा युग-युगान्तर का विश्वास भंग न करो····· ····नहीं, नहीं, मेरे स्वामी ऐसे हो ही नहीं सकते। मेरी आंखों के आगे से दूर हो जा, पापिनी····· मेरे स्वामी देवता हैं, मेरा सहज विश्वास भंग न कर·····" मेटरन ने थोड़ी देर सिर थपथपा कर चन्दर को कुछ मिक्चर बनाकर पीने को दिया। एलिस नर्स ने आकर सिर पर कुछ तरल पदार्थ सा मला। फिर भी चन्दर कहे ही जारही थी "·····वह·····वह अभी जीवित है क्या? आह वह तो मर चुकी है, देखती क्या हो? विजया, मैंने स्वयं ही उसे जन्म दिया था। मुझे वह बड़ी ही प्यारी थी। मैंने उसे बहुत

अधिक प्यार किया था, वह मेरे स्वामी की प्रतिमूर्ति थी ना ?" ....वह खूब जोर से खिलखिला कर हंस उठी और कहती गई ।....."और उस दिन मैंने स्वयं ही देखा था, कितनी लम्बी, पतली, कोमल सुन्दर है मेरी अंगुलियां, इन्हीं से उसका नन्हा गला घोंट डाला । अच्छा ही किया ।" कण्ठ थक गया था उसका, फिर भी वह कहे जारही थी—"मुझे मुन्नी बहिन नहीं मिली, नहीं तो उसे भी मार डालती । और क्या ? दुनिया में नारीत्व का अपमान कराने के लिए उन्हें रहने दूं ? ..... देखा कैसी कर्तव्य परायणा मां हूं मैं ? विजया ? ....."

मैंने बड़ी कठिन वेदना से कहा,—"चन्दर, तेरी मुन्नी तो कुशल पूर्वक है ।"

एलिस ने मुझे चुपके से मना किया कि मैं यह न कहूं । अपनी पुत्री का जीवित रहना सुनकर चन्दर बहुत व्याकुल हो जाती है । चीख चीख कर घंटों रोती रहती है और फिर शान्त करना मुश्किल होता है । मेरी बात शायद उसने इस समय सुनी नहीं, अन्यथा क्या होता सो कौन जानता है । इसी समय एलिस ने मुझसे कहा कि अब मुझे जाना चाहिये । सम्भवतः मेरी उपस्थिति चन्दर को उत्तेजित करती है । जिस समय मैं हस्पताल से बाहर निकली तो शायद मेरा समस्त शरीर कांप रहा था । टांगे में चुपचाप बैठकर मुझे जान पड़ा कि मेरा मस्तिष्क भी खाली हुआ जारहा है । तांगा गर्मी की दोपहर में तारकोल की लिपी-पुती पक्की सड़क पर चला जा रहा था । आँखों पर धूप का चश्मा होने पर भी आंखें मानो जली जारही थीं । कहीं आस पास ही भट्टी होने का भाव होता था ।

ओह, यह क्या ? कार.....चन्दर की कार ? हाँ, चन्दर की कार में ही सुधीर.....एक नवयुवती सुन्दरी के साथ बैठा हुआ स्वयं ड्राइव कर रहा है। आंखें जल तो पहले से ही रही थीं, अब तो जान पड़ता है क्षण भर भी ठहरे बिना ही भस्म हो जायेंगीं। कितना धूर्त है यह सुधार, और कितनी मूर्ख हूं मैं।

एक दिन मैं भी तो इसकी पास वाली सीट पर बैठना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझती थी। कितना सुन्दर था वह दिन जब थोड़ी थोड़ी बूंदें पड़ रही थीं। हमारी..... सभा की उस दिन मीटिंग थी नदी तट पर।

बोटिङ्ग के प्रोग्राम के साथ ही साथ हमें अपना 'दीन रोगी चिकित्सा' का प्रोग्राम भी तैयार करना था, और मैं मन्त्राणी थी। शायद यूं भी मैं देखने-सुनने में बुरी नहीं हूं। अपने स्कूल में कई बार ड्रामों में नायिका का पार्ट भी कर चुकी हूं, और एक बार तो जिस समय मैं स्टेज पर नायिका बन कर आई थी तो कई मिनट तक तालियाँ भी बन्द नहीं हुई थीं। शायद मेरी सुन्दरता ही कारण हो, किन्तु यह मैं निश्चयपूर्वक जानती हूं कि चन्दर मुझ से कहीं अधिक सुन्दर है। जो कुछ भी हो, सुधीर मेरे मुख की ओर अकसर एकटक देखा करते थे। कभी-कभी यह दृष्टि मेरे हृदय में भी एक गुदगुदी सी उत्पन्न कर देती थी। हाँ, तो उस दिन हम दोनों कार में बैठे तो सुधीर प्रशंसा सूचक स्वर में बोले—"विजयश्री, कार्य करने की क्षमता तुम से अधिक तो और किसी में है ही नहीं। सचमुच तुम्हारे

हृदय में गरीबों के प्रति सद् भावनाओं का समूह जान पड़ता है।"

अपनी प्रशंसा सुनने की मेरी आदत नहीं। वैसे वह मुझे कुछ अच्छी भी नहीं लगती है, किन्तु उस दिन सुधीर का स्वर कुछ ऐसा मीठा था कि मेरे कानों को वह भला ही लगा। मैं इच्छा होने पर भी उसका प्रतिवाद न कर सकी। काश कि कर सकती तो सम्भवतः आज मेरा जीवन इस प्रकार शुष्क मरुस्थल तो न बन जाता। जो भी हो, आत्मकथा लिखने चली हूं तो आरम्भ से ही सब-कुछ लिखूंगी। भले ही वह पाठकों को आनन्द दे अथवा वेदना। मुझे तो कुछ कहना ही है सो कहूँगी ही। सुनने वालों की प्रवृत्ति जानने की न मेरी इच्छा है और न मुझे आवश्यकता ही। किन्तु इस समय नहीं, अपनी बात फिर कहूंगी। अब कथा-प्रसङ्ग ही चले। सुधीर के सड़क पर देखे हुए चित्र ने मेरे मन प्राण में एक ऐसी अग्नि फूंक दी है जो सहज ही बुझने की नहीं। अच्छा न बुझे, उसे जलने ही दो। उसका जलना ही भला है, उसे जलने दो। जल जाने दो, यही ठीक है। किन्तु यत्न करके भी मैं क्या सुधीर को कभी भूल सकती हूं। यावज्जीवन केवल एक ही तो ध्येय जान पाई थी। केवल एक ही व्यक्ति को तो समझने का यत्न किया था किन्तु वह व्यक्ति जिसे जीवन में एक दिन आदर्श समझी थी, क्या वैसा निकला? उफ, कितना सुन्दर था मेरा आदर्श, और कितना वीभत्स देखा मैंने उसी अपने आदर्श का रूप। मेरे जीवन का ऐसा भयङ्कर परिवर्तित रूप है—उस आदर्श की छाया तले। कितना कुरूप हो गया मेरा नवीन सुन्दर स्वप्न और कितना घृणित हो गया मेरा पवित्र प्रेम। जीवन में मैंने एक

ही बार तो आदर्श चुना था। मेरे जीवन का आदर्श, मेरे प्रेम का आदर्श, मेरे हृदय के समस्त रस का, अभिलाषाओं का अधिकारी आदर्श कितना उच्च था। किन्तु कितना बड़ा धोखा हुआ मुझे जीवन में। कितना भयंकर रूप है उसी मेरे आदर्श का और कितना निराश हो उठा मेरा दीन जीवन, सो तो शायद हर कोई समझ सकेगा भी नहीं।

"अतीत"

जब कहने ही बैठी हूं तो सब-कुछ कहूंगी, किन्तु जान नहीं पड़ता आरम्भ कहां से करूं। जिस जीवन के आदि और अन्त में कहीं कोई भी शृंखला नहीं हो, उसकी गाथा यदि लिखी जाये तो कैसे लिखी जाये। जो कुछ भी हो आरम्भ कर ही देती हूं।

हाँ, तो मेरा बचपन भी साधारण लड़कियों की तरह साधारण ही था। कहा जाता है, आरम्भ से ही मुझमें कोई आकर्षण था। स्कूल के जीवन से ही मेरी सखियां आदि मुझे घेरे ही रहती थीं। यहां तक कि प्राइमरी स्कूल में मुझे कभी डांट पड़ने या सजा मिलने पर मेरी सखियां रो भी पड़ती थीं। सुन्दर नहीं थी मैं, यह तो कैसे कहूं। आज भी मुझे देखकर कोई भी कह सकता है कि मैं सौन्दर्य में चन्द्रिका जैसी नहीं, तो आकर्षण में उससे किसी प्रकार कम भी नहीं हूँ।

चन्द्रिका आज की नहीं, तब की चन्द्रिका के मुख पर एक तरह की सादगी थी, कुछ भोलापन था। किन्तु मेरे मुख पर शायद आज भी वेदना की एक गहरी छाप है जिसे विश्व भर में शायद कोई भी मिटा पायेगा नहीं। उस समय वेदना की नहीं किन्तु दृढ़ता की छाप अवश्य थी, जो आकर्षक थी।

याद पड़ता है एकबार पाठशाला में एक हड़ताल हुई थी। कांग्रेस की किसी आज्ञानुसार हड़ताल की गई थी। देश की व्याख्या तो मैंने न उस दिन समझी थी और न आज ही समझ पाई हूं। किन्तु मुझमें शायद जन्म से ही एक साहस था, एक नवीनता के प्रति चाव सा था। मैं उस समय नवीं कक्षा की छात्रा थीं, किन्तु देश भक्ति में प्रायः मैं ही लीडर रहा करती थी। स्थानीय छात्र संघ की सदस्या भी थी। कभी उसकी बैठकों में सम्मिलित नहीं हुई थी किन्तु कहीं हस्ताक्षर करवा कर एकदिन एक छात्र संघ की एक कार्यकर्ता ने मुझसे कहा था कि तुम छात्र संघ की सदस्या होगई हो और तब मैंने वह समाचार शीघ्र ही अपनी टोली को दे दिया था। अन्य छात्रायें प्रशंसा रूप से केवल मुस्करा दीं।

उस दिन मैं पैदल ही पाठशाला आरही थी। बस पहिले ही निकल गई थी। मैं उस समय तैयार न थी। स्कूल कोई दो फर्लांग होगा कि वही सुधीर जो कि मेरा नितान्त अपरिचित था, उस समय सरपट साईकिल पर आरहा था। मेरे निकट आते ही साईकिल से उतर पड़ा। मैं आरम्भ से ही निडर थी। भय तो मुझे छू भी न गया था। मैंने उसकी ओर देखा। सुधीर सहज भाव से बोल उठा—"आप बालिका विद्यालय जारही हैं?"

"हां?"

"छात्रा हैं?"

"हां।"

"आपके स्कूल में हड़ताल नहीं हुई?"

"मालूम नहीं।"

"क्षमा कीजियेगा, आप भी तो भारतीय ही हैं। देश की मिट्टी से बना रक्त ही आपकी धमनियों में भी बह रहा है। देश के वर्तमान नेताओं की गिरफ्तारी में भी क्या हम स्थिर भाव से काम कर सकते हैं? क्या यह उचित है?"

भाव समझने को शेष रहा नहीं था फिर भी मैं अनजान सी बनकर बोली—"आप चाहते क्या हैं?"

"हमें आपके स्कूल में हड़ताल करवाने के लिये एक देश भक्त छात्रा की आवश्यकता है। आप जानती हैं हमारी छात्रा मन्त्राणी सुशीला कुंवर आजकल शहर में है नहीं। जो थोड़ी बहुत छात्रायें हैं वह भी काम में ही लगी हुई हैं। क्या आप किसी प्रकार अपने स्कूल में आज भर हड़ताल करवा सकेंगी?"

कितना विश्वास भरा था उसकी वाणी में, आश्चर्य हुआ मुझे। अनेकों वर्षों पश्चात कि जो इतना विश्वास कर पाते हैं स्वयं उनके अपने जमाखाते में विश्वास के नाम पाई भर भी दर्ज होती नहीं। गर्व से मैं कुछ फूल भी उठी और यूं भी स्वभावतः मुझे नवीनता से प्रेम था ही।

मैंने दृढ़ता से कहा—"आप निश्चिन्त होकर अपना काम करें, हमारे स्कूल में आज पढ़ाई नहीं होगी।"

"हम अभी एक घण्टे में इधर से जलूस लेकर आयेंगे, आप लोग अधिकांश संख्या में साथदें,"—कह कर उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वह साइकिल पर चढ़कर एक ओर चल दिया। मैं गम्भीर रूप से इसी पर विचारती हुई स्कूल के भीतर पहुंच गई। स्कूल की लड़कियों से मेरा पूरा परिचय था। पिछले वर्ष स्कूल छात्रा-संघ की मन्त्राणी होने से ही मैं स्कूल में प्रसिद्ध हो गई थी और फिर मेरी वाणी

मैं भी सुनते हैं शक्ति थी। यहां तक कि स्कूल छात्रा-संघ की प्रधाना सरला दशवीं की छात्रा होते हुए भी प्रायः आवश्यकता पड़ने पर स्पीच आदि के लिए मुझे ही खड़ी किया करती थी। अतः इस हड़ताल कार्य में कोई विघ्न डालने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी, क्योंकि मुझे तो नवीनता प्रिय थी ही। सरला मेरी सखि भी थी। स्कूल में प्रवेश करते ही सामने बैंच पर पुस्तकें फेंक कर मैं सरला के पास पहुँची। प्रार्थना समाप्त हो चुकी थी, सरला कक्षा की ओर जा रही थी, उसका अंग्रेजी साहित्य का घण्टा था। मैंने बीच में ही रोक कर कहा—"सरला बहिन जी, आज भी पढ़ाई ही होगी ?"

"क्यों बिज्जी ?" उसने प्रश्न सूचक दृष्टि से देखा।

"देश के नेता जेल में ठूंसे जारहे हैं और हम आज सिर झुकाकर लौन्गफैलो और वर्डस वर्थ की कवितायें पढ़ेंगे ?" मैंने उत्तेजना सहित कहा।

'किन्तु हम कर ही क्या सकते हैं ?"

"हड़ताल। हम आज नहीं पढ़ेंगे।"

"किन्तु यदि मिसिज धीर न मानी।"

"तो हड़ताल तो होयेगी ही। मिसिज धीर देश से बड़ी नहीं है। उनकी आज्ञा सिर आँखों पर, किन्तु देश उनसे भी बड़ा है। उसकी आज्ञा उनकी आज्ञा से भी उच्च है।"

मुझे लड़कियां प्रायः मिसिज धीर की 'फेवरिट' कहती थीं। सरला आश्चर्य से आंखें फाड़कर बोली—"और यदि घर वाले ऐसा करने से अप्रसन्न हों तो ?"

सरला के पिता एक सरकारी वकील थे। मेरे पिता भी

एक सरकारी दफ्तर में ही काम करते थे। मैं चिढ़कर बोली—"सरला जी, देश को गुलाम ही बनाये रखना है तो इन जाल के फन्दों को इस प्रकार जकड़े रहने दो। हमें भी इसी प्रकार नंगे भूखे पड़े रहने दो। किन्तु यदि मनमें आजादी की चाह है तो यह सब प्रश्नोत्तार व्यर्थ हैं।" इसी बीच और भी कई छात्रायें घेर कर खड़ी होगई थीं। मेरे शब्दों में जोर था, ठीक वैसे ही जैसे प्लेटफार्म पर खड़े होकर बोलने वालों के शब्दों में होता है। कई एक छात्रायें बोल पड़ी—"सरला चाहे तो न करे, हम तो आज नहीं पढ़ेंगे। इतना भी देश का साथ न देंगे क्या?" फिर क्या था, चिनगारी फूंस में पड़ गई थी। हवा तो वैसी ही चल रही थी। छात्रावृन्द में शीघ्र ही आग लग गई। सरला में भी विरोध करने का वैसा साहस न था। मेरी ओर कुछेक सेकैण्ड तक देखकर बोली—"तो हड़ताल कर लो। मैं तुम्हारे साथ ही हूं, किन्तु एक बार मिसिज धीर से बातचीत तो कर देखो।"

उसके स्वर में विनय थी। मेरे साहस की सीमायें कहीं पीछे छूट गई थीं। झल्लाकर बोली—"सरला बहिन जी, साहस हो तो चलो, नहीं तो पीछे ही बनी रहो। कोई जबरदस्ती थोड़ी ही है, यह तो देश सेवा है।" कहीं से आवाज आई—भीड़ तो अब बहुत सी एकत्रित हो गई थी—"इसी साहस से देश का उद्धार करोगी? खूब, खूब।" सरला धीरे से बोली—"तुम सब न पढ़ोगी तो मुझे ही क्या पड़ी है, पढ़ने की। मैं भी तुम्हारे साथ ही हूँ। विजया, चलो औरों को भी समझा दो।" अब क्या था, लीडरी का नशा चढ़ रहा था। बस फिर क्या था. जब मिसिज धीर से बात करनी पड़ी तब भी लड़कियों ने एकमत से मुझे ही प्रतिनिधि चुना। तात्पर्य यह कि मैं सहज

ही अपने कालेज में राजनीति की नेत्री तथा नगर के छात्रसंघ में भी कार्यकर्त्री बन गई। इस दिशा में सुधीर ही मेरा गुरु था। समय-समय पर अपने प्रशंसा-वाक्यों से वह सदा ही मेरा उत्साह बढ़ाता रहता था। कहीं और कभी भी किसी काम में उसके उत्साह-वाक्य सुने बिना मेरी गति ही नहीं होती थी। कुछ स्वभाव ही हो गया था—सदा ही उसके वाक्य सुनकर उसकी प्रशंसा दृष्टि प्राप्त करके काम करने की। केवलमात्र सुधीर की एक प्रशंसा-दृष्टि पाने की ही मुझे कुछ बान सी पड़ गई थी। मेरी माता ने कब मुझे जन्म दिया था और किस अन्धकारमयी रात्रि में—वह अतीत के गर्भ में समा गई थी। किस क्षण मृत्यु के शीतल हाथों ने उसकी जलती पलकें बन्द कर दी थीं और फिर मेरे पिता की गीली पलकों को कब एक नववधू ने सद्य-सज्जा में आकर सुखा दी थीं, सो कुछ भी मुझे याद नहीं। किन्तु मैंने अपनी सौतेली मां की गोद में बैठकर ही भाषा पाई थी, ज्ञान पाया था, और पाया था घरेलू जीवन का आनन्द। मेरी सौतेली मां, दुर्भाग्य कहूं या सौभाग्य से किसी भी सन्तान को जन्म न दे सकी। पिता तो न जाने क्यों मेरी सूरत से बचते थे। उन्होंने शायद मुझे किसी दिन भी प्यार की दृष्टि से नहीं देखा। अधिक से अधिक मां के झुंझलाने पर कह देते थे—"आफिस से थके-मांदे आकर मुझसे तो बच्चों का लाड़ होता नहीं। वह थे भी कुछ विचित्र प्रकृति के। अधिकाँश समय उनका सैर-सपाटे में बीतता था और मां का मुझे लेकर व्यस्त रहने में। पास-पड़ौस की स्त्रियां कभी-कभी ईर्षा से कह उठतीं थीं, "बहिन यह लाड़ भी तभी तक है जब तक अपनी गोद भरी नहीं है। तनिक ठहर जाओ, फिर सौतेले बच्चे का लाड़ देखेंगे। यह सब तो है

त्रिया चरित्र।" माँ सुनती तो हंस देतीं। उनकी सन्तान हुई नहीं और मुझ पर उनका प्यार ही बना रहा। इस बार पड़ौसनों ने कहना आरम्भ कर दिया—"बहिन कुछ डांट-सांट भी रक्खा करो, सौतेली सन्तान और वह भी लड़की की जाति, इतना लाड़ भला नहीं होता।"

इस बार भी मां हंसकर कह देतीं—"सौतेली लड़की है न बहिन! तनिक अधिक कहूं-सुनूं तो चार जने यही कहेंगे कि सौतेली मां है, इसी से दुःख देती है।"

पड़ौसनें सुनती और चली जातीं। अतः मैंने कभी मां की डांट सुनी नहीं। भय भी नहीं था। केवल मात्र यही सुनती रही "मेरी बिटिया बड़ी योग्य है.....मेरी बिटिया यह है, मेरी बिटिया वह है....." आदि आदि शायद सुनकर ही मुझे उसके सुनने का इतना अभ्यास होगया था कि अब उसके बिना मेरा निर्वाह होना ही कठिन हो उठा। घरमें माँ की प्रशंसा मुझमें जीवन भरती ही थी। कालिज की तो मैं प्राण ही थी। छात्रायें हर समय प्रशंसा पुष्प लिये अर्चना किया करती थीं। बाहर के क्षेत्र में सुधीर की कितनी आवश्यकता थी, सो कहने की अब आवश्यकता ही नहीं रही है। अस्तु, कोई भी नया काम करने पर सुधीर को बतलाना आवश्यक हो उठता था, और कोई भी सफलता प्राप्त करने पर सुधीर द्वारा की गई प्रशंसा सुनना भी अत्यन्त आवश्यक ही था। धीरे धीरे सुधीर मेरे जीवन का अनजाने ही एक आवश्यक अंग बनता चला गया। अचानक एक दिन मुझे जान पड़ा कि मैं सुधीर के बिना रह नहीं सकती। उसी दिन मैंने अपने मन पर संयम करना चाहा, किन्तु उससे भी अधिक आश्चर्य मुझे तब हुआ जब कि कुछ ही दिन बाद

सुधीर ने भी मुझसे कहा—कि मैं उसके जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक हूँ। मेरे बिना उसका जीवन शुष्क हो जायेगा और शायद उसने यह भी कहा कि मेरे निराश करने पर वह जीवित भी नहीं रह सकेगा। स्कूल और कालिज में मैं भाषण तो बहुत ही देती रही हूं, किन्तु लेखिका किसी दिन भी नहीं बनी, यहां तक कि कालिज मुख-पत्रिका भी बिना मेरे लेख के ही प्रकाशित होती थी। अतः अधिक न लिखती हुई यह लिखकर ही समाप्त करती हूं कि एक दिन सन्ध्या की सूर्यास्त की धूमिल छाया में सूर्य को ही साक्षी बनाकर सुधीर ने कह डाला—"सूर्य देवता साक्षी रहेंगे कि यावज्जीवन मेरे मन, प्राण, हृदय और प्रेम की अधिकारिणी रहेगी केवल बिज्जी, केवलमात्र बिजयश्री।" न जाने किस झोंक में मैं भी कह गई—"सुधीर, तुम्हें छोड़कर मैंने सृष्टि भर में मां के अतिरिक्त और जाना भी किसे है ? मेरे तो तुम्हीं सब कुछ हो।"

सहज लज्जाशीला पाठिकायें पढ़कर कह उठेंगीं—"कैसी लज्जाहीन लड़की थी यह।" किन्तु मैं तो राजनीतिक क्षेत्र में जाकर लज्जा को सर्व प्रथम ही तिलाँजली दे चुकी थी। बिना लज्जा को तिलांजली दिये हुये भी क्या कोई बालिका कार्यक्षेत्र बाहर चुन सकती है। और फिर सुधीर से लज्जा करने योग्य मेरे पास अब रह भी क्या गया था। जब भेद ही न रहा था तो लज्जा कैसी और किससे। उस दिन मैं बड़ी ही शान्ति पूर्वक सोई माँ की छाती से चिपट कर।

"दीदी"

सुना है वह मेरी दीदी है। किसी एक रिश्ते से मेरी बहिन लगती है। मेरी मां, सौतेली मां, दीदी की माँ की शायद

बहिन लगती हैं। मैंने किसी भी दिन, किसी बहिन-भाई को नहीं जाना था। यकायक जीवन में एक सन्ध्या को कौन सी बहिन किस प्रकार आ खड़ी हुई—सो मैं जान पाई नहीं, किन्तु फिर भी मेरा समस्त मन हर्ष से भर उठा। उस दिन छात्र संघ की बैठक थी। मुझे भी एक प्रस्ताव का अनुमोदन करना था। प्रस्ताव अत्यन्त आवश्यक था। उसमें नगर के भिन्न भिन्न स्थानों पर दूध के डीपो स्थापित करने की बड़ी आवश्यक मांग जोर दार शब्दों में की गई थी। सुधीर प्रस्ताव उपस्थित कर रहे थे और मैं अनुमोदन। सुधीर ने सभा में बड़े ही जोरदार शब्दों में प्रस्ताव रक्खा। सचमुच ही उसकी प्राँजल भाषा के साथ यौवन सुलभ दीप्ति मिलकर उसके व्याख्यान को अत्यन्त मोहक बना रही थी। मैं बड़ी देर तक व्याख्याता के गौरवपूर्ण शब्दामृत को पीती रही। एक एक शब्द में प्राण थे। कब तालियों की गड़गड़ाहट में सुधार मञ्च पर आ बैठा—सो मैं जान ही नहीं पाई। जब सुधीर ने धीरे से मेरा कन्धा हिलाकर कहा—"बिज्जी उठो," तो मुझे बाह्य संसार का भान हुआ। यन्त्रचालित की तरह चलकर मैं रंगमञ्च पर पहुँची। नहीं जानती कि मैंने क्या कहा, किन्तु कुछ कहा अवश्य ही। मार्ग में मेरी एक बाल्य सखि कह रही थी—"कमाल कर दिया बिज्जी। मुझे तो नहीं मालूम था कि तू इतना अच्छा बोलती है।" मैंने कहा—"सच?" "सच ही एक एक शब्द में माधुरी भरी हुई थी। भई वाह, सच ही मैं स्तम्भित रह गई।" उसने उत्तर दिया। सुधीर ने मेरे लौटकर स्थान पर बैठते ही कहा—"बिज्जी रानी, इतना सुन्दर भाषण मैंने अपने जीवन में इससे पूर्व कभी सुना नहीं।"

मैं उल्लास से फूल उठी। अनजाने ही मेरी आँखें मानो कह रही थीं—"मेरे प्राण ! मैं किसी प्रकार भी तुम से हीन नहीं हूं। तुम्हारी चरण-सेवा के योग्य होने पर ही तो भगवान ने मुझे तुम्हारी जन्म-जन्मान्तर की सेवा का भार दिया है।" किसी दिन भी मैंने भगवान, परलोक आदि पर विश्वास नहीं किया था, किन्तु शायद जन्मगत-संस्कार-वश मेरी इच्छा हुई कि मैं कह दूं "हे प्रभु ! जन्मजन्मान्तर में मुझे इन्हीं उदार चरणों की सेवा प्रदान करना।" प्रकट रूप से मैं चुप ही रही। प्रशंसा को केवल मात्र शान्त नेत्रों से पीने में जो आनन्द है, वह शायद और किसी भी प्रकार से नहीं मिल सकता।

इतने उल्लास को अपनी छोटी सी धड़कती छाती में छिपाये, जब मैंने घर के पास पहुँच-कर साइकिल में ब्रेक लगाया तो अचानक ही मैं गुनगुना उठी—"हो उठा सुभग मेरा प्रभात, मम प्रियतम के आने से।"

मां, मेरी सौतेली मां रसोई में ही बैठी थी। आज का उल्लास निकालने को मन में राह ही ढूंढ रही थी। आज मन अत्यन्त प्रसन्न था। मां को देखते ही मैं बोल उठी—"अम्मी जल्दी परस खाना, मैं आई।" साड़ी बदलने की इच्छा ही नहीं थी। हाथ का थैला बाहर से ही कमरे में फेंक चटपट हाथ धोकर थाली पर आ बैठी। भगवान को प्रणाम करना मैं भूल गई थी। बात यह थी कि रसोई के दालान में मां का एक छोटा सा मन्दिर था। न जाने क्यों प्रतिदिन सन्ध्या समय, प्रकाश होने के समय माँ जबरन ही अपने भगवान के सम्मुख सिर झुकाने को मुझे बाध्य करती थीं। कई बार माँ से इस विषय पर

बहस हो चुकी थी। माँ सदा ही हंस कर कहतीं—"बिज्जी बेटी और तो कोई बात मेरी मानती है नहीं। मैं भी तो तुझे कभी कुछ कहती नहीं, रानी। एक यही बात करके मेरा मन रख लोगी तो क्या हो जायेगा ?"

"पर मां इन पत्थरों के सन्मुख सिर मार कर होगा भी क्या ? सुनूं तो सही।" मैं झुंझलाकर कहती।

"सो क्या मैं तुम्हारी तरह कालिज में पढ़ी हूं ? मेरा मन ही तो है। दो-चार मेरे बाल बच्चे हैं नहीं, जो न होगा और ही किसी के चलन पर सन्तोष कर लूंगी। बेटी तू ही तो एक ले-दे के है। मेरी बस इतनी सी बात मान लिया कर।" उनका स्वर कुछ इतना दीन होता था कि मैं चुपचाप प्रणाम करके ही भोजन करने बैठती थी। कितनी ही बार मैंने अपना इस दुर्बल प्रवृत्ति को उभरने न देने का प्रयत्न किया। मुझे स्वयं मां के कहने पर इस मूर्खतापूर्ण आचरण करने पर लज्जा आती थी, किन्तु फिर भी सदा ही इच्छा करने पर भी मैं इसके विरुद्ध कर सकने योग्य शक्ति का अपने में अभाव ही पाती थी। पहले-पहल मां ने मेरे समय असमय बाहर जाने का भी पर्याप्त विरोध किया था, किन्तु मेरी जिद अनुनय-विनय आदि पर उन्होंने विरोध करना कभी का छोड़ दिया था। और भी प्रायः सारे ही विषयों पर मैं उन्हें परास्त कर ही लेती थी, किन्तु एक इसी विषय पर न जाने क्यों वह न तो झुकती ही थी और न वाद-विवाद करने को ही तत्पर होती थी। किसी न किसी उपाय से मेरे छेड़ कर विवाद करने पर भी वह हँस कर टाल ही देती थीं।

कटोरियों में सब्जी परोसती हुई हँस कर बोलीं—"बेटा, जा भगवान को प्रणाम तो कर आ।"

मां को रुठाने की आज इच्छा न थी। मेरा प्रसन्न मन आज विश्व भर को अपनी प्रसन्नता का भाग देने को तत्पर सा जान पड़ता था। झट उठ कर प्रणाम कर आ बैठी। मां ने दो पूरी थाली पर रख कर मेरी ओर सरका दीं।

"ऊं नहीं मां, आज तुम भी साथ बैठो, नहीं तो हम नहीं खाते।" मैंने जिद से कहा।

"बिज्जी, तेरे पिताजी तो अभी आये नहीं। वह आ लें बेटा, तब मैं खाऊंगी।" उन्होंने साधारणतया कहा।

सचमुच ही मां पिता के भोजन करने से पूर्व रोगावस्था में दवा भी नहीं पीतीं थी। मैंने हठपूर्वक कहा—"तब मैं भी आज तब ही खाऊंगी।"

"खा ले ना। उन्हें न जाने आते-आते कितनी देर हो जाये।"

"नहीं माँ, अभी तो भूख नहीं है, पर चलो तुम भी तब तक बाहर बैठो।"

"बिज्जी बेटा, तुझे कितने दिन की छुट्टी कालिज से मिल जायेगी।" उन्होंने बाहर निकलते हुए पूछा। मां दालान में आकर चटाई पर बैठ गई। मैंने भी पास बैठते हुए कहा—

"क्यों मां?"

"देहली जाना है। तेरी मौसी के घर ठहर जायेंगे।"

"वहाँ क्या करोगी जा कर मां ? और भला मेरी मौसी कौन सी हैं ?"

"बेटा, वहां बड़ा जरूरी काम है, जाना तो जरूर है। तेरे पिता तो जाने को राजी होते ही नहीं तो फिर मुझे ही जाना पड़ेगा। तुझे साथ ले जाऊंगी। मेरी बेटी, कोई बेटे से कम थोड़े ही है।"

"सो तो चली चलूंगी माँ। दो तीन दिन की छुट्टी ले लूंगी। किन्तु वह मौसी कौन सी हैं ?" आज किसी भी वस्तु या प्रस्ताव को अस्वीकार करके किसी का मन बिगाड़ने योग्य अवस्था मेरी न थी।

"मेरी मामा की एक लड़की वहाँ रहती है। तू नहीं जानती, उनकी लड़की भी बहुत पढ़ गई है। अब देख लीजियो चल कर। ऐसी देवी प्रतिमा सी है।" वह अत्यन्त उत्साह से कह रही थी। न जाने क्यों सहसा मैं कह उठी—"क्यों मां मेरी दीदी हुई ना ? ओह मेरी दीदी।" मैं बच्चों की तरह ताली पीटकर खिलखिला उठी।

"हाँ, तेरी दीदी रानी।"

'दीदी' शब्द मेरे मस्तिष्क में पहली ही बार आया था। जीवन में पहले ही बार मैंने सुना कि मेरी एक दीदी है। एक बहिन है, सुशिक्षित बहिन, स्नेहमयी दीदी। मन की अवस्था अत्यन्त प्रसन्न होने से मेरी कल्पना तीव्रता से दीदी की कल्पित मूर्ति गढ़ने में लग गई। कैसी होगी मेरी दीदी, लम्बी, पतली, गोरी, खूब खिलखिलाकर हंसने वाली, खूब गम्भीर बातचीत करने

वाली। शायद वह भी भाषण देती हों, ऐसा ही सजीव, ऐसा सुन्दर जैसा मैंने..... ।

सुधीर की प्रशंसा शतमुखी होकर मेरे कानों में गूंज उठी। ओह कितनी मादकता है इस प्रशंसा में। शायद दो बोतल मदिरा से भी अधिक मादकता केवलमात्र प्रशंसा चढ़ा देती है। मैं उसी प्रशसा मदिरा के नशे से पागल हो उठी। उसी मादकता के ठीक बीचों बीच नाच उठा, यह नवीन कल्पित दीदी की स्नेहमयी मूर्ति। मैं इस दीदी से खूब स्नेह करूंगी। मेरी दीदी.....दीदी शब्द शायद किसी बिजली के करैन्ट की तरह मेरे मस्तिष्क पर काम कर रहा था। मैं उन्हें अपना सारी कार्य-प्रणाली सुनाऊंगी। मेरा आज की स्पीच का वर्णन तो उन्होंने अवश्य ही पढ़ा होगा। विचारधारा पलटी.....और यदि वह स्वयं भी एक उत्साही वर्कर हों.....यदि उन्होंने मुझसे भी अधिक कार्य्य किया हो—सोचते ही उत्साह कुछ ठण्डा सा होने लगा, तब तब फिर क्या वह मुझे आदर की दृष्टि से देख सकेंगी ?.....

"क्या सोचने लगी बिटिया ?" इसी बीच मां अपनी माला ले बैठा थीं।

"यही मां कि मेरी दीदी कैसी होंगी ?"

"ओह, इसी पर इतना विचार हो रहा है। कल शाम को चलेंगे, परसों इस समय तो वह तेरे पास ही बैठी होंगी। लड़की बड़ी सुशील है। मेरे ब्याह पर इतनी सी थी, पर थी बड़ी शान्त, समझदार, सुशील। दिदिया को तनिक भी तंग नहीं करती थी।"

इस अपरिचित दीदी की कहानी न जाने क्यों मुझे अत्यन्त भली जान पड़ी। मैं उसे आगे बढ़ाने को और कुछ कहने ही वाली थी कि पिता जी आते दीख पड़े। मेरा उत्साह भंग हो गया। माँ भी माला रखकर रसोई की ओर बढ़ी। पिता आते ही खाने पर पहले टूट पड़ते थे। उनके स्वभाव से परिचित माँ क्षणमात्र भी न ठहर कर रसोई में चली गईं। उदास सी होकर मैं भी रसोई में जाकर माँ के पास बैठ गई।

आटा गुंधा धरा था। माँ ने कढ़ाई चूल्हे पर रख दी। मैं एकटक चूल्हे की ओर देख रही थी। मेरे लिये उतारी हुई दो-चार पूरियां कटोरदान में थीं, उन्हीं में से दो पूरी थाली में रखकर माँ ने कहा—"जा तो जरा उन्हें थाली दे आ, मैं और पूरियां निकाल लूं तब तक।" हमारा छोटा सा नौकर पिछले दो सप्ताह से बीमार पड़ा था। बीमारी में अपने आदमियों के पास रहने से अधिक सुविधा होती है, यह सोचकर वह अपने गांव के एक आदमी के घर चला गया था। घर का काम-काज सारा का सारा मां को आजकल स्वयं ही करना पड़ता था। पिता के पास जाने की न जाने क्यों मेरी प्रवृत्ति ही नहीं होती थी। उनसे शायद ही मैंने कभी बात की हो। वह तो मुझसे कभी बोलते ही न थे, मां से भी प्रायः कम ही बोलते थे। न जाने किस बुरी सायत में माँ का विवाह हुआ था। बिचारी ने किसी दिन भी पति से आदर नहीं पाया। प्यार पाया या नहीं, सो मैं कैसे जानूंगी। फिर भी मां निरन्तर एक रस से जो सेवा करती ही जाती थी वह एक विचित्र सी वस्तु थी मेरे लिये। फिर भी मैं नारी अधिकारों को अन्धभक्त मां की सेवा को स्त्री की दीनता आर्थिक-परावलम्बन की दृष्टि से देख उठती थी। कई

बार कई नारी सभाओं में मैंने मञ्च पर खड़े होकर कहा था—"नारी का केवलमात्र देते ही जाना, पाना कुछ भी नहीं—कोई गौरव की वस्तु नहीं है, यह तो है केवलमात्र दीनता, केवल लाचारी, घनी पीड़ा और असह्य वेदना। नारी की यह दीन-हीन मूर्ति भले ही संसार भर के अनुदार-हृदय पुरुषों को भली प्रतीत हो, किन्तु मुझे तो किसी अवस्था में भी शोभित नहीं दीख पड़ती है। नारी का समर्थ, शक्तिशाली रूप ही मुझे तो रुचता है और वह है भी यथार्थ रूप.....। नारी की दीनता, दया की वस्तु भले ही हो किन्तु आदर की वस्तु कदापि नहीं हो सकती.....।

यह विचार केवल मञ्च से ही बोलने के लिये न थे वरन् जीवन में व्यक्तिगत रूप से भी मेरे विचार यही थे। मैं नारी को उसके कन्या, लक्ष्मी, दुर्गा, काली और अन्नपूर्णा सभी रूप में देखना चाहती थी। नारी का केवलमात्र लक्ष्मी या अन्नपूर्णा रूप मुझे उतना ही अरुचिकर प्रतीत होता था जितना अन्य किसी को भी उसका निरन्तर काली रूप। किन्तु न जाने विश्व भर का नारी-मात्र का सिर झुकाकर दीनभाव से यह अत्याचार सहते देखकर जब कि मेरा हृदय असह्य घृणा से भर उठता है, किन्तु यह नारी मुझसे जिसका कुछ भी रक्त-मांस का सम्बन्ध नहीं है, सौतेली मां की दीनमूर्ति देखकर मेरी आंखें लज्जा से झुक नहीं जातीं, वरन् एक विचित्र श्रद्धा से भर उठती हैं। नहीं जानती यह मेरी कौन है किन्तु जाने और अनजाने यदि विश्व भर में किसी का मुझ पर प्रभाव है तो शायद इन्हीं का। फिर भी यह मेरी कोई नहीं है यह मैं भली प्रकार जानती हूँ।

और कोई समय होता तो माँ की आज्ञा का पालन न कर पाती, किन्तु आज तो मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न था। आग की लपटों में दीदी की कल्पित प्रतिमा अधूरी ही छोड़ कर मैं थाली उठाकर बाहर आंगन में पिता को देने चली आई। पिता एक छोटी मेज पर बैठे हुए अधीर भाव से रसोई की ओर देख रहे थे। आज मैंने पिता की आंखों में जो कुछ पढ़ा, वह किसी दिन भी मेरी दृष्टि में नहीं आया था। मैंने सदा ही पिता के व्यक्तित्व के आसपास एक कठोरता, घृणापूर्ण कठोरता की झलक देखी थी। उनके चारों ओर का वातावरण मुझे बरबस ठेलकर उनसे दूर कर देता था, किन्तु आज प्रथम बार ही मैंने देखा कि उनकी आंखों के नीचे छोटे-छोटे धंसे हुए गढ़े हैं जो ध्यान से देखने पर उनकी दृष्टि में एक विचित्र सी करुणा का आभास देते हैं। पहली ही बार मुझे अपने पिता पर कुछ दया सी आई।

सारा दिन कठिन परिश्रम करके भी यह व्यक्ति किसी से कुछ बोलता नहीं, कहता नहीं, सुनता नहीं केवल रहता है चुप—उसकी यह कठोर चुप ही उसके जीवन का समस्त इतिहास है। मेरी इच्छा हुई कि उनसे कुछ बोलूं किन्तु पास पहुंचकर थाली रखते ही मुझे एक तीव्र गन्ध सी आती जान पड़ी। इससे पूर्व मैं पिता के कभी भी इतने समीप नहीं गई थी। समीप का अर्थ एक तीव्र गन्ध होगा, यह भी मैंने किसी दिन सोचा नहीं था। आज वही अकल्पित वस्तु सामने आने पर मैं विचलित हो उठी। झटपट थाली रखकर रसोई में लौट आई। उसी बीच मां ने भी कढ़ाई में से तीन-चार फूली पूरियां और निकाल लीं थीं। माँ ने झटपट एक तश्तरी में रखकर

कहा—"जा, यह भी दे आ लल्ली !" उस गन्ध का दुबारा सामना करने की शक्ति मुझमें न थी।

सहज भाव से मैंने कहा—"मां, तुम उठो, पूरी मैं निकाल लूंगी। तुम ही खाना खिला दो।"

"अब मैं तो आग पर बैठी ही हूँ, तू व्यर्थ ही तपेगी। यहां से वहां जाते कुछ लगता है ?"

"मैं तो न जाऊंगी।" कह कर मैं पटरे पर बैठ गई। मां स्वयं ही उठ कर पूरी दे आई।

मैं फिर दीदी की भावना में लीन हो गई। कैसी होगी वह नई नारी प्रतिमा जो अचानक ही आज मेरी दीदी बन गई है, जिससे किसी दिन का परिचय न होने पर भी मिलने को आज मैं अत्यन्त आतुर हूं।

दूसरे दिन सन्ध्या समय हम एक अपरिचिता के घर पहुँच गये। सामान तांगे पर ही छोड़ कर मैं मां के साथ अन्दर चली गई। सूचना तो दी ही नहीं थी। घर में प्रवेश करते ही आंगन में से एक स्त्री मूर्ति हाथ में अमचूर सुखा हुआ थाली समेत लिये शायद धूप चले जाने पर अन्दर उठाकर रखने जाती हुई दिखाई दी। मां उसे देखते ही 'दीदी' कह कर लिपट गई। वह स्त्री भी हाथ की थाली नीचे रखकर "अरी उम्मी" कह कर प्यार करने लगी। मैं चुपचाप यह अपूर्व सम्मेलन देख रही थी। इसी समय मुझे उसकी याद आ गई जो मेरी अचानक ही दीदी बन गई थी किन्तु दीदी कहने योग्य आसपास कहीं कोई दिखाई दिया नहीं।

इसी बीच चारपाई पर दोनों बहिनें बैठ गई थीं। अब मां का मेरी याद आई। मुझे खड़ी देखकर बोली—"अरी बिज्जी !

मौसी को प्रणाम कर।" मैंने ज्यों त्यों मौसी को प्रणाम किया।

"जीती रहो बेटा" कह कर उन्होंने मां से पूछा,—"पहली की है ना?"

"मेरी ही कहो। दीदी और मेरे है ही कौन?" माँ ने हंसकर कहा—बातचीत का यह भाग मुझे अत्यन्त कर्णकटु जान पड़ा, पर चुप रहने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या था। इसी समय एक छोटी सी बालिका को सम्बोधित कर मौसी ने कहा—"जा दौड़ कर अपनी दीदी को तो बुला ला, देख कौन आई है। प्रणाम कर मौसी को पगली।"

बालिका ने एक हल्की वन्दना करके दौड़ लगा दी। थोड़ी ही देर में एक उन्नास-बीस वर्ष की युवती ने आकर गम्भीर भाव से मां को प्रणाम किया। मैं तीक्ष्ण दृष्टि से उसी के आगमन को प्रतीक्षा कर रही थी। मेरी कल्पित मूर्ति से इस सजीव दीदी का कहीं लेशमात्र भी सादृश्य नहीं था, किन्तु तो भी वह मुझे बहुत भला लगी। उसके श्याम मुख पर स्थित दो बड़ी आँखों में ऐसे विश्वास का ज्योति थी जिस पर पड़े बिना मेरी दृष्टि न रह सकी। उसका व्यक्तित्व प्रथम दर्शन में ही मुझे बहुत ही आकर्षक लगा। मां को प्रणाम करके बड़ी ही बेतकुल्फी से मेरा हाथ पकड़कर बोली—"चलो बहिन, मेरे कमरे में चल कर बैठो। कुछ बातचीत ही हो।"

"जा, जा, बिज्जो जा, अपनी दीदी के साथ।" मां ने बड़े उत्साह से कहा।

मैं उनके साथ उनके कमरे में चली गई। उनके कमरे की सज्जा ने मुझ पर अद्भुत प्रभाव डाला। कमरे के एक

ओर बीच में एक नोटबुक इस प्रकार पड़ी थी मानो अभी कोई लिखता-लिखता छोड़कर गया हो।

उन्होंने मुझे चारपाई पर बिठा कर अपने पलंग की चादर, जो कि एक ओर से झुक गई थी ठीक की। फिर बोली- "आओ पलंग पर ही बैठो, तुम्हें जमीन पर बैठने का शायद अभ्यास न हो।"

मैं कहना चाहती थी मुझे खूब अभ्यास है किन्तु कह न सकी, चुपचाप पलंग पर जाकर बैठ गई। पलंग के सिरहाने की ओर एक छोटी-सी मेज पर विचित्र जन्तुओं तथा पुरातत्व सम्बन्धी वस्तुओं का सुन्दर छोटा सा संग्रह था। कुछ वैसी ही वस्तुयें एक शीशे वाली अलमारी में भी मेज के पास रखी थी।

मैं चुपचाप सब चीजें देख रही थी। दीवारों पर कुछ चित्र लगे थे, उनमें से एक तो मुझे विशेष रूप से आकर्षक लगा। गौरी अपने तपस्या वेश में आसन पर स्थित हैं, उनके सम्मुख ही शिव परीक्षा लेने के भाव से ब्रह्मचारी के वेश में बैठे हैं और सती उन्हें उनके प्रश्नों के उत्तर दे रही हैं। वातावरण अत्यन्त पवित्र है। सती के मुख पर तेज के साथ ही क्रोध का भी भाव झलक रहा था और यही मेरे लिये आकर्षण की वस्तु थी। नारी का क्रोध से दमदमाता हुआ मुख मुझे प्रिय लगता था। और भी बहुत से चित्र थे। संकोच से मैं बहुत दृष्टि घुमाकर देख भी नहीं पाती थी। मुझ जैसी निर्भीक उदण्ड लड़की को जीवन में पहली बार ही किसी के सम्मुख कुछ संकोच हुआ। न जाने दीदी के व्यक्तित्व से मैं दब सी उठी। उन्होंने मेरे पास ही पलग पर बैठ कर पूछा—"हां, तो बहिन तुम्हारा नाम क्या है?"

"विजयश्री, किन्तु दीदी तुम तो बिज्जी ही कहा करो।"

"सो ही कहूंगी। तो बिज्जी तुम कालिज में पढ़ती हो ना ?"

"हाँ"

"किस ईयर में ?"

"सैकेण्ड ईयर में।"

"विषय क्या लिये हैं ?"

"इतिहास और अर्थशास्त्र।

"अच्छे विषय हैं। अर्थशास्त्र की तो मुझे समझ नहीं, किन्तु इतिहास रुचिकर विषय है।"

"दीदी आप भी पढ़ती हैं क्या ?"

"हां, इस वर्ष बी० ए० फाइनल दूंगी। विषय लिये हैं फिलॉसफी और इतिहास।"

"अच्छा तो आप फिलॉसफर हैं ? ओह हो।" कह कर मैं हंस पड़ी। दीदी भी हंस पड़ी, खूब जोर से।

इसी समय उर्री ने आकर कहा—"दीदी, मां नीचे बुलाती हैं खाना खाने को। उस समय कोई साढ़े आठ बजे थे। मुझे भूख भी खूब लगी हुई थी, अतः भोजन के नाम से प्रसन्न हो उठी। भोजन करने के पश्चात् मैं, सुर्री दीदी के साथ ही सोने के लिये आई। इसी बीच हमारी गहरी घनिष्ठता हो गई थी। मैं पहले भी कह चुकी हूं कि मुझमें कोई अज्ञात गहरा आकर्षण था जो कि हर व्यक्ति को मेरी ओर खींच लेता था। किन्तु आज तो मैं स्वयं भी बहुत कुछ उनकी ओर आकर्षित जान

पड़ी। कल सुबह सुधीर से मिली थी। मेरी स्पीच के प्रशंसा करने के साथ ही साथ उसने यह भी कहा था कि सचमुच ही मुझे पाकर वह धन्य है। सुधीर एम० ए० की परीक्षा दे रहा था और उसी वर्ष उसे यूरोप बैरिस्टर होने के लिये जाना था। वहां से लौट कर आते ही वह मुझसे विवाह करेगा—ऐसा ही निश्चय था। इसी निश्चय को लेकर मैं निश्चिन्त थी। आज सुधीर से मिलने की इच्छा फिर बलवती हो उठी थी। दीदी के विषय में उससे बातचीत जो करनी थी। सचमुच ही मुझे प्रत्येक विषय की बातचीत सुधीर से किये बिना चैन नहीं पड़ता था। आज भी उसी के लिये विकल हो उठी। पर सुधीर तो मुझसे योजनों दूर कहीं किसी पलंग पर सो रहा होगा। मैंने फिर दीदी से बातचीत करने में मन लगाना चाहा. किन्तु इस बार मन न लग सका। अतः "नीन्द आ रही है" कहकर मैं करवट बदल कर सोने का बहाना करने लगी। दीदी शायद शीघ्र ही सो गई, किन्तु मैं उस दिन बड़ी देर तक सो न सकी।

दूसरे दिन सुना हमारे सुधीर के साथ ही दीदी की सगाई तय करने का विचार हो रहा है। सुनते ही एक बार मन प्राण तो धू धू करके जल उठे। न जाने क्यों समाचार ने मेरे कानों द्वारा हृदय तक पहुँचकर सैकड़ों सर्प-दंसन की सी पीड़ा उत्पन्न कर दी। शीघ्र ही पीड़ा ईर्षा में और ईर्षा दया में परिणित हो गई। मुझे जान पड़ा कि सुधीर मेरे कानों के समीप खड़ा होकर कह रहा है—"बिज्जा रानी, तुम्हें इस पर विश्वास हुआ ही कैसे ? तुम्हारे अतिरिक्त मेरे लिये क्या अन्य कोई भी संसार में नारी रूप में उपस्थित हो सकती है। छीः, ऐसी बात पर विश्वास।" सम्भवतः मेरी कल्पना ही खेल रही

थी। किन्तु मैं उसी पर अपने आपको धोखा देकर प्रसन्न हो उठी, फिर भी दीदी से दो चार प्रश्न किए बिना रह न सकी। न जाने क्यों मुझे दीदी के दुर्भाग्य पर दया सी आने लगी। किन्तु उनके उत्तरों में विश्वास और श्रद्धा की गन्ध पाकर मुझे जान पड़ा कि उन्होंने धोखा खाया है और वह धोखा है उनका अपने प्रति सुधीर के भाव समझने में। हायरी अभागी नारी-मनोवृत्ति! शीघ्र ही मुझे मालूम हो गया कि न केवल उन्होंने ही वरन् मैंने भी धोखा ही खाया। उनके प्रति मेरा दया भाव सदा ही रहा। मैं सदा ही उस अपनी दीदी को नारी की अबला-मूर्ति समझकर दया ही करती रही। न जाने दीदी का समस्त मुख-मण्डल सुधीर का नाम लेते ही एक अनुपम स्निग्ध भाव से भर उठता था और मैं वह देखकर सिर से पैर तक जल उठती थी। फिर भी मैं इस दीदी को करुणा की दृष्टि से देखती रही। ठीक उसी प्रकार जैसे कोई धनेश्वर किसी कंगाल की धनलिप्सापूर्ण आंखों की ओर करुणा की दृष्टि से देखता है। हाय, एक बार यदि केवल मैं उस दिन जान पाती कि उसका धनागार मुझसे कहीं अधिक सुरुचिपूर्ण, कहीं अधिक ठसाठस भरा हुआ है। उस दिन तो यह जान ही नहीं पाई, किसी प्रकार भी नहीं जान पाई। मां का काम समाप्त हो गया था, मुझे भी नई दीदी का सहवास कुछ भला सा प्रतीत नहीं होता था। अतः हम शीघ्र ही चले आये।

आते समय मैंने बड़े ही रोमैन्टिक ढंग से मजाक रूप में कहा, शायद अज्ञात रूप से दीदी की खिल्ली उड़ाने को—"दीदी कोई समाचार तो नहीं भेजना है सुधीर को।" किन्तु न जाने क्यों अन्त तक कहते-कहते मेरा रक्त खौल सा उठा। सम्भवतः

मुख-मण्डल काला हो उठा। दीदी देख नहीं पाई, शायद अन्य किसी ओर देख रही थी, किन्तु मैं स्वयं ही अपनी दृष्टि में छोटी हो उठी। उन्होंने धीरे से कहा—"हुश" मुझे जान पड़ा कि वह समस्त शक्ति से इस कपटाचरण को धिक्कार रही है।

एक दिन मैंने उससे पूछा था—'दीदी तुम परलोक मानती हो ?" किन्तु कितने दिन बाद पूछा था। उफ, वर्षों बाद —जब उनका विवाह भी होचुका था और वह विधवा भी होचुकी थीं। पर कहां की बात कहां कह बैठती हूँ। पहले ही कह चुकी हूं कि मुझे लिखना नहीं आता है। यह तो केवल बिखरे टुकड़े ही एकत्रित कर रही हूँ, अच्छा तो अब वह बात भी कह डालूं। हां तो अनेकों वर्षों बाद दो सन्तानों की मां इस विधवा नारी से मैंने पूछा था—"दीदी तुम परलोक मानती हो ?"

उन्होंने शान्त भाव से उत्तर दिया—"शायद नहीं, किन्तु जो व्यक्ति इन सबको मानते हैं उनके वाक्यों को मैं देववाक्य की भांति मानती हूं।"

उनका उत्तर सुनकर मुझे लगा कि कोई बिजली मेरी दृष्टि कौंधती हुई निकल गई है। कैसा विचित्र उत्तर था। परलोक शायद नहीं मानती, किन्तु परलोक में विश्वास रखने वालों के वाक्यों में अटल विश्वास है। मेरे लिये एक नवीन बात थी, कुछ क्षण चुप रहकर मैंने कहा—"दीदी यह कैसी बात ?"

"क्यों ?" उन्होंने आश्चर्य से कहा।

"तुम शायद परलोक नहीं मानती, किन्तु ऐसे अन्ध-विश्वासी लोगों पर तुम्हारी अटल भक्ति जान पड़ती है।" वह ठटा कर हंस पड़ी।

कुछ ठहरकर एक बार मुसकराई, किन्तु कितनी व्यथा भरी थी वह मुस्कान। देखने मात्र से ही रो उठने की इच्छा होती थी, फिर बोली—"मेरी सन्तान को देखती है बिज्जी। इन्हें मैंने नौ-नौ महीने गर्भ में रखकर अपना रक्त देकर पाला है। किन्तु मुझे क्षण भर को भी इन्हें दूसरे लोक में पाने की इच्छा नहीं होती, प्रवृत्ति नहीं होती। मेरे स्वामी देवता थे। किसी दिन भी उन्होंने अपने किसी भी कर्तव्य के पालन करने में कमी नहीं की, किन्तु फिर भी परलोक में उन्हें प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती। इसी से तो कहती हूं कि परलोक का अस्तित्व मेरे लिये है ही नहीं, मैं उस पर विश्वास जो नहीं कर पाती। यह बात किसी क्षण भी ज़ोर देकर मैं तुमसे कह पाती हूं, किन्तु किसी दिन भी यह बात चन्दर से कहने की शक्ति एकत्रित कर पाई ही नहीं। वह सच्चे हृदय से अपने ओछी प्रवृत्ति वाले पति को ही पाने की कामना परलोक के लिये भी किया करती है। कितना दृढ़ है उसका विश्वास। उसके सम्मुख या पीछे किसी क्षण भी परलोक का अस्तित्व भुलाने की शक्ति का मुझमें सर्वथा जाने या अनजाने अभाव सा ही हो उठता है।"

"किन्तु यह है कायरता दीदी। अत्याचार करने वाले से सहने वाला अधिक पापी है।"

"हो सकता है, किन्तु जिसके लिये किसी दिन भी अत्याचार का कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है। जो अत्याचार को भी मधुर व्यवहार, सरस उपहास करके ग्रहण करने की शक्ति अपने हृदय के भीतर पाते हैं, उनके लिये अत्याचार रह ही कहां जाता है। जानती हो, चन्दर तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर में क्या

कहा करती है ? वह कहती है लोक और परलोक जिनके चरणों में दोनों ही मिथ्या हो उठते हैं उन्हीं की प्रतिमा की तो मैं सहज आराधना इनके रूप में करना चाहती हूं। जो मानव को नारायण रूप में उठाकर देख सकता है वह और चाहे कुछ भी हो अन्ध-विश्वासी कभी हो सकता ही नहीं, वरन् उसका विश्वास ही तो एकमात्र सच्चा विश्वास है और जो लोक तथा परलोक दोनों की ही सीमा से परे की वस्तु को पाने का यत्न कर उठता है, परलोक की उसकी व्याख्या कितनी सजीव हो उठेगी, सो शायद सब नहीं समझ पाते।"

दीदी का उत्तर काफी उलझा हुआ होने पर भी दुबारा प्रश्न करने योग्य मेरे मन की अवस्था नहीं रही थी। मैं धीरे से कह उठी—"चन्दर है कायर, मूर्ख, दुर्बल।" दीदी ने कुछ कहा नहीं, किन्तु उनकी दृष्टि में भी उसी तरह की एक धिक्कार की झलक मुझे स्पष्ट दीख पड़ी। मैंने जीवन में इन्हीं दो अवसरों पर उनके निकट धिक्कारपूर्ण दृष्टि पाई थी।

अस्तु मैं चला आई। सुधीर से मिलने पर मैंने सुरभि का जिक्र किया तो सुधीर का मुख एकबारगी पीला हो उठा। मैंने उस पर विशेष ध्यान न देकर कहा—"दीदी है भी तो बहुत सीधी-सादी कोमल स्वभाव।"

"हैं तो, तुम उनसे मिल भी आई ?"

"और क्या ?" मैंने उत्साह से कहा। इस बार चिढ़ाने के लिहाजे में मैंने कहा—"सगाई तो पक्की हो रही है और हमारी मिठाई ?"

कुछ ऐसी दृढ़ता से सुधीर ने कहा—"छीः", कि मैं अचकचा गई। हास्य करने की सारी इच्छा न जाने कहां

विलीन हो गई और गम्भीर भाव से मैं कह उठी—'सुधीर मेरी इच्छा तुम्हें कष्ट पहुँचाने की थोड़ी ही थी। मैं तो मज़ाक कर रही थी।"

"ओः, ऐसा भी कहीं मज़ाक होता है बिज्जी।"

"अच्छा तब न कहूंगी। चलो, आज काम भी बड़ा करना है।" कह कर मैं उठ खड़ी हुई। सुधीर भी अपनी साइकिल उठाकर मेरे साथ ही चल दिया। क्षण भर में ही हम दोनों साईकिलों पर टाउन हाल की ओर जा रहे थे।

"शेष कथा"

उसके पश्चात एक दिन मां ने दुःख भरे शब्दों में सूचना दी कि सुरभि की सगाई जहां लग रही थी वहां से बात फिर गई। मैंने सन्तोष से सुना और फिर मुस्करा दी। सन्ध्या समय करुणा के घर पार्टी थी। करुणा सुधीर के रिश्ते में बहिन लगती थी और मेरी सहपाठिनी भी थी। पार्टी के बाद बाग में कुछ खेलों का भी प्रबन्ध किया था। सब लोग खेलों में लगे थे। इसी बीच मैं और सुधीर कुछ दूर निकल गये। मैंने सुधीर से छुटते ही कहा—"सुना है आपकी कहीं से सगाई आई थी पर अस्वीकृत कर दी गई।"

सुधीर का मुख एक बार तमतमा कर एकबारगी बुझ सा गया। एक कालिमा सी आंखों के चारों ओर घिर आई। एक क्षण को मुझे न जाने क्यों सुधीर के सुन्दर मुख की ओर देखकर भय सा प्रतीत हुआ, किन्तु तुरन्त ही मन का भ्रम समझकर मैंने उस भाव को ठेलकर दूर किया। फिर साहस करके भी

मैं सुधीर के मुख की ओर न देख पाई। सुदूर स्थित मेघमाला की ओर ही देखने लगी। कुछ बड़े काले जलद् गम्भीर नाद के साथ अपने व्यक्तित्व का रोब जमाते हुए छोटे-छोटे बादलों को पीछे ढकेल सा रहे थे। मुझे जान पड़ा कि मैंने भी एक बड़े बादल की भांति ही अपने व्यक्तित्व से दीदी के व्यक्तित्व को आकर्षण से क्षीण सा कर डाला है। कितना गौरवपूर्ण, धोखे-पूर्ण सन्तोष था, किन्तु कितना छलमय था वह सब-कुछ। आज उसकी निःसारता मेरी नस नस में घुसकर असह्य पीड़ा पहुंचा रही है।

सुधीर ने कहा—"वैसा होना कहीं सम्भव भी था बिज्जी? तू मुझे समझती क्या है?" उन्होंने बहुत अधिक प्यार से आज मुझे तू कहा। मैं खिल उठी।

"तुम्हें इतना अधिक पहचान न पाती तो निश्चय ही इतनी सरलतापूर्वक आत्म-समर्पण भी न कर बैठती।" न जाने क्यों इस बार फिर मैंने सुधीर के मुख की ओर देखा, किन्तु मुझे कालिमा कुछ गाढ़ी हुई सी ही प्रतीत हुई। मैं घबरा सी गई।

"तुम्हें हो क्या गया है सुधीर? तुम्हारा मुख तो एकदम सूख गया है, तबियत तो ठीक है ना?"

मेरे स्वर में शायद घबराहट भी थी और आश्चर्य भी।

सुधीर एकदम खड़ा हो गया। "हां, कुछ सिर-दर्द सा है। चलो, बिज्जी वहां लोग ढूंढते होंगे।" कह कर वह चल पड़ा।

"ठहरो, जरा अभी चलते हैं।" मैंने बैठे ही बैठे कहा।

"नहीं, समय अधिक हो गया है। करु ढूंढती होगी। बड़ी शैतान लड़की है, न जाने क्या शोर मचा दे।" उसने दृढ़ता से कहा।

मेरा मन अशान्त हो उठा था। सुधीर की बदलती हुई मुख छबि ने मुझे और भी अधीर कर दिया था। मेरी इच्छा थी कि कुछेक क्षण बातचीत करके शान्त हो लूं पर सुधीर की दृढ़ता अविचल थी। अतः मैं भी उठ खड़ी हुई। "अच्छा चलो" कह कर हम दोनों पार्टी में शामिल हो गये। पार्टी से लौटते-लौटते हमें दस बज गये। सुधीर मुझे घर तक पहुँचाने आया। साइकिल की चाल तनिक धीमी-धीमी करते हुए सुधीर ने कहा—"श्री! तुम्हारी दीदी तो शायद इस सगाई के विषय में उदासीन ही थीं ना?"

न जाने क्यों चाँदनी रात की शीतलता में, रात्रि के सुनसान में, और सड़क का एकान्त शान्ति में मुझे यह विषय कुछ भला नहीं लगा। मैं कुछ चिढ़ सी गई। मेरे स्वर में भी शायद मेरे मन के भावों का आभास हो।

"क्या जानूं, किसी का मन जानने की विद्या तो मुझे आती नहीं।" मैं चुप हो रही।

"सो बात नहीं कहता" कहकर सुधीर भी चुप हो रहा। शायद सारे रास्ते अन्यमनस्क सा ही बना रहा। मैं भी अभिमान के मारे बोली नहीं। चुपचाप रास्ता कट गया। गली के मोड़ पर मैंने कहा—"जाओ, सुधीर अब सामने ही तो घर है।"

"नहीं, नहीं चलो अन्दर तक पहुंचा दूं।"

"नहीं, कोई आवश्यकता नहीं।" स्वर सम्भवतः अत्यन्त कठोर था ?

"कल वाई० एम० सी० ए० आओगी तो ? मिस्टर जी० सी० बधाई का रूस की प्रगति पर व्याख्यान है ना ?"

"जानती हूं।"

"तब आओगी ना ?"

"देखा जायेगा।" कहते-कहते मैं दूर निकल गई। मैंने मुड़कर देखा भी नहीं कि सुधीर कब चला गया।

घर आते ही दर्शन हुए पिता के। पहले ही कह चुकी हूँ मेरा घर, यदि सौतेली मां न रहती होती तो मेरे लिए नर्क से अधिक और कुछ भी न था। पिता के लिये मेरे मन में कभी रत्ती भर भी सहानुभूति, प्रेम, दया का छाया तक नहीं थी। कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता था कि मां किस प्रकार इस सूने, जन शून्य घर में, इस दानव प्रकृति पुरुष के साथ अपने यौवन भरे प्रभात बिता रही हैं। शायद ऐसा और कोई नहीं कर पायेगी किन्तु वैसा मां कर रहीं हैं। इसी से कौन जाने अनजाने ही मेरी उन पर श्रद्धा थी।

पिता मुझे देखते ही गरज उठे—"तू गई कहाँ थी ? और किसकी आज्ञा से ?" पहली ही बार मुझे मालूम हुआ कि मुझे किसी की आज्ञा लेने की भी आवश्यकता है। कुछ ही दिन पूर्व चुनाव में जब मैंने कृष्णा के विरुद्ध राम भट्टाचार्य को मन्त्री पद के लिये अपना न केवल वोट ही दिया था, वरन्

एक प्रभावशाली भाषण भी दिया था तो चुनाव के बाद ही सुधीर ने कहा था कि मैंने उसके बिना पूछे ऐसा करके अच्छा नहीं किया। मैंने हंसकर कहा था—"सुधीर ऐसा तुम किस अधिकार से कहते हो ? मैं भी सङ्घ की सदस्या हूँ। मताधिकार मेरा है, मैं उसका चाहे जैसे उपयोग करूं।"

"अधिकार" अचकचा कर उसने कहा और कहता ही गया—"अधिकार ? प्रेम के अतिरिक्त मेरा कोई दूसरा है नहीं, उसी के दावे पर कहता हूँ। जब मैं और तुम भिन्न हैं ही नहीं तो हमारी कार्य प्रणाली क्यों भिन्न हो ?"

कितने ही कठोरता के इन्जेक्शन देने पर भी नारी का हृदय कोमल ही रहता है। मैं तुरन्त पिघल उठी। अपराध स्वीकार करके मैंने यह भी कहा कि भविष्य में बिना उसकी आज्ञा के कुछ न करूंगी। मैं यह सोचकर प्रसन्न थी कि यह पतिरूपी जीव का अधिकार का दावा नहीं है, वरन् प्रेमी के प्रेम का दावा है। हायरे नारी के अभागे भोले मन! किन्तु निश्चय ही सुधीर मन ही मन हंस रहा था सोचकर कि कितना सफल चकमा दे पाया हूं। कुछ भी हो उस दिन सुधीर के प्रेम के दावे पर उसकी आज्ञा ले लेने की आवश्यकता मैंने मान ली थी, किन्तु आज यह पिता रूपी व्यक्ति जिसने मुझे किसी दिन प्रेममयी वाणी का एक कण भी नहीं दिया, आज किस दावे के बल पर आज्ञा मनवाने की धौंस जमा रहा है, सो किसी प्रकार भी मेरी समझ में नहीं आया। पहले से ही मैं झुंझलाई हुई थी। फोड़ा कब का पक चुका था। पीप ठसाठस भरी हुई थी। एक हल्के से धक्के की ही कसर थी, उसे पिता के तेज औजार

रूपी व्यक्तित्व से मिली हुई उनकी भाषा ने पूरा कर दिया। मेरे मन का फोड़ा फूट उठा। पस बहने लगी।

इच्छा करके भी उसे रोकना अब मेरी शक्ति से बाहर था। मैंने अप्रत्याशित कठोर स्वर में कहा—"इच्छा होने पर कहीं भी जा सकती हूं, मुझे आज्ञा की आवश्यकता नहीं है।" मेरे उत्तर ने पिता के मस्तिष्क पर आग का काम किया। उनकी भयंकर आँखें और भी चमक उठीं। दोनों होंठ विकृत होकर भयंकर रूप से एक दूसरे से पृथक हो गये। नासिका के नथुने फूल कर जल्दी जल्दी सांस लेने लगे। प्रायः हांपते हुए से बोले—"अच्छा यहां तक, यह सब उस दुष्टा के सिर चढ़ने का फल है। कमबख्त लड़की को बिगाड़ने जा रही है और ऊपर से ढोंग करती है, मानो सगी मां वही हो।" अब समझ पड़ा कि मां पर बिगड़कर ही नीचे उतरे थे, सामने पड़ गई मैं। किसी पर क्रोध की फुहारें तो छोड़ना ही था। पिता से स्वाभाविक रूप से मुझे कुछ चिढ़ अवश्य थी किन्तु उनका यह रूप मैंने किसी दिन भी नहीं देखा था। देखकर सिर से पैर तक जल उठी। एक अज्ञात इच्छा सी हुई कि कोई कह दे मुझसे आकर कि यह दानव मेरे पिता है ही नहीं। मन ही मन कुछ घुटकर मैंने कहा—"यहां खड़े होकर बातें करने का मुझे अवकाश नहीं है, मार्ग छोड़ो।" स्वर में खीज भी थी और चिढ़ भी।

अब तो पिता क्रोध से पागल हो उठे। उन्होंने बड़ी जोर से साईकिल समेत मुझे लात मारी। साईकिल गिर पड़ी और मैं भी इस आकस्मिक धक्के के लिये तैय्यार न थी। आगे क्या

करना चाहिये, मैं सोच ही रही थी कि न जाने कहां से मां बीच में आ खड़ी हुई। उनका सारा मुख-मण्डल एकदम लाल हो रहा था। आंखें तो बीर बहूटी से होड़ लगा रहीं थां। शायद तुरन्त ही रोकर आई थीं। सीधी मेरे पास आकर बोलीं—"चलो बेटा!" मेरा हाथ पकड़कर ले चलीं। मैं भी मन्त्रमुग्ध-सी उनके साथ चल दी। वास्तव में यह सब व्यापार मेरी समझ में ही नहीं आ रहा था। हमारे आंगन के मध्य भाग तक पहुँचने के पूर्व ही पिता गरज उठे—"हूं अब समझा। यह सब तुम्हारी ही शै है। आज एक-एक को ठीक न कर दिया तो कोई बात नहीं।"

मां का दाहिना हाथ मेरे हाथ में था, मैंने हाथ के दबाव से मां के मन का भाव जानना चाहा, पर न तो हाथ कांपा ही और न हिला ही। एक क्षण स्थिर रहकर मां ठिठक गईं। मुड़ कर बड़े ही गम्भीर भाव से उन्होंने कहा—"कहती हूं चुपचाप से आज रात्रि भर सो रहो। प्रातः जो कहोगे सो हो जायेगा। लड़का के सामने अधिक बोलकर अपने आपको अपमानित न करो।" कहकर वह फिर मुड़ कर मुझे लिये दिए ही रसोई-घर में चली गईं। मां के स्वर की गम्भीरता से शायद पिता भी सहम से गये, किन्तु फिर भी बड़ी देर तक आंगन में खड़े-खड़े ही बड़बड़ाते रहे। उसके बाद अपने कमरे में चले गये। आंगन में एक तीव्र दुर्गन्ध फैल रही थी। मां ने चुपचाप थाली परोसी। करुणा के घर चाय के साथ ही इतना अधिक खा चुकी थी कि अब तनिक भी खाने की इच्छा न थी, किन्तु इस समय यह कह सकने योग्य शक्ति न थी। अतः चुपचाप अरुचिपूर्वक टुकड़े तोड़-तोड़ कर मुंह में एक प्रकार से ठूंसने लगी। भोजन विष

मय लग रहा था। फिर भी चुप रहने में ही अधिक कुशल था। इसी समय मां ने कहा—"बेटा, कुछ खा तो रही नहीं हो।"

"नहीं, नहीं मां खूब खा रही हूं।" मां चुप हो रहीं। थोड़ी देर बाद फिर बोलीं—"बेटा, पिता के आज के कृत्य के लिए क्षमा करना ही होगा।" मैं कुछ चौंक गई। फिर सम्भल कर मैंने कहा—"सो क्यों मां ?"

मां शायद मेरे प्रश्न पर कुछ सोचने लगीं, किन्तु तुरन्त ही बोलीं—"बिज्जो, तू नहीं जानती किन्तु मैं जानती हूं। तेरे पिता के समान दुःखी व्यक्ति भी संसार में बहुत कम हैं। उनकी पीड़ा ही उनके स्वभाव का कारण है। तू उन्हें क्षमा कर दे बेटी।"

मैं चुपचाप सुनती रही। मुझे उस दानव की पीड़ा सुनने की भी आकांक्षा नहीं थी। किन्तु माँ की सहनशीलता पर कुछ आश्चर्य अवश्य हुआ। फिर भी मन क्षोभ से भर उठा। मां चुपचाप मेरे मुख के इस परिवर्तन को देख रहीं थीं, बोलीं कुछ भी नहीं। मेरे जीवन का यह एक नया अनुभव था। मेरा दानव तुल्य पिता दुःखी है, अत्यन्त दुःखी है और मेरी दुःखिनी मां उस पर उसके दुःख के लिए दया करती हैं, करुणा से भर उठतीं हैं। वाह ! मैं कभी रोती नहीं थी, किन्तु उस रात रोई, खूब रोई और रोती ही चली गई। रोने के पश्चात जब मन कुछ हल्का हुआ तो दो भावनाऐं प्रबल थीं, एक तो उस घर से छुटकारा पाने की और दूसरी मां के रहस्यमय जीवन को समझ पाने की।

प्रातः उठ कर मैं साईकिल पर चढ़ कर एक लम्बा चक्कर लारेन्स बाग का कालिज जाने से पूर्व कर आई। उबलता हुआ मस्तिष्क इस सैर से कुछ शान्त हुआ। घर आकर नहा कर कालिज चली गई। लेकचर में जी ही नहीं लगता था। फिर भी किसी तरह एक घण्टा तो व्यतीत कर ही दिया। फिर सैकेण्ड पीरियड में चन्द्रिका से बोली—"चल, चन्दर यह लेक्चर मिस कर दें।"

हां, चन्द्रिका मेरी सहपाठिनी थी बहुत ही सुन्दर, बहुत ही सुशील, बहुत ही भोली। होस्टल में रहती थी। उसके माता-पिता कहीं दूर, किसी गांव में रहते थे। चन्दर उनकी एकमात्र सन्तान थी।

पहले दिन जब चन्दर ने कक्षा में प्रवेश किया तो स्वाभाविक सहज रूप से मैं उसकी ओर आकर्षित हो उठी। लेक्चर समाप्त होने पर मैंने सहज भाव से पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है न्यू कमर?" चन्दर कुछ घबड़ा सी गई, पर सहज स्वर में बोली—

"चन्द्रिका।"

"नाम तो बड़ा अच्छा है। विषय क्या लिये हैं?"

"इतिहास और फिलॉसफी।"

"अच्छा, होस्टल में ही हो क्या?"

"हां।"

"जी लग गया?"

"अभी कहाँ? कल तो आई हूं।"

उस दिन यहीं तक बातचीत हुई। उसके पश्चात् हम दोनों अनजाने ही स्नेह-सूत्र में बँध गईं। मैं थी उद्दण्ड, तीव्र और कठोर— चन्दर शान्त, गम्भीर, स्निग्ध और कोमल। हमारा सङ्ग शायद उतना सुन्दर और सजीव हो पाता ही नहीं यदि उसमें एक तीसरी लड़की और न आ मिलती।

यह थी कमल—कमल के स्वभाव में कुछ भी असाधारण बात न थी। बुद्धि कुछ कम थी किन्तु बुद्धि की कसर वह हंसी द्वारा पूरी कर लेती थी।

शरीर से कुछ मोटी होने पर भी आलस्य का तो उसमें नाम ही न था। खूब हंसती थी और सदा हंसाती ही रहती थी। हमारे गुट्ट में वह अवश्य थी, किन्तु मुझे तो उसकी संगति किसी दिन भी विशेष प्रिय नहीं जान पड़ी थी। कमल मेरी छात्र-संघ की कार्य्य प्रणाली और उसमें मेरा हाथ अत्यन्त प्रशंसा की दृष्टि से देखती थी। वह मुझे सदा ही "सफल नेत्री" कह कर पुकारती थी। कभी-कभी लाड़ में आकर यहां तक भी कह जाती थी—"अपनी बिज्जी किसी दिन देश के निर्माणकर्त्ताओं में से होगी।" यद्यपि स्वयं उसे देश से कोई सहानुभूति भी न थी और प्रेम भी नहीं। मुझे उसकी मूर्खता पर क्रोध भी होता था और दया भी आती थी। फिर भी मेरा सहज प्रेम भी उस पर कुछ कम न था।

चन्दर मानो सिर से पैर तक प्रेम-निर्मित थी ही। विश्व भर को प्रेम करना कर पाना ही उसका सहज स्वभाव था। कुछ ही दिनों में चन्दर कालेज भर की विश्वास-पात्र बन गई। यहां तक कि होस्टल में भी उसे एकान्त में पाना एक समस्या बन

गई। कभी कोई जूनियर बैठी उससे कोई विषय पढ़ रही है तो कभी कोई सहपाठिनी गप्पें लड़ा रही है। यहां तक कि घर से कोई विशेष पत्र पाने पर सलाह देने का उपयुक्त स्थान भी चन्दर का ही कमरा था। संक्षेप में कालेज की प्रिन्सीपल से लेकर होस्टल की माई-महरी तक सब ही चन्दर के निकट एक से प्रेम और आदर के अधिकारी थे। कहीं किसी के लिये कुछ भी हिचक न थी, कुछ भी कमी नहीं थी, कुछ भी त्रुटि नहीं थी। खुले मन से चन्दर सब ही का स्वागत करती थी और सब ही एक आध बार मिलने पर भी उसे सर्वाधिक अपना समझने लगते थे। बहुत दिन तक यह सत्य मेरे निकट छुपा ही रहा। मैं समझती रही कि चन्दर केवलमात्र मेरी ही सम्पत्ति है, उस पर एकमात्र मेरा ही अधिकार है किन्तु शीघ्र ही सत्य मेरे निकट नग्नरूप में प्रकट हो गया। चन्दर स्नेहमयी, भोली चन्दर में विश्व भर को स्नेह से खींचने की विचित्र क्षमता थी। यही तो कारण है कि आज विश्व भर में सबसे अधिक मेरे निकट घृणा की पात्री होने पर भी चन्दर मुझे सबसे अधिक प्रिय है। हूं तो उसने आश्चर्य से कहा—"क्यों बिज्जी आज लेक्चर मिस करने की धुन क्यों समाई है ?"

"चल, उधर पेड़ के नीचे बताऊंगी।"

पिछले कई वर्षों से मैं इस संस्था की छात्रा थी। कालेज के पेड़-पत्तियों से भी एक सहज मैत्री थी। अपने चिर-परिचित आम के पेड़ के नीचे जाकर बैठ गई। चन्द्रिका भी बैठ गई।

"चन्द्रो ! आज मेरा मन कुछ अप्रसन्न सा है।"

"क्यों ? बिज्जी बात क्या है ?"

"कुछ नहीं, यूं ही आज कुछ सुबह से ही मन प्रसन्न नहीं है।"

चन्दर से मेरा कुछ भी नहीं छिपा हुआ था, किन्तु अनेक बार इच्छा करके भी सुधीर की बात चन्दर से नहीं कह पाई थी। आज भी इसी इच्छा से चन्दर को एकान्त में लेकर आई थी कि अपने मन की व्यथा कह कर कुछ मन हलका करूंगी। मेरी यह भी इच्छा थी कि चन्दर लाख-लाख ज़िद करके स्वयं ही वह बात मेरे मुख से निकलवा ले। किन्तु चन्दर बहुत ही भोली थी। दूसरे की व्यथा उसके हृदय पर सैकड़ों हथौड़ों की चोट तो करती थी, किन्तु उस व्यथा को उस व्यक्ति के बताये बिना जानने का उपाय उसके पास नहीं था। उसने सरलता पूर्वक कहा—'अच्छा तब मैं एक गाना गाती हूँ, तुम सुनो।"

उसका गला बड़ा ही मीठा था। कई बार वह अपनी बनाई हुई कविता अपने स्वर में भर कर गाती थी तो मुझ जैसी अरसिक लड़की भी काँप उठती थी, पुलक उठती थी। मेरी इच्छा इस समय गाना सुनने की नहीं थी, किन्तु अस्वीकृति भी न दे सकी। चन्दर धीरे-धीरे गाने लगी—

आज नख शिख में समा जा,
चिर ध्वनित ओ नित्य नूतन।

मेरी कई बार सुनी हुई चन्दर की अपनी ही कविता थी। आज मेरा मन स्वरों की ओर जाने योग्य न था, अतः शब्दों पर मैंने पहली ही बार ध्यान दिया। बीच में ही बोल उठी—"चन्दर तुम कविता करती हो, किन्तु क्या सचमुच ही उस

चिर ध्वनित नित्य नूतन को नख शिख में समा सकने योग्य शक्ति मानव हृदय में है ?"

"न होने पर मानव, मानव रहेगा ही कहां ? एक दिन जिन्होंने मानव को गढ़ा था, उन्होंने उसी समय अपनी ही एक मूर्ति बना कर उसके हृदय के स्थान में रखकर कहा था यही मैं हूँ मानव। उस दिन से आज दिन तक मानव उसी एक सत्य को समझता चला आ रहा है।"

"यह क्या तुम्हारी बात है, चन्दर ?"

"अपनी बात कहाँ से पाऊंगी बहिन ? यह सब तो जन्म से आज तक मां की गोद में ही सीखा है ना ?"

मैं सहम सी उठी। मां, ओह मां ! किन्तु मेरी जन्म-दात्री माँ, है ही कहाँ ? और मेरी.....ओह, सौतेली माँ छीः, वही तो मेरी माँ है.....।

मन के सङ्घर्ष ने शायद मुख पर भी अपनी छाप छोड़ी। चन्द्रिका कुछ ठहर कर कहने लगी—"चिर ध्वनित की चिर नवीन ध्वनि जिस दिन हृदय में सुन पाओगी तो फिर दुःख-सुख, आशा-निराशा यह सब रह ही कहाँ जायेगा, बहिन। यह सब कुछ तो मन को खाली जान कर बरबस वहाँ आ जाते हैं, बस जाते हैं।"

"चन्दर ! यह सब केवल मन समझाने की बातें हैं। तुमने दुःख न कभी देखा है और न उससे तुम्हारा परिचय ही है। एक प्यार करने वाली मां, आदर करने वाले पिता और और स्नेहमयी कालिज की सखियों को ही तुम जानती हो, इस

पर भी मानव दुःख का कोई अस्तित्व हो सकता है सो तुम कैसे जानोगी ?"

"और तुम कैसे जान पाई हो बिज्जी ?"

मैं उत्तेजित हो उठी। गरज कर कह बैठी—"मेरी बात जाने दो चन्दर। मेरे पास अपनी कहलाने योग्य कोई भी वस्तु नहीं। अपनी माँ नहीं, जिसने कभी स्नेह से देखा हो—ऐसे पिता नहीं। जो मेरे सब से अधिक अपने हैं वह भी मुझ से कितनी दूर हैं, सो जान पाती नहीं। मेरी अवस्था से तुम्हारी अवस्था की तुलना नहीं हो सकती। तुम आनन्दपूर्वक चिर-ध्वनित का आवाहन मन में करो, मुझे उसकी न आवश्यकता है और न इच्छा ही। बलपूर्वक मेरी सहनशील, बन्धु-बांधव सन्तान-हीन सौतेली मां के हृदय पर जब मेरे राक्षस पिता अत्याचार करते हैं तो जान नहीं पड़ता कि तुम्हारे चिर ध्वनित उस हृदय में ध्वनि कर रहे होते हैं अथवा नहीं।"

"अवश्य कर रहे होते हैं। यदि नारायण उस हृदय में वास न करते हों तो अत्याचार सहने की शक्ति ही मानव मन कहां से पायेगा, बहिन ? वह फट न जायेगा।" कैसा भोला प्रश्न था। घने क्रोध में भी मैं हंस पड़ी।

"फटेगा नहीं, किसी कारण से भी नहीं। इसलिए नहीं फटेगा कि वह दीन है, उसमें साहस का अभाव है, उसमें दृढ़तापूर्वक विरोध प्रदर्शन-स्वरूप फट जाने की भी शक्ति नहीं है। वह तो केवल चुपचाप लात-जूते ही खाता रहेगा और पशुओं की तरह जीवित रहेगा।"

"यहीं तुम भूलती हो बहिन। अत्याचार को चुपचाप सह लेने में मानव का महत्व घटता नहीं, कुछ बढ़ता ही है।"

"छीः, छीः अपमान सहकर पूंछ हिलाने में, जूते खाकर पैर सहलाने में मानव का महत्व बढ़ता है? तब उस महत्व का अधिकारिणी तुम्हीं बनो, छीः।" मेरा स्वर बड़ा ही विकृत था। धैर्यपूर्वक चन्दर ने कहा—

"और उपाय ही क्या है बहिन। मानव को नारायण ने अपनी प्रतिमूर्ति बनाकर ही तो विश्व में लीला करने भेज दिया है। वही तो हमारे रूप में दुःख-सुख लेकर क्रीड़ा किया करते हैं। उनकी क्रीड़ा को प्रसन्न मुख से होने देना ही तो उचित है और जो कार्य्य अन्य जीव नहीं कर पाते उसके करने में ही तो मानव का गौरव है।"

"गौरव नहीं, पत्थर है। कायरता है। कौन कहता है नारायण अपनी प्रतिछवि के रूप में क्रीड़ा करता है? यह सब कुछ ढकोसला है। स्वार्थी व्यक्तियों का कपटाचार है। इसे गौरव कहते हुए तुम्हें लज्जा से मर जाने की इच्छा नहीं होती चन्दर?" सचमुच ही मैं बहुत अधिक चिढ़ गई थी।

"सच कहती हूं बहिन, मेरी तो इच्छा होती है कि संसार भर का दुःख, वेदना, पीड़ा अन्य सब व्यक्तियों को बचाकर अपने उर में ही भर लूं।" उसका स्वर करुण तो था, पर था दृढ़।

"यह सब बातें हैं। वेदना केवल चित्रपट पर ही अच्छी लगती है। पीड़ा के उपन्यास बहुत सुन्दर होते हैं, सजीव होते हैं, किन्तु शायद इसीलिये कि मानव उन्हें दूर से देखकर,

समीप के भय से बच जाता है। समीप से छूने का उसमें साहस जो नहीं है। दूसरे की पीड़ा देखकर वह अपनी वेदना-हीन अवस्था पर सन्तुष्ट होकर उसकी पीड़ा का आनन्द उठाता है। उफ, कितना हृदयहीन है मानव। छीः।" मैं शायद चीखसी रही थी, किन्तु जिस कोने में हम बैठे थे वह कालिज से बहुत दूर था। अतः शीघ्र ही कोई गोलमाल होने की सम्भावना नहीं थी।

इस बार चन्द्रिका कुछ करुण स्वर से बोली—"अभिमान नहीं करती बिज्जी, किन्तु यदि किसी दिन सचमुच की वेदना से परिचय हुआ तो छाती का समस्त रक्त चाहे छाती के भीतर ही सूखकर जम जाये, कभी किसी दिन भी आंसू के रूप में उसे बहाकर किसी दूसरे की आंख गीली न करूंगी। हृदय भले ही पीड़ा के मार से चूर्ण हो जाये, किन्तु अत्याचार के विरुद्ध शिकायत करके उसका रूप और घृणित न करूंगी। मर भले ही जाऊं, किन्तु मेरी वेदना केवलमात्र मेरी होकर ही रहेगी। कभी भी उसमें किसी और को साझा बांटने के लिये कहूंगी नहीं।"

"भले ही दुःख तुम्हारे मस्तिष्क की समस्त बुद्धि, मन की समस्त आनन्द-दायिनी शक्ति छीन ले?"

"भले ही।"

"और जानती हो मैं क्या करूंगी?"

"क्या?"

"अत्याचार का प्रतिकार।" मैंने लगभग चिल्ला कर कहा और कहती ही गई—"मैं अपने जबरदस्त पञ्जों से अत्याचारी का हृदय विदीर्ण कर दूंगी। पिस्तौल की गोली से उसका

सोचने वाला मस्तिष्क और समझने वाला हृदय सदैव के लिये शान्त कर दूंगी। मुझे छलना सरल नहीं है। मैं अत्याचार सहने के लिये पैदा हो नहीं हुई हूं।" मेरे अन्तिम शब्द सुनते-सुनते न जाने क्यों चन्दर का मुख किसी चिन्ता से भर उठा। फिर भी मुझे शान्त करने के विचार से बोला—"बिज्जी, अगला लेक्चर भी मिस करने का विचार है क्या?"

"तू जा, चन्दर मैं तो जाऊंगी नहीं, मुझे यूं भी मिस जानसन की क्लास अच्छी नहीं लगती, आज तो बैठ पाऊंगी ही नहीं।" वह गई नहीं, वैसे ही बैठी रही।

"नहीं जाओगी क्या?"

"नहीं।"

कुछ देर तक असह्य भयंकर शान्ति रही। फिर नीरवता भंग करती हुई स्वयं चन्दर बोला—"बिज्जो, विधाता ने सिर से पैर तक तुझे केवल अग्नि और अग्नि से ही बनाया है। सचमुच मुझे आश्चर्य होता है कि इतनी अधिक अग्नि तुझमें भरकर भी उन्होंने तुझे नारी बनाने का भूल क्यों कर दी।"

चन्दर के कहने के ढङ्ग पर मुझे बड़ी जोर से हंसी आ गई।

"शायद इसीलिये चन्दर कि तुझे इतनी अधिक सहनशीलता, नम्रता और कोमलता दे देने के बाद उनका कोष प्रायः इन चीजों से चुक गया था। सदा की नारी की अपूर्ण लक्ष्मी मूर्ति भी पूर्ण हो गई थी। मुझे निर्माण करते समय उन्होंने कोष की शेष वस्तुएं कठोरता, दृढ़ता और भयङ्करता खर्च करके नारी की रणचण्डी प्रतिमा बना डाली।"

"सो बात नहीं कहती बिज्जी ! तू माने या न माने, नारी की सहज कोमलता का अंश भी तुझ में पर्याप्त मात्रा में वर्तमान नहीं है, सो बात नहीं है।"

"यदि हो भी ता मैं उसे गला घोंट कर बलपूर्वक मार डालना चाहती हूं। सचमुच नारी की दीन प्रतिमा देखकर मेरा मन घृणा और क्षोभ से भर उठता है।"

कुछ देर तक चान्द्रिका चुपचाप शून्य की ओर ताकती रही। तत्पश्चात् एक दम खड़ी होकर बोली, एक आवेश में—कवियित्री थी ना। एक प्रकार के अपने ही ढङ्ग से।

"भगवान तुझे किसी भी वेदना के निकट कभी भी जाने या अनजाने में न ले जायें, और यदि कभी भूल से जा भी पड़ो तो वह दुःख तुम्हारा स्पर्श तक भी न कर सके, यही भगवान के निकट प्रार्थना करती रहूंगी।" चन्दर ने यह प्रार्थना फिर किसी दिन अपने चिर प्रिय भगवान से की थी या नहीं, सो नहीं जानती। किन्तु जिस दिन उसको ही अपने इहलोक के सब से बड़े दुःख का कारण जान पाई तो मैं भगवान के अद्भुत मजाक पर सिर से पैर तक दुःख में डूबी हुई होकर भी बरबस हंस पड़ी।

चन्दर उसी समय बिना मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये ही चल दी। मैं अभी तक बैठी थी, अब और बैठी न रह सकी। युग-युगान्तर की थकी हुई सी घास पर लेट गई। मन और भी थक गया था चन्दर की मूर्खता पर और मां की दुर्बलता, कायरता पर।"

प्रातः कालिज आने से पूर्व मैंने मां से कहा था—"मां तुम्हारी बेटी अवश्य हूं, तुम से हर प्रकार से छोटी हूं किन्तु

अब इस अत्याचारी के असह्य अत्याचारों का शिकार तुम्हें न होने दूंगी। नहीं जानती क्यों तुमने किसी दिन भी यह सब मुझे जानने का अवसर नहीं दिया, छुपाती ही रहीं। किन्तु कल रात जो एक बार अचानक ही प्रकट हो गया है, उसको देखने के बाद अब हम मां-बेटी किसी प्रकार भी यहां नहीं रहेंगी।"

"तो बेटा उन्हें क्या अकेले छोड़ कर चल दें?"

"क्यों?"

"वह बड़े ही दुःखी हैं, बिज्जो। उनका दिमाग ठीक थोड़े ही है, अन्यथा वह हम पर अप्रसन्न थोड़े ही होते हैं।"

"मां, मुझे भुलावा न दो। उन्हें दुःख ही क्या है?"

"सो नहीं जानती। कभी साधारण अक्षर ज्ञान तक तो हुआ नहीं, मानव के मन की बातें कैसे पढ़ सकूंगी। किन्तु इतना जानती हूं कि वह मानसिक रूप से स्वस्थ दशा में नहीं हैं। दफ्तर से आकर तो उनका मन बिलकुल ही ठीक नहीं होता। कभी कुछ कहते नहीं, किन्तु जान पड़ता है मन ही मन किसी पर जल-भुन रहे हैं। किसी को बताते भी नहीं। पर लगता है किसी अन्याय का प्रतिकार करने की शक्ति अपने में न पाकर, अपने को असमर्थ पाकर तड़फ रहे हों।" मां का स्वर बड़ा ही करुण था, किन्तु उस समय मैंने यह लक्ष्य नहीं किया।

"यह सब तुम्हारी मन-गढ़न्त बातें हैं। वास्तव में तुम लोग अत्याचार सहने के इतना आदी हो गई हो कि उसका विरह भी तुम्हें असह्य है।"

मां किसी भी अपने ऊपर लगाये दोष का कभी भी प्रतिवाद नहीं करती थीं। हंसकर बोली—"वह मेरे लिये क्या हैं तब जानोगी लल्ली, जब मेरा ही जैसा वर पा जाओगी।"

"हां, यदि उन्हें मारने को कोई गोली नहीं मिली अथवा अपने खाने को विष।"

"छीः, ऐसा भी कोई कहता है बिज्जी। मेरी बेटी के मुख में ऐसी बात शोभा नहीं देती।" उन्होंने तिरस्कारपूर्ण स्वर से कहा।

"तुम मेरी मां नहीं हो, हो सकती ही नहीं। मेरी मां, बिज्जी की मां इस हद तक कायर नहीं हो सकती।" कह कर मैं तेजी से साईकिल उठाकर चल दी। मां ने शायद पीछे से एक गम्भीर लम्बी ठण्डी सांस ली।

कालिज आने पर भी जी नहीं लगा। चन्दर की बातों से तो मैं और भी उत्तेजित हो उठी। न जाने कितनी देर तक वहां लेटी रही। कालिज का शायद अन्तिम घण्टा खनखना उठा। आज कालेज के बाद ही मुझे सुधीर से काफी-हाउस में मिलना था।

आगामी वर्ष के लिये 'ग्राम्य सुधार प्रोग्राम' बनाना था। कार्य्यकर्त्ताओं में से हम दोनों ही प्रमुख और उत्साही व्यक्ति थे। सुधीर से मिलने की याद से कुछ आशा भी चमक उठी। कल मैं सुधीर से कुछ अप्रसन्न सी थी ना? आज वह अवश्य ही बनायेगा। आरम्भ से ही कह चुकी हूं कि मुझमें न जाने क्या आकर्षण था कि सभी मेरी सहपाठिनी छात्राएं तथा अध्यापिकाएं तक मेरी ओर सहज ही आकर्षित हो उठती थीं। और जब

सुधीर भी आकर्षित हो गया तो मुझे सहज ही विश्व भर का प्रेम केवल अपने लिये ही पा सकने के सिद्धान्त पर अपना अधिकार, सहज दावा-सा दीखने लगा।

सुधीर का कल का व्यवहार इसीलिये मुझे कुछ रूखा सा जंचा और आज मेरा विश्वास था कि वह अवश्य ही मुझे मना-वेगा। उठकर साईकिल उठाई। मेरी पुस्तकें साईकिल के साथ लगी सुन्दर सी काशमीरी टोकरी में ही थी, अतः कक्षा तक जाने की भी आवश्यकता न थी।

पैडेल पर पैर रखते ही मैंने कमल की आवाज सुनी—"बिज्जी, एक बात सुनकर जाना।" उस मूर्खा की पीछे से दी हुई आवाज सुनकर मैं चिढ़ गई। जान-बूझकर मैंने जोर से पैडल मारकर साईकिल चला दी। कमल की वह अधूरी बात इस जीवन में फिर किसी दिन सुन पाई नहीं।

अन्यमनस्क सी जब मैं काफी-हाऊस पहुंची तो सुधीर एक छोटे से पार्टीशन कमरे में अधीरता से मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। मैंने मन ही मन कुछ मान करने की ठानी, किन्तु हायरे दुर्भाग्य, सामने पहुँचते ही सुधीर ने कहा—'बिज्जी, मैं कल विदेश जाने के लिये बम्बई जा रहा हूं।" उसके स्वर में वेदना थी, उसने कहा—"अब यहां का काम-काज तुम्हीं को सम्भालना पड़ेगा।"

समाचार एकदम नया था और उतना ही हृदय-विदारक भी। फिर मैं उसके लिये तैय्यार भी तो न था। यकायक समझ में नहीं आया कि क्या उत्तर दूं। दिनभर की मानसिक थकान तथा उत्तेजना से मेरी आंखें पहले ही डबडबा रही थीं, अब तो

किसी प्रकार भी नहीं रुक सकीं। मेरी आंखों से दो-चार बूंद आंसू गिर गये। मैंने आंसू रोकने की बड़ी चेष्टा की, यहां तक कि आत्म-दमन के प्रयत्न में मेरा माथा भिन्नाने लगा। होंठ पर दन्तों के दबाने से नीचे का होंठ भी कट सा गया, किन्तु आंसू रुके ही नहीं। सुधीर ने आंसू देख लिये। मैं लज्जा से मर गई। यह मेरी पहली और अन्तिम दुर्बलता थी जो सुधीर के सम्मुख नग्न हो उठी थी। उस कमरे से में हम दोनों ही थे। सुधीर ने अभी तक काफ़ी लाने के लिये आज्ञा नहीं दी थी। उसने झटपट अपना रुमाल निकाल कर मेरी आंखों पर रख दिया। मैं बैठी थी, सुधीर मेरी कुर्सी के पीछे आ खड़ा हुआ। आंसू पोंछते हुए उसने मेरे बालों सहित सिर को दो-एक बार थपथपाया भी। आंसुओं की लज्जा मुझे यूं ही काफी कष्ट दे रही थी। उधर सुधीर की सहानुभूति तो विष ही हो उठी। मन की दुर्बल अवस्था में उस पर अधिकार करना, संयम करना अत्यन्त कठिन हो उठता है। एक तो मेरा मन रात रात्रि से ही दुर्बल और थकित हो रहा था, तिस पर यह अचानक विरह की सम्भावना। मैं बिलकुल ही अपने आपको वश में रखने में असमर्थ हो उठी। सुधीर शायद समझे कि उनके जाने का समाचार ही मेरे लिये प्राणघातक सिद्ध हो रहा है। जो भी कुछ हो, मेरे आंसू नहीं थमे, बहते ही जा रहे थे, लाचार थी मैं। एकाएक सुधीर ने अपने रुमाल से मेरा आंसुओं से भीगा हुआ एक गाल पोंछा और फिर एकदम अचानक रूप से उस पर अपने जलते हुए होंठ धर दिये। मैं कुछ चौंक कर पीछे हट गई। फिर भी उसे रोक न सकी। रोकने योग्य शक्ति का मुझमें अभाव था। समस्त हृदय से मेरी इच्छा होने लगी कि ऐसा न होता,

फिर भी उसमें एक प्रकार की जलन मिश्रित ज्वाला सी थी जो मुझे भली लगी। कुछेक मिनट तक यही व्यापार चलता रहा। किन्तु मैं बिलकुल ही शान्त थी। हिलने-डुलने की शक्ति मुझमें नहीं रह गई थी। काफी रो चुकने के पश्चात् अब आंसू थम गये थे। इतनी देर बाद अब सुधीर बोला—

"बिज्जी, मैं शीघ्र ही आऊंगा। तब तक तुम मेरे मिशन को चलाती रहना। आने पर फिर हम तुम दोनों माँ-भारत की सेवा में लग जायेंगे। यह वियोग तो क्षणिक है। इसका अन्त तो होगा ही। दिन ही कितने हैं? मुझे कुल मिलाकर अठारह उन्नीस मास ही तो वहां रहना होगा।"

"अच्छा" मैंने शान्तिपूर्वक कहा।

"हर सप्ताह पत्र लिखोगी? तुम्हारे पत्र विदेश में भी मुझे तुम्हारे समीप्य का आनन्द देंगे।"

मेरा दाहिना हाथ सुधीर के हाथ में था। उसने आवेश में मेरा हाथ जोर से दबा दिया।

'लिखूंगी।"

"आने तक मेरी प्रतीक्षा करोगी?"

"करूंगी।"

"तब मैं आनन्द पूर्वक यह दिन बिता आऊंगा बिज्जी रानी! लेकिन तुम दुःखी तो नहीं होओगी? पीछे से रोओगी तो नहीं?"

सुधीर से कुछ बातचीत करने की मेरी प्रबल इच्छा थी। किन्तु कुछ भी कह न सकी। जिह्वा जकड़ सी गई थी तालू के

साथ। केवल ताकती भर रही, सो भी सुधीर के मुख की ओर नहीं, पैरों की ओर। यद्यपि वहां आकर्षण की वस्तु कुछ भी न थी।

बहुत देर तक बहुत-सी बातें करके सुधीर उठ खड़ा हुआ। इसी बीच हमने शान्त होकर काफ़ी भी पी ली थी।

सुधीर ने न जाने क्यों कहा—"मुझे भूल तो न जाओगी बिज्जी रानी ?"

"यह कैसे हो सकता है।" न जाने कैसे मैं कह सकी। यही मेरी सुधीर के साथ अन्तिम लम्बी भेंट थी; कितनी करुण, कितनी कठोर और कितनी निर्मम। सुधीर गली के मोड़ तक मुझे छोड़ने आया। किन्तु रास्ते भर हम दोनों ही चुप रहे। गली के मोड़ पर आकर सुधीर ने भरी हुई आँखों से मेरी आँखों में देखा। मेरी आँखें भी भर आईं। यह मूक विदा शब्द विदा से कहीं अधिक करुण थी। आँसू छिपाने का मैं झटपट चल दी मुड़कर। किन्तु सारी रात अपने कमरे में अकेली पड़ी रोती रहने के बाद जब मैं सो गई तो मुझे यह स्मृति अवश्य रह गई कि मेरे सोने के पूर्व मैंने घड़ी का चार के घण्टे बजाते सुना था।

दूसरे दिन जान पड़ा कि मेरे जीवन का समस्त उत्साह, समस्त जीवनी शक्ति, समस्त रस सुधीर अपने साथ ही ले गया है। छात्र सङ्घ का कार्य तो मैं अब भी करती थी, किन्तु वैसा आनन्द नहीं आता था, वह उत्साह नहीं रहा था।

पहले पहल तो सुधीर के पत्र भी जल्दी-जल्दी आते थे। मेरे लिए उनमें पर्याप्त सञ्जीवनी रहती थी। किन्तु छः मास

बीतते न बीतते पत्रों का सिलसिला बहुत ही बेतरतीब हो गया, कभी कोई पत्र दो मास में आ जाता था, कभी तीन में। अपने अन्तिम मिलन के कुछेक क्षणों की ज्वालामयी सुखद स्मृति को ही जन्म-जन्मान्तर की पूंजी समझ मैं निश्चिन्त बैठी थी। हायरे नारी का झूठा विश्वास, व्यर्थ की मायामयी छलना।

किस प्रकार मैंने दो वर्ष की अवधि काटी सो तो याद नहीं पड़ता, किन्तु उसकी स्मृति भी कुछ सुखद नहीं है। सुधीर के लौटने के ठीक दो दिन पूर्व एक ऐसी घटना घटी जिसकी मुझे स्वप्न में भी आशा न थी।

यद्यपि घर में किसी को भी सुधीर के साथ मेरे सम्बन्ध का पता नहीं था। यहाँ तक कि मां को भी नहीं, किन्तु हर समय मेरा इच्छा यही होती थी कि माँ जान जातीं तो ही अच्छा होता, पर वैसा अवसर कोई आया ही नहीं। सोचती थी कि सुधीर के आने पर ही कोई उपाय सोचेंगे।

बैठक में घुसते ही मैंने देखा कि पिता की आंखें आज आवश्यकता से अधिक लाल थीं। उस दिन की झड़प के पश्चात् मैं पिता की छाया से भी बचती थी। आज उनकी गुड़हल के फूल जैसी लाल आंखें देखकर तथा कमरे में उड़ती हुई दुर्गन्ध का ध्यान करके मेरा हृदय घृणा से भर उठा। छीः, यही शराबी मेरा पिता है। इसी के लिये शास्त्र मुझे "पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमो तपः" कहकर उपदेश दे रहे हैं। छीः, मैंने मन ही मन कहा।

मुझे देखते ही एक बार दान्त किटकिटा कर पिता कुछ शान्त से होकर बोले—"यह तुम कालिज के बाद कहां इतनी देर तक रहती हो? और करती क्या हो?"

एक बार इच्छा हुई कि कह दूं, जब किसी दिन भी आपने मेरे दुःख-सुख की चिन्ता की ही नहीं तो आज यह नवीनता क्यों ? पर सम्भलकर बोली—"छात्र-संघ की मैं मन्त्राणी हूं, उसका कुछ काम-काज देखना ही होता है।"

"कौन सा काम-काज होता है, जरा सुनूं तो ?"

प्रश्न की ध्वनि मुझे बहुत ही आपत्तिजनक जान पड़ी। शीलता से मैंने कहा—"सो सब क्षण भर में नहीं कहा जा सकता और इस समय मुझे अवकाश भी नहीं है, फिर कभी सुना दूंगी।" कहकर ज्यों ही मैं मुड़ी कि पिता पशुओं की तरह दान्त किटकिटा कर बोले—"साहबी की लड़की व्यभिचारिणी होगी कौन जानता था।"

मैं ठिठक कर खड़ी हो गई। व्यभिचारिणी शब्द ने मेरे कानों में गरम शीशे की भांति कोई तीव्र पदार्थ डाल दिया।

कुछ देर भौंचक्की रहकर मैं बोल उठी द्वार की चौखट पकड़े-पकड़े ही—"आपने मुझे जन्म अवश्य दिया है, किन्तु मेरा अपमान करने का आपको तनिक भी अधिकार नहीं है।"

"हां, कालिज में पढ़ कर यही सीखी है ना ? खोद कर गाड़ न दूं तो कहना।" सचमुच ही वह बड़े जोर से झोंक में उठे, पर खड़े न रह सके, तुरन्त ही कुर्सी पर गिर पड़े।

"छी" कहकर ज्यों ही मैं निकलने लगी उन्होंने बड़ी जोर से एक बण्डल खींच कर मेरी ओर मारा, एक पत्र खुले लिफाफे में भी था।

मैं आश्चर्य से चकित रह गई। पत्र सुधीर के थे जो कि समय-समय पर मैंने उससे पाये थे। शायद आज का पत्र किसी

प्रकार पिता के हाथ पड़ गया था और उसी को देखकर उन्होंने शेष पत्र भी मेरे कमरे में खोज करने पर पाये थे।

मैं स्वयं उन्हें सब कुछ बताना तो चाहती थी, किन्तु घटना इस प्रकार घटेगी इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था। मेरा सिर चकरा गया। द्वार की चौखट पकड़े कई मिनट मैं खड़ी रही और उसके बाद न जाने कैसे वहां से अपने कमरे में आ पड़ी।

सन्ध्या को भोजन शायद किसी ने भी नहीं किया। किन्तु दूसरे दिन प्रातः आँख खोलते ही मां दीख पड़ी। मैं बहुत ही अव्यवस्थित थी, उन्हें देखते ही बोल पड़ी—"माँ मैंने क्या पाप किया है?" मां शायद मेरा प्रश्न समझी नहीं, साधारण नारी की भांति बोलीं—

"यह कुछ ठीक नहीं किया, बिज्जी।" फिर तुरन्त ही पलङ्ग पर बैठकर मेरे बालों पर प्रेमपूर्वक हाथ फेरने लगीं। मैं अत्यधिक ग्लानि से मां की गोद में मुंह छिपा कर रोने लगी। मां ने छाती से लगा कर कहा—

"बेटा! भूल चूक सब से होती है, तू इतनी निराश न हो।"

रुदन का प्रथम आवेग कम होने पर मैंने हिचकते-हिचकते कहा—"माँ, स्वामी के पत्र पाने पर भी क्या नारी को दोष होता है?"

माँ का मुख एकदम आश्चर्य से भर उठा। कुछ क्षण चुप रह कर बोली—"तू कहती क्या है बिज्जी? तेरा स्वामी कौन है भला? तेरा विवाह हुआ ही कब?"

धार्मिक प्रवृत्ति मुझ में कभी भी प्रबल न थी, किन्तु न जाने क्यों मैं बोल उठी—"माँ, उसी प्रकार जिस प्रकार सती का पिता की इच्छा के विरुद्ध भी शिव से विवाह हुआ था। उसी तरह जिस तरह सुभद्रा का अर्जुन से विवाह हुआ था। मेरा भी विवाह हो चुका है।

"वह देवी-देवताओं की बातें हैं, वैसा करके समाज में क्या मुंह दिखाया जा सकता है, बेटा।"

"किन्तु मैंने तो वही कर लिया है। इसमें न मुझे लज्जा है और न पश्चाताप। दुःख है तो केवल पिता के हृदयहीन व्यवहार पर।"

"बेटा, कुछ भी हो तू अपने पिता पर अपना स्वभाविक क्रोध छोड़ दे। न जाने क्यों उन्हें यह भ्रम हुआ है कि तेरा जन्म ही उनकी प्रिय पत्नी की मृत्यु का कारण है। माना कि तुझे वह फूटी आंख भी देख नहीं सकते किन्तु केवल इसीलिए ना कि तू उसकी पुत्री है जो किसी दिन उनका सर्वस्व थी। इतना गम्भीर प्रेम भी कितने लोग कर पाते हैं बिज्जो। मैंने उनकी सच्चे मन से सेवा की, हृदय भर कर प्यार किया किन्तु क्या कभी एक दिन के लिए भी मैं उनका मन पा सकी हूं। वह तो अपने इस लोक का सुख, शान्ति, सजगता और चेतनता उसी दिन पूर्ण रूप से खो चुके हैं जब कि तुम्हारी मां इस संसार को छोड़ गई थीं। उन्हें भूल जाने के लिए विवाह किया, दफ्तर जाते हैं, काम करते हैं, किन्तु क्या उन्हें चेत रहता है? अफसर की कड़वी बातें जो कि उन जैसे स्वाभिमानी पुरुष के लिए मृत्यु से भी बढ़ कर थीं, वह हँस कर पी जाते हैं, केवल मात्र

इसी आशा पर कि बाहर आने पर शराब पीकर उसे भुला सकेंगे। बेटी, वह क्रोध के नहीं दया के पात्र हैं। उनकी टूटी फूटी बातों से जान पड़ता है कि उन्हें कभी और कहीं सुख मिला ही नहीं, यावज्जीवन परिचय हुआ केवल दुःख से। एक तुम्हारी मां थी जिनके प्रेम के नशे में वह समस्त दुःख हंस कर झेल जाते थे। जब वह भी आश्रय न रहा तो वह निश्चय ही पागल हो उठे। पुरुष थे ना इसी से। नारी बड़े से बड़ा दुःख भी होठों पर मुस्कराहट लेकर सह जाती है, वह नारी है ना इसी लिए तो। किन्तु दुःख, मानसिक क्लेश क्या पुरुषों के लिए बनाये गये हैं? नहीं, पुरुष उन्हें आनन्द से झेल नहीं पाते हैं।"

"तब क्या पिता शराब पीते हैं मां?"

"तुझे याद है, तू छोटी-सी ही तो थी जब मैं विवाह के पश्चात् इस घर में आई थी तो मेरे तन पर कितना गहना था। तेरी मां के आभूषण भी कुछ कम न थे। अब तेरी मां के आभूषणों के अतिरिक्त घर में सोने का तार भी नहीं है। केवल इसी आशा में आज तक उन्हें सब-कुछ देती रही हूँ कि यह दुःखी हैं, बहुत ही अधिक दुःखी। इन्हें और क्लेश पहुँचाना मेरे लिये सम्भव ही नहीं है।"

घर की परिस्थिति की कल्पना करके मैं काँप उठी।

"यह तो शत्रुता है मां।"

"शत्रुता और मित्रता नहीं जानती, किन्तु यह अवश्य कहूंगी कि तू सन्तान होकर पिता पर क्रोध न करना, घृणा भी

नहीं, अवहेलना भी नहीं। संसार के कितने व्यक्ति उनकी तरह प्रेम भी कर पाते हैं ?"

"तुम्हें ईर्षा, दुःख कुछ भी नहीं होता क्या मां ?"

"मनुष्य के चोले में होने पर ही सब-कुछ होता है बेटी। किन्तु ईर्षा करूं किससे और क्रोध करूं किस पर ?" माँ ने बात कुछ ऐसे करुण-स्वर से कही कि मैं आगे कुछ पूंछ ही न सकी।

जी चाहा कि बड़े क्रोध से कहूं "तब फिर उन्होंने विवाह करके तुम्हारा जीवन क्यों नष्ट कर डाला।" पर जानती थी कि मां का उत्तर पिता को दोषी कभी भी नहीं ठहरायेगा। अतः चुप ही रही।

मेरी दुःखिनी मां, ओह बिचारी कितनी दुःखी है। मैं एक बार मन ही मन चीख-सी उठी, किन्तु कितनी भली है, कितनी सीधी है यह।

"यह सुधीर कौन है बेटा ?" मां ने सीधा प्रश्न किया।

"मां केशवराम बैरिस्टर के लड़के हैं। आप भी यूरोप बैरिस्टर बनने गये हैं, दो-चार ही दिन में आ जायेंगे।"

मां कुछ देर चुप रहकर बोलीं—"वह तो बहुत बड़े आदमी हैं बेटा।"

"हां तो।"

"वह मान जायेंगे, ऐसी आशा तो नहीं होती।"

मैं चुप ही रही। मां की आशा न होने वाली बात पर मन ही मन हंस पड़ी।

"अच्छा, भगवान तेरा मंगल करेंगे। जब तू उमा को ही साक्षी बनाकर प्रवृत्त हुई है तो जगदम्बा अवश्य तेरा कल्याण करेंगी।"

माँ के मुक्त-आशीर्वाद से मेरा विषाद एक बारगी बह गया। मैं उठकर कालिज की तैय्यारी करने लगी। बार-बार माँ के मुख पर कुछ कहने की उत्कट इच्छा देखकर भी वह मुझे कालिज जाते समय कुछ कह न पाई, यह तो मैंने भली प्रकार देखा। पिता के तो फिर मुझे दर्शन भी नहीं हुए। पिता के लिये प्रेम तो मेरे हृदय में आज भी न था, किन्तु दया कुछ अवश्य उत्पन्न हो उठी थी। मेरा कालिज जाना माँ की इच्छा से भी बन्द न हुआ। तीसरे दिन सुधीर आ गया।

हम बड़ी प्रसन्नता से मिले। सुधीर में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ था। एक क्षण भर में मैं दो वर्ष के लम्बे विरह भरे दिन एकबारगी भूल गई। सुधीर उस दिन कुछ मिनिटों से अधिक न ठहरा। उसे शायद कोई अत्यन्त आवश्यक काम था, मैं भी उसके काम में विघ्न तो नहीं डालना चाहती थी ना।

मैंने इसी बीच में घर का काण्ड सुनाकर उसे समाज के सम्मुख मुक्त रूप से शीघ्र ही स्वीकार करने की बात भी सुना दी। सुधीर कुछ विशेष उत्साहित तो नहीं दीख पड़ा, किन्तु उसने बड़ी प्रसन्नता से शीघ्र ही वैसा करने का वचन दिया। बिदा होते समय मुझे एक और किन्तु अन्तिम चुम्बन मिला। इस बार उसमें जलन न थी वरन् थी शीतलता, शान्ति और गम्भीरता।

यही मेरे इस लोक के जीवन की अन्तिम एकमात्र पूंजी है जिसको लेकर आज भी मैं जीवन-नौका खेती ही जा रही हूं।

कितनी ओछी है पूंजी मेरी और वह भी झलकती हुई भरी नहीं।

उसके पश्चात् मुझे सुधीर के दर्शन तो न हुए, किन्तु कुछ ही दिन बाद उनके घर से तिरस्कृत होकर यह समाचार लाई कि सुधीर की सगाई एक बहुत बड़े आदमी की चन्द्रिका नाम की लड़की के साथ तय हो गई है। लड़की बहुत सुन्दर है और बी० ए० में पढ़ती है। पिता की तिजोरी में धन बहुत है। सन्तान के नाम यह लड़की-मात्र ही है।

मुझसे समाचार गुप्त ही रक्खा गया था, किन्तु मैंने सुन लिया। आज तो उसकी स्मृति में उतनी विषैली तीव्रता भी नहीं रही, किन्तु यदि सचमुच ही मैं कोई मनोविज्ञान की पण्डिता होती तो भी अपनी उस समय की दशा का विश्लेषण शायद न कर पाती ठीक तरह।

मेरे स्वप्नों की गति एकदम से किसी जादूगर की फूंक की तरह उड़ गई थी। हायरे, मेरा वर्षों का निर्मित स्वप्न-संसार! मुझे जान पड़ा कि सब-कुछ शून्य है, सब-कुछ मिथ्या है। न जाने कैसे मेरे मुख की हंसी एकदम उड़ गई। मैंने निश्चय किया कि इस अपमान का बदला अवश्य लूंगी। अनेकों विचार-धाराएं मस्तिष्क में आईं और चली गईं। कुछ भी करने की यथार्थ क्षमता अपने अन्दर न पाकर एक दिन मैंने आत्म-हत्या करने का भी निश्चय कर लिया। रात्रि के सुनसान अन्धकार में घर की ऊंची छत पर चढ़कर भी उससे नीचे मैं कूद न सकी। साहस की तो शायद मुझमें कमी न थी, किन्तु जान पड़ता था सुधीर को संसार में चन्दर के लिये आनन्द भोगने के लिये छोड़ जाना मेरा बड़ा भारी अन्याय होगा।

सचमुच ही मेरी इच्छा होती थी कि सुधीर के हृदय को अपनी छुरी से विदीर्ण करके उसमें से बहता हुआ लाल-लाल रक्त अपने बूट की ठोकर से चारों ओर धरती पर छितरा दूं। किन्तु अपनी विवशता पर स्वयं ही लाचार होकर दान्त पीसकर रह जाती थी। जी चाहता था भयंकर प्रलय बनकर सुधीर के मन-प्राण ग्रस लूं। किन्तु कहां? सुधीर को मैं अब पाती ही कहां? सुधीर, बैरिस्टर सुधीर के तो अब दर्शन ही दुर्लभ थे। सबसे पहले इच्छा हुई थी कि सुधीर से एक दिन मिलूं, फिर उसका और अपना दोनों का ही सिर पत्थरों से फोड़-फोड़ कर मर जाऊं। फिर जी चाहा कि नौका विहार के लिये निमन्त्रित करके सुधीर सहित बरबस ही इस जन्म भर के लिये नदी के काले वक्षस्थल पर ही जल समाधि कर लूं। फिर सोचा कि तीक्ष्ण कृपाण से उसका हृदय विदीर्ण कर डालूं, किन्तु कोई भी उपाय जचा नहीं। घर पर जी नहीं लगता था, कालिज मैं जाती नहीं थी। घर से साईकिल पकड़कर कहीं किसी एकान्त कोने में प्रायः सारा दिन बिताकर घर लौट आती थी। मां बिचारी घबड़ाती तो थी, किन्तु मेरे मुख की ओर देखकर कुछ कह भी नहीं पाती थी। मैं तो इधर एकदम से बदल गई थी।

उस दिन मैं छत पर लेटी थी। करवटें बदल रही थी, नींद आँखों में थी ही कहाँ। पिता गर्मी में भी नीचे ही सोते थे, शायद वारुणी की एकान्त साधना के लिये। मेरा घर मेरे लिये तो नर्क तुल्य था। माँ भी शायद नीचे ही सोती हों। छोटा नौकर अभी तक मेरे लिये पानी लेकर नहीं आया था। सीढ़ियों पर पदध्वनि सुनकर मैंने समझा वही आ रहा होगा। किन्तु कुछ ही मिनिटों में मां सामने आ खड़ी हुई। पानी

सिरहाने रखकर धीरे से मेरे पास ही पलंग पर बैठ गई। मैंने मां को इतने समीप से आज चार-पांच दिन बाद देखा था। उनका समस्त मुख-मण्डल एकदम से सूख कर कांटा-सा हो रहा था। कहीं भी प्रकाश की एक भी रेखा दीख नहीं पड़ती थी। फिर भी वह शान्त थीं। किन्तु उनकी शान्तमुख छवि देखकर भी रो उठने को जी चाहता था। कितनी दीनता थी उस शान्ति में, कितनी करुणमयी छवि थी उस गम्भीरता में। मेरी इच्छा हुई कि सचमुच ज़ोर-ज़ोर से रो उठूं, पर रो न सकी। एक शब्द भी मेरे मुख से न निकला।

मां ने मेरे शरीर पर हाथ फेरते हुए, शायद शक्ति का सञ्चय करने का यत्न करते हुए कहा—"बेटा, आशा और निराशा दोनों एक ही जग में तो बसते हैं, किन्तु जग तो उसमें बसता नहीं।"

दार्शनिक गहराई समझ सकने योग्य मेरी प्रवृत्ति उस समय न थी। मैं चुप ही रही। मां ने फिर कहा—"जानती हो संसार कर्मक्षेत्र है, यहां इच्छा और अनिच्छा दोनों को ही पल्ले में बांधकर कर्म करना पड़ता है। ऐसा न करने पर क्या हम मनुष्य गिने जा सकते हैं?"

जान पड़ता था कोई गम्भीर संसार त्यागी, सन्यासी गीता का उपदेश कर रहा है। शब्द साधारण थे, किन्तु मानो अनुभव की अनुभूति से जग से उठे थे। इन्हीं सजीव शब्दों को मन ही मन मैं उलट-पुलट कर देखने लगी।

"किन्तु वैसा क्या किया जा सकता है मां?"

"करना पड़ेगा बेटा।"

"और न कर पाऊं तो ?"

"और उपाय ही क्या है ?"

"क्यों, उपाय है प्रतिशोध, प्रतिहिंसा। जिसने मेरे साथ विश्वास-घात किया है वह भी जग में कभी आनन्द की नींद न सो सकेगा।"

मां का सम्पूर्ण रूप से एक बार कम्पन मुझसे छिपा नहीं रह गया। वह कांप उठीं।

कुछ देर चुप रहकर बोलीं—"किन्तु उससे क्या तुम्हें शान्ति मिल सकेगी ?"

"अवश्य मिलेगी माँ, अपराधी को दण्ड दे चुकने के बाद एक स्निग्धता सी, शान्ति सी जो मन पर छा जाती है वह अवश्य ही आनन्द दायक होगी।"

"बच्ची वह होती है क्षणिक मादकता, स्थायी शान्ति नहीं।" उनका स्वर कांप रहा था।

"और यदि शान्ति न मिले तो हानि ही क्या है ? यूं ही कौनसी शान्ति मिल रही है। लाचारी से मन मारे मन ही मन में घुटते रहने से दण्ड देकर अशान्त रहना कहीं श्रेयष्कर है ?"

इस बार मां मानो सन्न सी हो गई। मेरी इच्छा भी बोलने की नहीं थी। कुछ देर अंधेरी रात में मृत्यु की सी नीरवता लिये हम दोनों स्थिर रहे। मैं लेटी थी और मां बैठी।

फिर माँ ही बोली—"क्षमा दण्ड से बड़ी है बिज्जी। दण्ड देता है मानव, किन्तु क्षमा प्राप्त होती है देवता से। दण्ड

में उल्लास है पर शान्ति नहीं, और क्षमा में शान्ति भी है और आनन्द भी।"

"यह तो केवल कायरों की सी बातें हैं मां।"

मां फिर कुछ न बोलीं, थोड़ी देर बैठी रह कर उठ खड़ी हुई एकाएक झटके से।

"दूध भेजती हूं, पीकर सो जा। अधिक सोचने से लाभ ही क्या है? कालिज तो जाती है न प्रतिदिन।"

मेरा 'हां" सुनकर माँ तुरन्त ही चली गई। मैं चुपचाप उनकी सीढ़ियों से उतरती हुई पद-ध्वनि सुनती रही। जान पड़ता था ध्वनि बहुत ही क्षीण, बहुत ही थकी हुई, बहुत ही व्यथित सी है।

"अग्नि ज्वालायें"

मन और प्राण समस्त जले जा रहे थे किन्तु उपाय कुछ भी न था। मैं मन ही मन जलती जा रही थी। बङ्किम बाबू की देवी चौधरानी की भाँति कई बार स्वप्न देखा डाकुओं की रानी बन कर सुधीर को दण्ड देने का। किन्तु मां के करुण मुख की ओर देखकर तथा पिता की व्यथा का ध्यान करके घर को छोड़ने का साहस नहीं हुआ। साहस करने पर भी शीघ्र ही कुछ मोहरें भरे हुए घड़े मिलने की सम्भावन भी न थी और डाकू सरदार की भी शीघ्र ही कृपा दृष्टि पाने का सम्भावना नहीं थी। मन मसोस कर रह गई। किन्तु जी कहीं भी नहीं लगता था। पहले-पहल चन्द्रिका से ईर्षा हुई थी, फिर घृणा, किन्तु कुछ ही दिन के बाद घृणा दया में परिवर्तित हो गई।

कई बार इच्छा हुई कि चन्दर को सब कुछ बता दूं किन्तु स्वाभिमान ने वैसा न करने दिया, कहीं चन्दर इसे दया की भिक्षा ही न समझ बैठे। यदि ऐसा समझ गई तो मेरे अभिमानी मन को कहीं डूब मरने की जगह भी नहीं मिलेगी। इच्छा करके भी मैं उससे कह नहीं पाई, किन्तु उस पर मुझे दया अवश्य आती थी। कभी-कभी संकेत रूप से कहने का मैंने यत्न भी किया किन्तु पूर्व अपरिचित पति नाम के जन्तु पर चन्दर की कुछ ऐसी दृढ़ भक्ति थी कि उनकी आँखों की ज्योति देखकर सुधीर के प्रति अपनी सहज घृणा भी मैं व्यक्त नहीं कर पाती थी। जितनी ही अधिक श्रद्धा और विश्वास मैं चन्दर के मन में देख पाती थी उतनी अधिक घृणा मेरे हृदय में सुधीर के प्रति बढ़ती जाती थी, न जाने क्यों ?

चन्दर ने मेरी किसी भी बात पर विश्वास नहीं किया। उसका निजी विश्वास अटल था। उसकी श्रद्धा अचल थी। मुझे सचमुच ही इस विश्वास और श्रद्धा में बेबसी की, लाचारी की गन्ध आती थी। किन्तु फिर भी मैं चन्दर को उसकी समस्त कायरता, समस्त लाचारी, समस्त दासत्वपूर्ण प्रवृत्ति के बाद भी प्रेम की दृष्टि से देखती थी। और फिर जिसे सदा ही मुक्त भाव से प्रेम किया था उसे आज भी प्रेम करती रही। किन्तु सुधीर के प्रति मेरी घृणा का अन्त न था। उससे अधिक एक दिन मेरा प्रेम-पात्र कोई भी न था और आज उससे अधिक मेरी घृणा का पात्र भी और कोई नहीं था। फिर भी दिन बीतते ही जाते थे एक से शान्त, उदास, करुण।

उसी घनी उदासी और निर्मम करुणता के बीच एक दिन मैंने सुना कि चन्दर कालिज छोड़ रही है। चन्दर स्वयं

उदास मुख लेकर मुझे यह समाचार सुना गई। जिस दिन से चन्दर की सगाई की बात सुनी थी किसी दिन भी मैं चन्दर से खुल कर न बोली थी। एक आध बार चन्दर ने टोका भी था किन्तु मैं सदा ही टाल गई थी—हंसकर, बहाना बना कर।

जाने के दिन तो चन्दर मुझे पकड़कर ही बैठ गई। कमल कई दिनों से उसका पीछा छोड़ती ही न था। बड़ी कठिनाई से कमल से छूट कर चन्दर मुझे घसीट कर वहीं एकान्त वृक्ष के नीचे ले आई। मैं बहुत ही विचित्र अवस्था में थी। बहुत दिन हो गये थे किन्तु घाव अब तक भी पूर्ण रूप से भरा न था। ठेस लगते ही पस निकल पड़ती थी। आज भी मुझे डर था कि जरा सी ठेस लगते ही कहीं फूट न पड़ूं। फिर भी बहुत कुछ अपने को रोके थामे थी।

चन्दर ने कहा—"बिज्जी, मुझसे अप्रसन्न है क्या कुछ ?"

"यह बात नहीं, चन्दर मेरा मन वैसे ही आजकल कुछ अप्रसन्न है।"

"क्या बात है बिज्जी ! मुझे नहीं बताओगी क्या ?"

एक बार इच्छा हुई कि इसे बता ही दूं, किन्तु शब्द गले में ही अटक गये। बाहर तक आये ही नहीं। कुछ ठहर कर मैंने कहा—"ऐसी तो कोई बात नहीं है चन्दर। बताऊं क्या ? संसार है ना यह। इसमें ऐसी बातें तो चलती ही रहती हैं।"

चन्दर प्रखर बुद्धिशालिनी थी। समझ गई कि मैं कहना नहीं चाहती हूं। दूसरों की भेद-भरी बातें जानने की उसे वैसी अभिलाषा भी नहीं रहा करती थी। हंसकर बोली—"बहिन,

नये जीवन में प्रवेश करना होगा। डर लगता है, सफल होऊंगी कि नहीं, किन्तु तो भी यदि अभी से ही साथ छोड़ दोगी तो कैसे काम चलेगा।"

मुंह तक आया कह दूं- "तुम मर जाओ, सुधीर तड़फे। दुःख और पीड़ा की जलन को शान्त करने के लिये तुम्हें विश्व भर में कहीं शीतलता की बूंद भी न मिले, तब ही मुझे शान्ति हो।" पर वह न कह सकी। सीधे से भली लड़की की तरह कह उठी—"नहीं बहिन, साथ क्यों छोड़ूंगी। हमारा तुम्हारा साथ सदा बना रहे, यही तो चाहती हूं।"

चन्दर बड़ा ही भावुक प्रकृति की लड़की थी। कभी-कभी तो उसका भावुकता पर मैं हसा करती थी। मुझसे एकदम लिपट कर बोली—"बिज्जी री, हाय अब कब मिलेंगे?"

मन ही मन मैंने कहा—'नरक में ही जाकर मिलें तो भला हो।" पर ऊपर से बोली, "तेरी ससुराल तो यहीं है, मिलती रहना, मुझसे मिलना कौन कठिन है?"

"हां सो तो....." वह कुछ कह ही रही थी कि चपरासी चिट लिये हुए आता दिखाई दिया।

चन्द्रिका से मिलने कोई आया था। चन्द्रिका चली गई उससे मिलने और मैं रो उठा फूट-फूट कर। कितना छल किया था मैंने भोली चन्दर के साथ और अपने अभागे मन के साथ।

चन्दर को लौटकर आना था। यह जले आंसू लेकर उसके सामने दीनता भी नहीं दिखाना चाहती थी। फिर भी मरे आंसू थमते ही नहीं थे। बलपूर्वक जल्दी-जल्दी आंसू पोंछे। यहां तक कि आँखें सूखी करते-करते जल उठीं। फिर

भी सूखी हो ही नहीं रहीं थीं। जलने भले ही लगीं थीं। भरे आंसू लिये मैं और ठहर न सकी, चन्दर से बिना मिले ही चली गई।

चन्दर का विनय भरा, दीनता भरा, प्रेम भरा, रिस भरा पत्र मुझे चौथे दिन ही मिल गया। किन्तु मैंने उसे एक दृष्टि से देखकर ही फाड़कर सड़क पर फेंक दिया निर्ममता सहित। उसका उत्तर मेरे पास था ही क्या ?

फिर एक दिन सुना चन्दर का विवाह सुधीर से हो गया। सच ही उस दिन मैं रात भर सो न सकी। हवन-कुण्ड की अग्नि मेरी कल्पना के नेत्रों में किसी प्रिय-जन की चिता के समान धू-धू करके कठोरता से जल रही थी। यत्न करके भी उस चिता की सी ज्वाला से मैं अपने मन, शरीर और आंखों को जलने से बचा न सकी। सारी रात्रि असह्य ज्वाला में तड़फते हुए बीती। प्रभात-वेला में मैं कह उठी—"सब समाप्त, सब समाप्त। मेरी इस लोक की आनन्द-दायिनी सरिता तुम सूख गई, जल गई। मेरा चिर-प्रिय खेल आज समाप्त हो गया।" रोने की इच्छा की, किन्तु आँखों के आंसू कभी के चुक गये थे। अतः अपने ही आप कब आंखें झप गई, जान न पाई।

चन्दर ने उसके पश्चात् दो पत्र और लिखे, किन्तु वह दोनों ही मैंने बिना खोले ही फाड़कर फेंक दिये, ठीक पहले की तरह ही साईकिल पर जाते हुए सड़क पर। कितने ही दिन तक वर-वधू के सम्मुख जलती हुई यज्ञाग्नि में मैं अपनी चिता की ज्वालाएं देखकर जलती रही। अब तो मां से बात करते भी मैं चिढ़ उठती थी। किसी का भी साथ मेरे लिये दण्ड था, किन्तु

एकान्त में रहना भी कुछ कम कष्टकर न था। वहां सुधीर की भूत-स्मृतियां सर्प-दंशन की सी निरन्तर पीड़ा पहुंचाती रहती थी। दिन बीतते गये। परीक्षा भी हुई और मैं अनुत्तीर्ण भी हो गई। कमल ने घर आकर समवेदना प्रकट की। बड़े आश्चर्य से भावहीन कमल कह रही थी—"बिज्जी, आश्चर्य है कि तुम जैसी बुद्धिमती भी फेल हो गई। तू तो आज तक कभी किसी टेस्ट में भी फेल नहीं हुई थी। मैं तो अब भी आश्चर्य से मरी जा रही हूं।"

मैंने हंस कर कहा— "इसमें आश्चर्य है ही कहां, कमल ?" किन्तु कमल को न समझना ही था और न समझी ही।

बहुत देर तक घुमा फिरा कर मेरे अनुत्तीर्ण होने का दुःख ही प्रकट करती रही, किन्तु वह दुःख का प्रकाशन और वह सहानुभूति मेरे मन को छू पाई ही नहीं। वह सब बड़ी सफलता से मेरे मन पर से फिसलती ही रही, फिसलती ही रही और फिसल गई। कई बार चिढ़ कर इच्छा हुई कि उससे कठोरतापूर्वक जाने को कह दूं, किन्तु कह न पाई।

दूसरे ही दिन चन्दर का एक और पत्र मिला। उसमें क्या होगा सो मैं भली प्रकार जानती थी। चन्दर का ड्राइवर कार लेकर आया था। शायद उसने बुलाया हो।

मैंने बन्द लिफाफे सहित ही पत्र चूल्हे की भभकती अग्नि में फेंक दिया और फिर स्थिर दृष्टि से अपने छोटे नौकर की ओर देख कर कह दिया—"ड्राइवर से कह दो वह चला जाये।"

माँ ने धीरे से स्वर में कहा—"किस का पत्र था।"

उत्तर देने की शक्ति भी मुझ में नहीं रह गई थी। मैं चुपके से उठ कर अपने कमरे में चली आई। हृदय की जलन बुझाने के लिये ढेर से आँखों में पानी की आवश्यकता थी जो केवल एकान्त में ही मिल सकता था।

दूसरे दिन तो कोई नहीं आया, किन्तु तीसरे दिन चन्दर आई। मेरी इच्छा चन्दर से मिलने की तो नहीं थी, किन्तु कोई उपाय भी न था। चन्दर बोलती रही और मैं सुनती। बहुत देर बाद चन्दर अपने स्वामी की बातें आरम्भ करने लगी। विषय नितान्त अरुचिकर था, किन्तु चन्दर के लिए तो अरुचिकर न था। एक बार आरम्भ होकर शीघ्र समाप्त होने की भी कोई सम्भावना न थी। अतः मैं तुरन्त ही घड़ी की ओर देख कर उठ खड़ी हुई।

"मुझे एक सभा में जाना है, चन्दर। माफ करना।" मेरा स्वर बड़ा ही रूखा था। चन्दर शायद चौंक सी उठी, पर शान्तिपूर्वक उठ खड़ी हुई।

"चल, मेरे साथ ही चल। जहां कहेगी उतार दूंगी।"

बात मेरे लिये वज्राघात से कम नहीं थी। चन्दर ने अनजाने ही मेरे मर्मस्थल पर आघात पहुंचाया था। चन्दर की कार में मैं बैठूंगी, छीः, इससे बढ़ कर और अनर्थ क्या होगा? जो एक दिन मेरा था सम्पूर्ण रूप से, जिसकी प्रत्येक वस्तु पर मेरा अधिकार था, उसी वस्तु को आज दूसरे की कह कर क्षण भर के लिए उसका उपभोग करते मैं वेदना से मर

नहीं जाऊंगी ? मैं झुंझला कर बोली—"ना, ना, मुझे उसमें सुविधा न होगी।"

चन्दर मेरा स्वर सुन कर और कुछ न कह सकी।

"अच्छा, फिर चलती हूं।" कह कर तुरन्त ही चल दी।

अपनी बेबसी पर मैं चारपाई पकड़ कर रोने लगी, रोती रही, बहुत रोई।

जीवन का यह अध्याय इतना दुःखपूर्ण, इतना उभरा हुआ और इतना करुण है कि आज भी इसकी स्मृतिमात्र से मेरा हृदय फटने लगता है। मैं कह ही नहीं पाती उन दिनों के अनुभव।

मस्तिष्क में उन अनुभवों की स्मृति सुरक्षित है भी तो नहीं। अतः इस अपूर्ण करुण भाग की कहानी को संक्षेप में ही कहे देती हूं। मेरे आंसुओं का प्रवाह बढ़ा और इतना बढ़ा कि मैं स्वयं भी उसमें डूब मरी। जीवित रहने की अब इच्छा भी नहीं थी।

सचमुच ही एक दिन मुझे जान पड़ा कि मैं अपने इस जीवन से ऊब उठी हूं। इसमें न आदि था और न अन्त की सम्भावना—एक रस, एकमात्र दुःख केवल दुःख। कालिज मैंने फिर जाना आरम्भ कर दिया था। किन्तु प्रायः लेकचर की ओर मेरा ध्यान ही नहीं होता था। आँखों की गहराई में मन के चारों ओर एक ही भाव घूमता था और वह था शून्यता, जीवन की एक सी शून्यता और अब मैं इस शून्य से भी ऊब गई और जीवन से भी। मरे मन से उस दिन लेक्चर अटैन्ड कर रही थी—यकायक स्वप्न से जग सी उठी। इक्नौमिक्स की प्रोफेसर

कह रही थीं....."और विदेश के सम्मुख हमारा यह देश व्यापार में, उत्पत्ति में, यहाँ तक कि अर्थ-सम्बन्धी प्रत्येक विभाग में कितना पिछड़ा हुआ है, वह क्या शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। युद्ध से कुछ ही दिन पूर्व.....आर्थिक स्तर कितना नीचा है.....। न केवल अशिक्षितों की, वरन् शिक्षित-वर्ग की भी भयंकर रूप से मानव ही का नग्न-नृत्य कर उठती है...।" न जाने कैसे यह शब्द, टूटे-फूटे वाक्य मेरे मन में प्रवेश कर रहे थे।

एक छात्रा ने पूंछा—"किन्तु मिसिज बंसल इसका कारण क्या है? हमारे देश में शिक्षितों की संख्या अधिक न होते हुए भी बेकारी की समस्या शान्तिकाल में भी क्यों हल नहीं हो पाती?"

"इसका उत्तर सुनोगी? सुनने की क्षमता है? इसके अनेकों कारणों में से सर्वप्रथम और सर्वाधिक सत्य कारण है मानव की एक पिपासा। चौंक न पड़ना.....मानव की रक्त-पिपासा का वही अर्थ है जो तुम समझ रही हो। मानव के भीतर एक उत्कट हिंसक प्रवृत्ति छिपी है। इसी दानव-प्रवृत्ति को मानव अपने हृदय के भीतर ही छिपा रखने, सुरक्षित कर रखने को आतुर रहता है। केवल उसे आधुनिक युग में अभिलाषा होती है, उस भयंकर छिपी हुई प्रवृत्ति पर एक सुन्दर सा आकर्षक सा पर्दा डाल देने की। उस पर्दे को चाहो तो भले ही सुधार कर लो, इससे भी अधिक सुन्दर शब्द ढूंढना चाहो तो कह लो "दया भाव"। इन्हीं सब शब्द-जालों में छिपकर यह टट्टी की ओट में शिकार खेला करता है। इस खेल में जो एक बार दांव हार जाता है, उसे सदा सर्वदा हारना ही पड़ता है.....।

बीसवीं सदी में इस सभ्यता के युग में भी सृष्टि बंटी ही हुई है दो विभागों में—एक ओर वे लोग हैं जिनके शरीर पर विधाता ने कुछ कम रंग मल दिया था, वे विजयी हैं, वैभव उसके चरण चूमता है। दूसरी ओर वे हैं जिनकी सृष्टि करते समय विश्व-निर्माता उनके शरीर पर काला रंग मलने में कुछ अधिक उदारता कर गये, वे हैं विधिचक्र से पराजित, पराभव ही उन्हें वरता है। एक को विजयी बनाने के लिये, बने रहने के लिये दूसरे को पराजित बना रखना ही पड़ेगा। ऐसा न होने पर वह विजयी रहेगा कैसे? उसकी विजय के लिये किसी की पराजय होना आवश्यक है। विजयी अपनी दानवी रक्त-पिपासाको सुन्दर से ढक्कन में बन्द करके रख तो अवश्य लेता है, किन्तु उसकी दुर्गन्ध तो ढक्कन से दब जाती नहीं। किन्तु उस दुर्गन्ध का प्रथम तो पराजित पक्ष को भास ही नहीं होता और यदि हो भी तो नाक बन्द करते ही विजयी पक्ष बाज की तरह टूट पड़ता है कि तुमने नाक बन्द करके हमारा अपमान किया। या तो उसे सौरभ सुगन्ध मानकर पूर्णरूप से अपनी नासिका में जाने दो, अथवा हमसे लड़ने को कटिबद्ध हो जाओ।

हायरी, अभागी शारीरिक दुर्बलता, छल-कपट, शून्यता। बिचारे निरीह कोई अन्य उपाय न देखकर सिर झुकाकर कहते हैं "सत्य बचन महाराज।" ऐसा न कह सकने पर बदले में उन्हें अपना सिर जो देना पड़ता है। इह लोक की शान्ति और परलोक के आनन्द की आशा को छोड़ना पड़ता है.....।"

अचानक उत्तेजना से मिसिज बंसल की भवें तक कांप उठीं। वह भावुक नहीं थी। उन्होंने कभी साहित्य में रुचि

नहीं दिखाई थी। पिछले अनेक वर्षों से गम्भीर भाव से अर्थ-शास्त्र का ही अध्ययन करता रहीं थीं। भारतीय अर्थशास्त्र तो उनका विशेष विषय था। उनकी उत्तेजना मुझे कुछ नवीन सी प्रतीत हुई। उन्हें कभी किसी ने विचलित या उत्तेजित होते नहीं देखा था। उनकी शान्त मुद्रा ही उनका व्यक्तित्व था। आरम्भ से ही मैं अर्थशास्त्र की अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि तथा सफल छात्रा थी। अतः उनका मुझ पर स्वाभाविक प्रेम सा था। उनके स्वभाव का भी मुझे पर्याप्त ज्ञान था, किन्तु यह उत्तेजना मेरे लिये नवीन सी ही थी। न जाने कितनी देर तक वह बोलतीं रहीं। उत्तेजना सहित उनका एक-एक शब्द मैं सुरुचि पूर्वक पीती रही। अनेकों मास पश्चात् मैंने कोई लेक्चर इतने ध्यान पूर्वक सुना था। इसके पश्चात् वह अनेकों अर्थ-सम्बन्धी कारण भी बताती रही, किन्तु वह मेरे मन तक पहुँच नहीं पाये .....।

"मानव की दानव प्रवृत्ति है। रक्त-पिपासा.....विजयी विजित का रक्त पीता ही है और पीयेगा ही। पीने का उसे अधिकार है। जब तक कि विजित का समस्त रक्त सूखकर केवल अस्थि, चर्म, मांस ही न रह जाये....." यही मेरे मस्तिष्क में घूमता रहा। घण्टा बज गया। वह चली गईं। कक्षा भी प्रायः खाली हो गई, किन्तु मैं बैठी ही रही.....। बहुत देर पश्चात् मैं उठी— मिसिज बंसल को खोज में। मिसिज बंसल अध्यापिकाओं के कमरे में अकेली ही चुपचाप बैठी थीं। शायद अभी तक वह अपनी उत्तेजना शान्त नहीं कर पाई थीं।

"मैं अन्दर आ सकती हूं?" सुनकर मानो वह कुछ प्रसन्न सी हो उठीं—"आओ।"

"ओह बिज्जी, आज तो बहुत दिनों पश्चात मेरे पास आई। कुछ पूछना है क्या ?"

"पूछना तो है ही, किन्तु पाठ्य-सम्बन्धी नहीं।"

"तब क्या पूछती हो ? बैठ जाओ, अभी तो किसी अन्य अध्यापिका के आने की आशा नहीं है।" उस दिन शनिवार था और वह अन्तिम घण्टा ही था। मैं कुर्सी पर बैठ गई।

"आप कहती थीं कि मानव रक्त का पिपासु होता है, क्या यह सत्य है ?"

"मैं मनोविज्ञान की पण्डिता तो नहीं हूं। नहीं जानती वास्तव में मनोविज्ञान के किसी पण्डित ने इस सत्य को माना है अथवा नहीं, किन्तु प्रतिदिन जीवन में इसी सत्य की तीव्रता का प्रत्यक्ष अनुभव कर रही हूं। प्रतिपल, प्रतिक्षण।" यह कह कर वह कुछ ठहर-सी गई। शायद मन और वाणी को संयत करने के लिये। फिर कुछ थकी-सी आराम कुर्सी की पीठ पर सिर टेक कर धीरे-धीरे बोली—

"मैंने जीवन में बहुत कुछ देखा है, बिज्जी। भूख से तड़फते बच्चों की क्षुधा मेरे लिये आश्चर्य की वस्तु नहीं है। दरिद्रता के नीचे पिसकर कितने भारी दुःख से पति ने अपनी प्रिय पत्नी और एक मात्र सन्तान को विष देकर स्वयं फाँसी लगा ली थी, वह भी मेरे लिए नवीनता लिए हुए नहीं है। केवल मात्र आध सेर आटे पर भरे बाजार युवती का सौन्दर्य बिक गया, वह भी मैंने देखा। किन्तु कल रात्रि में जो दृश्य देखा है उसे यावज्जीवन नहीं भूल पाऊंगी। वह अनुभव है, वह सत्य है। जानती हो मैंने क्या देखा ? कल चौक से जा

रही थी, साधारणतया भीड़ प्रतिदिन जैसी ही थी। एक ताँगे में कई एक गोरे फौजी भरे हुए थे·····गोरे रङ्ग वाले····· सुन्दर वस्त्रों वाले स्वस्थ युवक। सब ही प्रसन्न जान पड़ते थे। ताँगे वाला भी शरीर से स्वस्थ था, युवा था, किन्तु कपड़े फटे से, गन्दे से थे। मुख पर दीनता मिश्रित वेदना थी। अगली सीट पर बैठे दो गोरे लगातार फुलबूट से तांगे वाले की भली प्रकार निरन्तर पीठ-पूजा कर रहे थे। निस्सन्देह अपमान की चोट घनी होती है, बहुत ही अधिक. किन्तु उस भारी बूट की शरीर पर पड़ने वाली चोट भी कुछ साधारण न होगी। शक्ति भर घोड़ा तेजी से ही तांगे को खींचे लिये जा रहा था, किन्तु फिर भी तांगे वाला बिना विरोध के शान्त भाव से खीसे निकाल कर बूट-प्रहार पीठ पर निर्विकार भाव से सह रहा था। तुम जानती हो हा मैं भावुक नहीं हूं, भावनाएं मुझे सरलता से बहा नहीं ले जातीं, किन्तु मैं घृणा से भर उठी। अपने आप ही कह उठी—"द्विसप्त कोटी मुर्जैधरकर वाले के बोले मां तुमि अबले बहुबल·····धारिणीम्॥" बहुबल धारी भारत मां की सन्तान क्या यही हैं जो बूट की ठोकर खाकर भी हंस उठते हैं। जिनके मुख पर अपमान की वेदना से भी लज्जा नहीं झलक उठती। जिनकी शारीरिक पीड़ा भी जिनके मुख की हंस विलीन नहीं कर पाती, जो लज्जाहीन मुस्कान से अपमान का घूंट पी जाते हैं। यही मेरी माँ के सुपुत्र है जो माँ को अबला कहने से लज्जा का अनुभव करते हैं, यही कह पाते हैं "बहुबल धारिणीम्। छीः"

मैं घबड़ा उठी, मेरे मुख पर विरक्ति का भाव झलक रहा।

"ना, ना अभी से ऊब न जाना बिज्जी, अभी तो इससे भी अधिक नग्न लज्जा की कथा रह गई है.....उसे भी सुनो, तुम्हें सुनना ही पड़ेगा। छात्रसंघ में खड़ी होकर मञ्च पर स्थान लेकर देशभक्ति के उपदेश देती हो ना? कालिज की अन्य लड़कियों के साथ क्रान्तिकारी साहित्य पढ़कर राजनीतिक जागरूकता उत्पन्न करती हो ना? यह करुण लज्जा की कथा भी सुन लो—अपने सुजलां, सुफलां देश के वासियों को भारत मां का सबला कहकर पुकारने वाली सन्तान की।" मैं चुप ही रही, कुछ ठहरकर वह फिर बोली—"दुर्भाग्य से लौटते समय मुझे एक तांगे की आवश्यकता पड़ी और उस्रा तांगे के अतिरिक्त और कोई भी तांगा स्टैन्ड पर नहीं था। देर भी अधिक हो गई थी। असह्य घृणा से मैं तांगे पर बैठ गई। रहा नहीं गया, मैंने पूंछा—"तुम्हें बूट की ठोकर खाते लज्जा नहीं आती।"

तांगेवाला कुछ देर चुप रहा, फिर धीमे स्वर में बोला—"किन्तु उतना अधिक पैसा तो और कहीं नहीं मिलता।"

मैं जल उठी—"पैसा मनुष्य का सम्मान भी हर लेता है क्या? और वह भी इस हद तक?

छीः, धिक्कार है ऐसे पैसे पर।"

मेरा किया हुआ अपमान शायद उसे असह्य लगा। काला चमड़ा था ना, पैसे भी उचित ही मिलने थे। कुछ कड़े स्वर में बोला—"आप चालीस रुपये की साड़ी पहन कर पैसे को तुच्छ दृष्टि से देख पाती हैं, किन्तु मेरी जवान लड़की जो वस्त्र-हीन होने के कारण घर के बाहर निकल नहीं पाती, पैसे का शायद वह मूल्य कहीं भली प्रकार समझ पायेगी और यदि न

भी समझ पाये तो आपको तो धिक्कारने का अधिकार शायद नहीं है।"

मैंने मन ही मन कहा- "शायद नहीं।" तांगेवाले की आंखें इस समय तक जल उठी थीं। भूखे व्याघ्र की सी तीव्र-दृष्टि से वह क्षितिज को ओर ताक रहा था। वह कहता ही गया—"ज़ख्म कलेजे में इतने अधिक हैं कि वह कलेजा भी एक ज़ख्ममात्र ही रह गया है। बहिन जी, आप सोचती हैं कैसा है यह आदमी। आदमी तो है, लेकिन पशु से अधिक नहीं। मानवता नाम की कोई भी वस्तु इसके पास रह नहीं गई है। जूते खाकर भी यह हंस पाता है और उन्हीं लातों के बल पर मिले पैसों को सहेज कर जेब में रख पाता है। आप ठीक ही सोचती हैं। मैं पशु ही हूं। नहीं, नहीं पशु कहां? पशु में तो आत्मा होती है, मैं तो पशु से भी गया बीता हूं, दानव हूं। मानव का प्रेतात्मा मात्र हूं, लेकिन मुझे ऐसा बनाया किसने? जानती हैं? कभी सोचा है? कालिज के दिनों में मानव-मनोविज्ञान की एक पुस्तक पढ़ी थी, उसमें पढ़ा था ज्ञान मानव की कुप्रवृत्तियों को ढक लेता है, छिपा लेता है, संकुचित कर डालता है। उस दिन पढ़कर समझा था आज मैंने किसी बड़े सत्य का आविष्कार कर डाला है, किन्तु आज जान पाया हूँ कि वह केवलमात्र मिथ्या है, सबसे बड़ी मिथ्या। ज्ञान कुछ भी नहीं कर पाता। केवल मनुष्य को, अपने आपको भली प्रकार धोखा देना सिखा देता है और वह भी खुलकर नहीं, चोरी चोरी ..... हो सकता है ज्ञान जिसे मैं कह रहा हूँ वह यथार्थ ज्ञान न हो। पर जो भी कुछ हो, वह मनुष्य का भयंकर शत्रु है। उसी

ने मुझे लाचार कर दिया अपना आत्मा को घोंट कर मार डालने के लिये और आज जब आत्मा मर चुकी है, तो आप कहती हैं कि आत्म-सम्मान नहीं रहा है ? जब आत्मा ही नहीं रही है तो सम्मान रहेगा कहां ? तांगेवाले के मुख से यह शब्द आपको भले ही अस्वाभाविक लगें, किन्तु जान रखिये मनुष्य कभी का मर गया है। आपके सम्मुख बात करने वाला एक शव, एक प्रेतमात्र है।"

घर अभी दूर था, तांगे की चाल भी धीमी हो गई थी। उसकी बातों ने मुझे मेरा अस्तित्व ही भुला दिया था। विज्जो ! मुझे जान पड़ा कि मैं मानव लोक से बहुत दूर कहीं भूत-प्रेतों के लोक में आ गई हूं। चारों ओर से घेरकर खड़ी हुई प्रेत-आत्माएं कह रही हैं तू हमारी ही है आज हममें भर जा। सुकुड़ती और फैलती हुई असंख्य ही आंखें छोटी-बड़ी मुझे दिखाई देने लगीं अपने चारों ओर। और उनके बीच में मेरा दम घुटने सा लगा, फिर भी तांगेवाले से बातें करने का मुझे नशा-सा चढ़ने लगा। जान पड़ा कि कोई दूसरा ही व्यक्ति मेरे भीतर से बोल रहा है। मैं स्वयं सुनने लगी। मैं कह रही थी—"तुम्हारी उलझी हुई पहेली कुछ समझ में नहीं आती भाई ! जान पड़ता है कि तुम बड़े ही दुःखी हो। कुछ स्पष्ट भी तो कहो। ऐसा लगता है कि सुशिक्षित भी हो। फिर तुम्हारी ऐसी दशा कैसे हो गई ?"

वह ठठाकर हंस पड़ा—"दुःख है ? दुःख तो मानव को ही छू पाते हैं। न तो उनकी पहुँच दानव तक ही है और न पत्थर तक ही। जो मानव ही नहीं रहा उसे दुःख का अनुभव होगा भी कैसे ? और कहूं ? सुनोगी ? मुझे स्वयं ही

आश्चर्य होता है अपने मानसिक परिवर्तन पर। आज बहिन तुम भी सुन लो, किन्तु आप...तुम मेरी बहिन कैसे? मैं तो प्रेत हूं ना? किसी जीते-जागते मानव का प्रेत।" वह खाँसा और कुछ देर तक खांसता ही रहा, फिर कहने लगा—"अधिक न कहूंगा। साधारण मनुष्यों जैसा ही मेरा प्रारम्भिक जीवन था। मैंने साधारण शहरी लड़कों की तरह बी० ए० तक शिक्षा पाई थी। उन दिनों थर्ड ईयर में पढ़ता था। परीक्षा समीप थी। मेरे पिता एक साधारण कालिज के एक सौ तीन रुपया पाने वाले लेकचरार ही थे। घर पर हम सब मिलकर चार व्यक्ति थे। पिता, मैं, माता और मेरी एक विधवा बुआ। सुना जाता है उनके पति को क्रान्तिकारी होने के अपराध में फांसी का दण्ड मिला था। मां ईर्षालु स्वभाव की न थीं, किन्तु कभी-कभी पिता के स्वभाव पर चिढ़ जाया करती थीं। हमारे घर में प्राय: दो-तीन विद्यार्थी रहते और भोजन करते थे। पिता दीनता पूर्वक कहते वह अनाथ हैं ना, उन्हें रखना ही पड़ेगा। मां कहतीं—सारी दुनिया का ठेका क्या तुम्हीं ने लिया है, अपना पेट तो पहले पाल लो। सुनने पर वह बड़े ही भोलेपन से कहते, तब फिर वह कहां जायें? मैं क्या जानूं-कहकर मां चुप तो होतीं बड़े झमाके से पर तुरन्त ही उन लड़कों के लिये स्थान और भोजन का प्रबन्ध हो जाता। इसके विपरीत बुआ बहुत ही शान्त स्वभाव की थीं। कभी एक शब्द भी मुख से नहीं निकालती थीं। केवल प्रभात वेला से रात्रि तक मशीन की तरह काम करती रहती थीं। एक दिन अमावस्या की घनी काली रात को एक लड़का एक छोटा-सा बक्सा हाथ में लिये हमारे द्वार पर आ खड़ा हुआ। आज भी वह दृश्य मेरे मानसिक नेत्रों के सम्मुख स्पष्ट है। आवाज सुनाई दी—

पण्डित जी ! पण्डित जी ! पिता तुरन्त ही नीचे उतरे और थोड़ा ही देर में आकर मां से बोले –"सुना मुन्ने की मां, कुछ खाने भर को है ?" मां चिढ़ी हुई थी बोली—'मेरा सिर है, खाओगे ?' 'सिर नहीं खाऊंगा, पर लड़का भूख से व्याकुल है'— पिता ने कहा।

'कौन लड़का ?' 'है कोई परदेसी। रास्ते में बुखार आ गया, रात्रिभर को स्थान और पेटभर को भोजन चाहता है।'

"यह न सराय है और न धर्मशाला।" उत्तर-प्रत्युत्तर चलते रहे। 'तब ?' 'मेरा सिर।' कहकर माँ ने लिहाफ ओढ़ लिया। मैंने इसी समय लिहाफ में से मुंह निकालकर देखा पिता की आँखों का जल चमक रहा था। इसी समय आंगन में धमाके का शब्द हुआ, साथ ही एक आह भी सुनाई दी। 'छी:' कहकर पिता जीना उतर गये। बिजली की तरह से माँ भी लिहाफ फेंककर नीचे चली गईं। कौतूहल-वश मैं भी छज्जे पर आ खड़ा हुआ। पिता लड़के को आंगन में ही खड़ा करके आये थे। बुखार की तेजी और भूख की ज्वाला से लड़का शायद अधिक देर तक बक्सा थाम न सका। शायद पृथ्वी पर रखना भी नहीं चाहता था। अतः लिए लिए ही गिर पड़ा। सिर फूट गया था, माँ और चाहे जो हों, रक्त नहीं देख सकती थीं, चाहे वह किसी के शरीर से भी निकले। तुरन्त ही दौड़कर पानी लाई, सिर धोया, पट्टी की। दूध गरम करके पिलाया। सक्षेप में जो सेवा और यत्न उस बालक का हुआ शायद ही कोई मां अपने बच्चे का भी कर पाती हो। अर्द्धस्वस्थ होकर आँखों में स्नेह जल लेकर हाथ में बक्सा उठाकर चौथे दिन बालक माँ के चरण छूकर चल दिया। किसी प्रकार भी नहीं रुका। माँ के बहुत

कहने-सुनने पर भी यही कहता रहा –'माँ तुम्हारा स्नेह बड़े ही लोभ की वस्तु है, किन्तु इसी लोभ में पड़ जाने से तो डरता हूँ।' सन्ध्या समय पिता जी न जाने कैसे गिरफ्तार हो गये। पीछे से ज्ञात हुआ कि वह युवक क्रान्तिकारी था, प्रबल सत्ताधारियों का शत्रु था। उनकी आंखों का कांटा था। मानव समझकर उस पर दया करना बड़ा भयंकर पाप था। शासन सत्ताधारी उसे कुचल डालना चाहते थे, किन्तु वह कुचला जाता नहीं था। इसी से सत्ताधारियों की झुँझलाहट उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। उसका अपराध एक भयंकर अपराध था, जिसे मानव भाषा में शायद देशभक्ति कहते हैं और पिता का अपराध था केवल मानव को मानव समझना–अपराधी नहीं, वह जान में हो अथवा अनजान में। उस युवक को न ठहराने का अर्थ मेरी समझ में तो आ गया, पर अब उपाय क्या था। सच कहता हूं बहिन, वह युवक जीवन में फिर कभी नहीं मिला, किन्तु उसकी विदा के समय की भरी आँखें आज भी याद आ जाती हैं तो रोने को जी हो उठता है। आगे की कथा बड़ी ही करुण है बहिन। सर्वस्व स्वाहा करके भी हम पिता को मानव के स्नेह करने के अपराध से मुक्त न करा पाये। उन्हें सपरिश्रम कारावास मिला। कालिज से तो अब रुपये आने की सम्भावना ही न थी। बैंक में उस समय भी पिता के नाम छः रुपये तीन आने थे। उस समय मैं एफ० ए० पास अनुभव हीन सतरह साल का युवक–दो स्त्रियों और दो पिता के आश्रित फस्ट ईयर में पढ़ने वाले छात्रों का अभिभावक बन बैठा। माँ के तन पर दो-चार मामूली आभूषण थे। एक समय रूखी रोटी खाकर किसी प्रकार एक वर्ष बीता, किन्तु क्या दूसरा वर्ष भी बीत सकता था?

माँ और बुआ ने बहुत चाहा कि वह किसी प्रकार से कुछ धन उपार्जन कर सकें, किन्तु दिनभर कठिन परिश्रम करके भी किसी दिन अट्ठारह-बीस आने से अधिक न कमा पाईं। इसी अवस्था में एक दिन मां उसी आंगन में जहाँ उस जाड़े की रात्रि में वह युवक बेहोश होकर गिरा था, ठोकर खाकर अचेत हो गई। भूख-व्याधि और चिन्ता से शरीर क्षीण हो ही चुका था। घर में न पैसे थे औषधि को, और न पथ्य को। बुआ ने मां को सम्भाला। हमारे परिवार में से पिता का आश्रित एक लड़का तो कहीं चला ही गया था। दूसरा पड़ोस की किसी स्त्री को सहायतार्थ बुलाने चला गया। मुझ पर मानो भूत चढ़ रहा था। यह दण्ड है मेरी निराह मां को, उसके पति की महान् चित्तवृत्ति का, उसके स्वामी की उदार आत्मा का। मैं दौड़कर निकल गया दूर..., दूर बड़ी दूर न जाने कैसे पैर मैजिस्ट्रेट की कोठी तक जा पहुँचे।

टैनिस लान में सर साहिब अपनी सुपुत्री और उसकी माँ के साथ बैठा था। कुछ दूर पर उसका सुन्दर स्वस्थ लड़का अपनी बहिन के साथ टैनिस खेल रहा था। यही लड़का किसी दिन मेरा सहपाठी और मित्र सरीखा ही था। किन्तु पिता जब से जेल गये थे मैं उसकी छाया से भी कतराता था। यद्यपि उसने सजा देने के विषय में अपने पिता के न्याय और कानून की कठोरता के अनेकों किस्से सुनाए थे। उसकी मां एक मूल्यवान साड़ी पहने हंस-हंस कर बातें कर रही थी। बाहर से दृश्य देखकर मैं जल गया। चपरासी को धक्का देकर साधा सर साहिब के सम्मुख जा पहुंचा। उन्होंने मुझे कभी देखा न था। मेरा पागलों का सा वेष देखकर शायद डर गये। यह सब देखने

को समय न था। मैंने उसका हाथ पकड़कर कहा। सचमुच ही मैं चेतना में न था, मुझ पर कोई भूत ही चढ़ा हुआ था।

हां तो कहा—"सर साहिब एक देवता को अकारण दण्ड दिया था केवल ईर्षा से- वह देवता थ इसीलिये- केवल गुलामी की भावना से क्योंकि वह स्वतंत्र थे। आज चलो, मेरे साथ तुम्हें चलना ही पड़ेगा अपनी करनी का कड़ुवा फल देखने चखने।" मै और न जाने क्या कहता और करता, पर अब तो मुझे यही याद है कि दूसरे दिन मैं भा जेल में ठूस दिया गया, सर साहिब के घर चोरी करने की चेष्टा के अपराध में।"

"मेरा घर आ गया था। तांगे वाला चुप हो गया। पर मैं उत्तेजित हो उठी थी, बोली—'कहे जाओ।' मैं सब सुनकर ही जाने दूंगी। यहां तक कि तांगे से उतरी भी नहीं, आज पहली हा बार इतनी दूर तांगे में आई थी। वह भी इसलिये कि कार बंसल साहब ले गये थे और मुझे भी जरूरी काम से जाना था। तांगे वाला तांगा कोठी के भीतर ले आया। बेयरर आदि सामान उतारने दौड़े। पर मैं चुपचाप तांगेवाले को पीछे आने का संकेत करके लान में पड़ी कुर्सी की ओर चल दी। पहुँचकर एक कुर्सी पर बैठ गई—"बैठ आओ और कहे जाओ।" मैंने कहा। वह खड़ा हा खड़ा कहने लगा। मैं टोक भी न सकी। वह बहुत ही उत्तेजित था—'मानव को दानव बनाने के लिये जेल से बढ़कर और कोई मशीन नहीं है। अपनी जीवनी लिखने बैठ जाऊं तो एक अच्छा खासा उपन्यास बन जाये, पर इतना ही पर्याप्त है कि मैं जेल में गया था—मानव, और वहां से निकला मानव का प्रेत— दानव बनकर।

सुधर भी जाता किन्तु बाहर आ कर पता लगा कि बुआ और मां दोनों ही उस लोक को समय के पूर्व हीं चली गई हैं जहां एक दिन सब को ही जाना है। वह विद्यार्थी पुलिस के तंग करने पर घर छोड़कर कहीं भाग गया। पैत्तिक सम्पत्ति और घर का भी बुरा हाल था। भूत के डेरे की तरह सामान विहीन घर पड़ा था। कुछ दिन उसी भूत के डेरे में मैं चुपचाप पड़ा रहा। पर पेट की ज्वाला कब मानती है, हर जगह धक्के खाकर अन्त में घर भी बेच डाला। उसी रुपये से तांगा घोड़ा लिया सो भी इसी लिये जान करके कि यह भद्र पुरुषों का पेशा नहीं है। बहुत दिनों ठोकरें खाई कि भद्र समाज में मिल जायें किन्तु चोर को भद्र समाज में रहने की अभिलाषा ही क्यां हो। दो मास पश्चात् सुना कि पिता ने जेल में ही आत्म-हत्या कर ली। मेरे शास्त्रज्ञ, मर्मज्ञ, विद्वान, विश्व भर को प्रेम करने वाले भावुक पिता ने आत्महत्या कर ली। ओह! पर आप घबरायें नहीं। रोऊंगा नहीं, प्रेत की आँखों में अग्नि होती है, जल नहीं। उन गड्ढों का जल तो कभी का चिता की अग्नि में भस्म हो गया है।

तांगे वालों का भी एक समाज है, उसने भी मेरा तिरस्कार कर दिया। दुःख की ज्वाला से एक दिन मैंने भी आत्म-हत्या करना ठान लिया। नदी तट पर पहुंचा भी किन्तु वहां एक मूर्ति देखी, मुझ से भी अधिक दयनीय, मुझ से कहीं अधिक व्याकुल, अशान्त, घृणित। उसकी कहानी नहीं कहूंगा, लेकिन यह अवश्य कह दूंगा कि जो संसार भर की सभ्यता का बड़े जोर से ठेका लेते हैं, दूसरे देश की निरीह भोली स्त्रियों पर अत्याचार

करते उन्हें भी लज्जा से डूब मरना नहीं आता। उसे मैं ले आया, वह थी मेरी दुःख की, करुणा की, घृणा की साथिन।

चार मास साथ रहने के पश्चात् एक दिन हमें अचानक ही मालूम हुआ कि हम वह हो गये हैं जिसे संसार में पति पत्नी कहते हैं। मैं उसे धर्म-पत्नी नहीं कहता। वह मेरी धर्म की पत्नी किसी दिन भी नहीं हुई है, किन्तु वह मुझे, इस प्रेत को अपना धर्म-पति ही मानती है। मैं तांगा हांकने लगा। मेरी सचाई और मधुर व्यवहार से आमदनी साधारणतया थोड़ी ही थी। किन्तु मेरी अभागी स्त्री हर साल एक बच्चे को जन्म देकर बेहताशा आवारा लोगों की संख्या बढ़ाती ही चली गई। जानता हूं दोष उसका नहीं है, किन्तु मैं भी क्या करूं।

आज कितनी बदल गई मेरी जीवन-धारा। कहाँ थी मेरे पिता की महत्वाकांक्षाएं मुझे आचार्य बनाने की, शिक्षित वर्ग का गुरु बनाने की और आज मैं एक तांगे वाला·····एक दुर्बल मरणप्राय स्त्री का पति—एक जवान नङ्गी, भूखी लड़की का पिता—अनेकों छोटे बड़े अनाथ, अन्न-वस्त्र-हीन बच्चों का पिता मात्र हूँ। मेरी स्त्री को औषधि नहीं, तो रोटी चाहिये ही। मेरे बच्चों को अन्न चाहिये, बनिये को बदले में धन चाहिये और मुझे पैसा कहीं न कहीं से लाना ही होगा। बदले में चाहे आत्म सम्मान दूं और चाहे आत्मा को ही निकाल कर बेच दूं, बाजार में उसका मूल्य लग सके तो।"

वह चुप होकर चलने लगा। मैंने उसके हाथ में एक दस रुपये का नोट पकड़ा दिया, चौंक कर उसने नोट छोड़ दिया।

"नहीं, बहिन क्षमा करो, मुझे दया नहीं चाहिये। बूट की ठोकर के बदले में दिए पैसे ग्रहण कर सकता हूं, किन्तु करुणा का एक कण भी ले नहीं पाऊंगा। आप यहाँ बिठाकर सौ जूते मारिये और फिर यह रुपया झोली में डाल दीजिये, लेकर चला जाऊंगा। आत्मग्लानि तो नहीं होगी। कहूंगा—अच्छा मूर्ख बनाया, किन्तु जिसके हृदय में दया माया है उसका स्नेह का दान न ले सकूंगा। प्रेत बदला लेते हैं स्नेह नहीं लेते, प्रेम नहीं लेते, शायद प्रेम करते भी नहीं हैं। कभी किसी से तो कही नहीं, आज न जाने किस झोंक में आपको आप बीती सुना गया, किन्तु कुछ आपको करुण-जाग्रत करने के लिये नहीं।" वह तेजी से चल दिया तांगे की ओर। मैं ठक सी खड़ी थी। चेत आया तो तांगा दूर जा चुका था, जल्दी से घसीटा एक कागज़ पर पेन्सिल से—"अस्वीकार न करना दुःख होगा।" और दस रुपये के उसी नोट को देकर नौकर को साईकिल पर दौड़ाया कि तांगेवाले को दे आ। नौकर समझा—बीबी जी पागल हो गई हैं फिर भी चला गया किन्तु जानती हो क्या उत्तर मिला—"दया से मुझे घृणा है।" नोट लौट आया था। मिस्टर बंसल घर न थे। सारी रात नन्हे को छाती में चिपकाये रोती रही। कौन जाने इस गुलाम देश में मेरे ही रक्त-माँस से निर्मित इस पुतले का भविष्य क्या होगा। और भी मेरी आत्मग्लानि का कारण था कि वह सर साहिब मेरे ही पिता थे और वह घटना भी उस दिन मेरे सामने ही हुई थी। तांगे-वाले की भयंकर दृष्टि रात भर मेरे मन के नेत्रों के सम्मुख घूमती रही।" उनकी आँखें फिर से छलक गई।

मैंने धीरे से कहा—"तीन बज गये मिसिज बंसल"

सचमुच उन्हें समय का ध्यान ही नहीं रहा था। हम दोनों उठ कर घर की ओर चल दिये, वह ताँगा लेकर और मैं साईकिल। उस रात मैं भी सो नहीं सकी। अनेकों ऐसे ही व्यक्तिगत चरित्र मेरे मस्तिष्क में घूम रहे थे। प्रातः होने से पूर्व मैं एक बार चिल्ला उठी—"बन्दे मातरम्।" मुझे अपनी दीन-हीन मां भारत से इससे पूर्व इतनी सहानुभूति किसी दिन भी नहीं हुई थी। हायरे, मेरी अनाथिनी मां। सप्तकोटि सन्तान की अनाथ जननी! तूने अपना रक्तमात्र ही नष्ट किया। मुट्ठी भर विदेशी शासक तेरी छाती को अपने पैरों से रौंद रहे हैं और तेरी सन्तान उन बूटधारी चरणों को पकड़कर कहती है—देव! चरण तो अवश्य धरो, किन्तु जरा धीरे, कहीं पैर में मोच न आ जाये। तुम्हारी छाती विदीर्ण हो तो भले ही हो जाये, किन्तु सत्ताधारा के चरणों में मोच न आ जाये। छीः, कैसी अभागी है वह सन्तान। नहीं, नहीं मैं प्रतिशोध लूंगी ... किससे? मानवमात्र से, सत्ताधारियों से.....अत्याचारियों से.. सुधीर का समस्त क्रोध अनजाने ही बज्र की तरह सत्ताधारियों के सिर पर घहरा कर टूट पड़ा। भावनाओं के आवेश में मैं किस समय घर छोड़कर चल दी, सो मुझे मालूम नहीं। कहाँ जाना होगा सो भी पता नहीं। केवलमात्र जानती थी कि माँ के अपमान का बदला लेना है। हो सकता है दूसरे दिन माँ खूब रोई, पीटी हो किन्तु मैं फिर उस घर में लौटकर गई नहीं और कभी जाने की अब सम्भावना भी नहीं है।

"अनुभव"

बहुत दिनों बाद आज एक सत्य का अनुभव हुआ है और वह यह कि जीवन स्वयं ही एक पहेली है। इस पहेली को

समझने की चेष्टा करना एक व्यर्थ प्रयासमात्र है। समझने का प्रयत्न करने से यह समझ में तो आती नहीं वरन् और अधिकाधिक उलझती ही जाती है। अतः जीवन के इस भाग तक पहुँचते-पहुँचते मैं यह भली प्रकार समझ चुकी हूँ कि जीवन को पहेलीमात्र समझ लेना ही ठीक है। उससे अधिक कुछ भी करना उचित नहीं। हां, तो जिस समय मैं घर से बाहर निकली थी, उस समय मन में बड़ी भारी अभिलाषा लेकर निकली थी जीवन की पहेली को सुलझाने की, किन्तु वह क्या सुलझने वाली थी। अतः अधिकाधिक उलझती गई। हां, तो उस दिन मेरे मन-प्राण में एक ही ज्वाला भयंकर रूप से धधक रही थी और वह थी देश के शत्रुओं के प्रतिहिंसा की ज्वाला।

मेरा सुनहला देश, मेरा प्यारा भारत, मेरा अनेकों नदी-नद से सुशोभित, हिमालय से सज्जित सजीव प्रदेश—इस बुरी तरह रौंदा जा रहा है और हम सब अपाहिज की भाँति आंख-कान मूंदे पड़े हैं, चुपचाप दुःखी और उदास। तांगेवाले की मूर्ति मेरे सम्मुख थी। असख्य बंगाल के भूखे प्राणियों का अकाल में ही काल-कलवित कलेवर मेरी दृष्टि के सम्मुख था। देशभक्ति की घनीभूत ज्वाला हृदय में छिपाए हुए नवयुवकों के फाँसी की रस्सी से झूल रहे शरीर मेरी आंखों में झूल रहे थे। युवती नारियों के अकारण लाठी-चार्ज और गोली-काण्ड से खून से नहाते हुए शरीर मेरी मन की सृष्टि में झूम रहे थे। इन सबको लेकर घर की चहर दीवारी के भीतर बैठकर पिता का गुलामी से कमाया हुआ अन्न खा सकना मेरे लिये असम्भव था। मिसिज बंसल की बातचीत सुनने के समय से घर छोड़ने

तक मैं असह्य ज्वाला से जलती-भुनती रही। क्या करूं? मैं जान नहीं पाती थी, किन्तु वह अन्न तो मेरे कण्ठ के नीचे से उतरता था ही नहीं, किसी प्रकार भी नहीं। मां मेरे मुख को देखकर एक ठण्डी उसांस लेकर रह जातीं, किन्तु मुझसे इच्छा करके भी कुछ कह पाती थी नहीं। उनसे कुछ कहने की मेरी इच्छा नहीं थी। हां, तो उस दिन कालिज में ही सुना—अंग्रेजी साहित्य की अध्यापिका कह रहीं थीं.....“विभिन्न परिभाषा है शब्दों की। एक शासक द्वारा की गई शासित की हत्या, एक गौरांग प्रभु द्वारा की गई श्याम शरीर की हत्या कहलाती है डिफेन्स-स्वरक्षा। एक शासित का शासक के बूट की ठोकर न सह सकने पर धीरे से कसक न सह सकने पर रो उठना, कह उठना कि महाप्रभु अब और ठोकर खाई जायेगी नहीं, कहलाती है—धृष्टता। एक शासित द्वारा शासक के शरीर पर एक साधारण चोट लगना भी कहलाता है—हत्या करने का प्रयत्न, षड्यन्त्र। और न्याय अथवा अन्याय के नाम पर अनेकों व्यक्तियों का निर्दयतापूर्ण अमानुषिक करुणोत्पादक मार दिया जाना कहा जाता है—धर्म-युद्ध, विश्वशान्ति और विश्व-व्यवस्था के लिये निस्वार्थ कष्ट उठाकर किया गया युद्ध.....कितने सुन्दर शब्द हैं-‘निस्वार्थ विश्व-शान्ति।’ किन्तु इन शब्दों का गला एक बार बलपूर्वक घोंट कर दूसरे लोगों को, शासित कहलाने वालों की भूख-नींद समूल छीनकर भी हमारे महाभाग महाप्रभु कह पाते हैं—कि हम विश्वशान्ति के लिये युद्ध कर रहे हैं.....। सच ही तो है, उसका घर भर चुका है, अब तो शान्ति रखने में ही उनकी कुशल है। किन्तु वह शान्ति के समर्थक उस दिन शान्ति का गला घोंटने में हिचकिचाये नहीं थे जिस दिन कि

उन्होंने बलपूर्वक दुर्बल के मुख में विषैला पदार्थ डालकर कहा था कि तुम्हें यह खाना ही पड़ेगा। न खाने पर और चारा ही क्या था, वह दुर्बल जो थे। महाप्रभु की आज्ञा न मानने पर उन्हें उनसे युद्ध जो करना होगा.....। उस दिन शान्ति पूजा का विश्वास कहाँ गया था, जब कि देश-विदेश दुर्बल राष्ट्रों में अपने प्रचारक भेजकर उनसे दूसरे धर्मों के सिद्धान्तों पर खुले कटाक्ष करवाये जाते थे और जब कोई देश का जोशीला नव युवक वह न सह सकने पर उन प्रचारकों की गर्दन नाप देता था तो सारा का सारा इन महाप्रभुओं का राष्ट्र उस देश के वासियों को दण्ड देने पर तुल सा जाता था। उन पर टूट सा पड़ता था.....। छीः, विश्वशान्ति और उसकी विभिन्न व्याख्याओं..."

न जाने कब तक वह बोलती रहीं, किन्तु मेरे सम्मुख अनेकानेक चित्र नाच रहे थे.....वह न जाने कब की चली गई। मैं न जाने कब तक विचारधारा में डूबी रही। किन्तु जब मैंने सिर उठाया- आफिस की घड़ी में टन से दो बज रहे थे। मैं आश्चर्य से भर उठा। कान्फ्रेंस सभा समाप्त हो चुकी थी। कक्षा में मैं अकेली ही बैठी थी। सीधी उठ खड़ी हुई, मैंने दीवारों को साक्षी करके कहा—"तुमने अनेकों भाषण सुने हैं, अनेकों अध्यापिका-गणों के भाव सुने हैं। अये ! मेरी मौन साक्षियो ! मैं आज प्रतिज्ञा करती हूं कि हृदय की भीषण ज्वाला, प्रतिशोध की अग्निज्वाला बुझाऊंगी उनके रक्त से जिन्होंने दूसरे के मुख की रोटी और मन की शान्ति छीनकर ही रक्त संचय किया है, चाहे वह गौरांग महाप्रभु हो अथवा श्यामवर्ण पूंजीपति हो। अन्यथा सह लेना पाप है, भीषण अनर्थ है, अन्याय के प्रति आवाज न उठाना भी भीषण अपराध है और

तक मैं असह्य ज्वाला से जलती-भुनती रही। क्या करूं? मैं जान नहीं पाती थी, किन्तु वह अन्न तो मेरे कण्ठ के नीचे से उतरता था ही नहीं, किसी प्रकार भी नहीं। मां मेरे मुख को देखकर एक ठण्डी उसांस लेकर रह जातीं, किन्तु मुझसे इच्छा करके भी कुछ कह पाती थी नहीं। उनसे कुछ कहने की मेरी इच्छा नहीं थी। हां, तो उस दिन कालिज में ही सुना—अंग्रेजी साहित्य की अध्यापिका कह रहीं थीं....."विभिन्न परिभाषा है शब्दों की। एक शासक द्वारा की गई शासित की हत्या, एक गौरांग प्रभु द्वारा की गई श्याम शरीर की हत्या कहलाती है डिफेन्स-खरच्चा। एक शासित का शासक के बूट को ठोकर न सह सकने पर धीरे से कसक न सह सकने पर रो उठना, कह उठना कि महाप्रभु अब और ठोकर खाई जायेगी नहीं, कहलाती है—धृष्टता। एक शासित द्वारा शासक के शरीर पर एक साधारण वोट लगना भी कहलाता है—हत्या करने का प्रयत्न, षड्यन्त्र। और न्याय अथवा अन्याय के नाम पर अनेकों व्यक्तियों को निर्दयतापूर्ण अमानुषिक करुणोत्पादक मार दिया जाना कहा जाता है—धर्म-युद्ध, विश्वशान्ति और विश्व-व्यवस्था के लिये निस्वार्थ कष्ट उठाकर किया गया युद्ध.....कितने सुन्दर शब्द हैं-'निस्वार्थ विश्व-शान्ति।' किन्तु इन शब्दों का गला एक बार बलपूर्वक घोंट कर दूसरे लोगों को, शासित कहलाने वालों की भूख-नींद समूल छीनकर भी हमारे महाभाग महाप्रभु कह जाते हैं—कि हम विश्वशान्ति के लिये युद्ध कर रहे हैं.....। सच ही तो है, उसका घर भर चुका है, अब तो शान्ति रखने में ही उनकी कुशल है। किन्तु वह शान्ति के समर्थक उस दिन शान्ति का गला घोंटने में हिचकिचाये नहीं थे जिस दिन कि

उन्होंने बलपूर्वक दुर्बल के मुख में विषैला पदार्थ डालकर कहा था कि तुम्हें यह खाना ही पड़ेगा। न खाने पर और चारा ही क्या था, वह दुर्बल जो थे। महाप्रभु की आज्ञा न मानने पर उन्हें उनसे युद्ध जो करना होगा.....। उस दिन शान्ति पूजा का विश्वास कहाँ गया था, जब कि देश-विदेश दुर्बल राष्ट्रों में अपने प्रचारक भेजकर उनसे दूसरे धर्मों के सिद्धान्तों पर खुले कटाक्ष करवाये जाते थे और जब कोई देश का जोशीला नव युवक वह न सह सकने पर उन प्रचारकों की गर्दन नाप देता था तो सारा का सारा इन महाप्रभुओं का राष्ट्र उस देश के वासियों को दण्ड देने पर तुल सा जाता था। उन पर टूट सा पड़ता था.....। छीः, विश्वशान्ति और उसकी विभिन्न व्याख्याओं..."

न जाने कब तक वह बोलती रहीं, किन्तु मेरे सम्मुख अनेकानेक चित्र नाच रहे थे.....वह न जाने कब की चली गई। मैं न जाने कब तक विचारधारा में डूबी रही। किन्तु जब मैंने सिर उठाया- आफिस की घड़ी में टन से दो बज रहे थे। मैं आश्चर्य से भर उठा। कान्फ्रेंस सभा समाप्त हो चुकी थी। कक्षा में मैं अकेली ही बैठी थी। सीधी उठ खड़ी हुई, मैंने दीवारों को साक्षी करके कहा—"तुमने अनेकों भाषण सुने हैं, अनेकों अध्यापिका-गणों के भाव सुने हैं। अये! मेरी मौन साक्षियो! मैं आज प्रतिज्ञा करती हूं कि हृदय की भीषण ज्वाला, प्रतिशोध की अग्निज्वाला बुझाऊंगी उनके रक्त से जिन्होंने दूसरे के मुख की रोटी और मन की शान्ति छीनकर ही रक्त संचय किया है, चाहे वह गौरांग महाप्रभु हो अथवा श्यामवर्ण पूंजीपति हो। अन्यथा सह लेना पाप है, भीषण अनर्थ है, अन्याय के प्रति आवाज न उठाना भी भीषण अपराध है और

इसका उपाय विश्वभर में कोई है ही नहीं, मैं नहीं सहूंगी।" आवेग में मैं चिल्ला उठी—"मैं नहीं सहूँगी।" साईकिल उठा ली, पर उसका मुख घर की ओर न मुड़ा। थोड़ी ही देर में मैं 'वर्कर्स ऐसोसिएशन' के द्वार पर खड़ी हुई थी। द्वार पर ही एक परिचितरूप दीख पड़ा—

"ओह आज किधर दीख पड़ीं विजयश्री ?"

"अन्दर चलो, सब-कुछ कहूँगी।" शफीक अहमद ईरानी मेरा पुराना परिचित था। सुधार का तो छात्रसंघ में दाहिना हाथ ही था। अनेकों सन्ध्या, भरी दोपहर और सुप्रभात हम तीनों ने साथ ही साथ अनेकों आवश्यक समस्याएं हल करते हुए बिताई थीं। एक समय तो वह सुधार का अभिन्न हृदय मित्र था। वह एक भोला-भाला लड़का था। बहुत दिन हुए उसका पिता एक एक्सीडेन्ट से मर गया था, मां तो उसके जन्म से ही सात दिन बाद मर गई थी। फूफा की गोद में पलकर ही वह बड़ा हुआ था। पिछले वर्ष वह फूफा भी मर गई थी। इस समय सृष्टि भर में उसे अपना कहने योग्य कोई नहीं था। उसने अंग्रेजी विषय लेकर एम० ए० पास तो कर डाला था, किन्तु उसे साहित्य में जरा भी रुचि नहीं थी, इतिहास की ओर उसका झुकाव था। कार्ल मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्त उसे अत्यन्त प्रिय थे, उन पर वह अनेकों पुस्तकें पढ़ चुका था। गम्भीर विचार भी कर लेता था, किन्तु कभी बोल एक शब्द भी नहीं पाया था। वाद-विवाद करने के भाव से कोई छेड़े भी तो वह अत्यन्त कुशलतापूर्वक हंसी, व्यंग और मुस्कान से टाल जाता था। उसका स्वर मधुर था, गजल गाने का उसे चाव भी था। उसके गले में एक दर्द था मीठा मीठा। कभी-कभी वह कहा

करता था कि मेरे दिल में दर्द न होता तो स्वर में दर्द आता कहां से ? वह स्वच्छ हृदय वाला युवक था। वह और मैं धीरे-धीरे सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुँचे। पहला कमरा आफिस की भाँति सजा था। शफ़ीक एक कुर्सी पर जा बैठा। मैं भी दूसरी कुर्सी पर बैठ गई। इस समय तक मैं कांप रही थी, मैंने कुछ क्षण रुक कर कहा—"शफ़ीक पानी मिलेगा ?"

"मिलेगा अवश्य, किन्तु हिन्दू नौकर तो इस समय कोई है नहीं।"

"छीः, शफ़ीक तुम्हारे साथ कभी खाया पिया नहीं है क्या ? थोड़ा-बहुत जो ख्याल रखना पड़ता था सो भी माँ के कारण। किन्तु आज तो पूरी तरह तुम्हीं लोगों में मिलने आ गई हूं, भाई।"

"कहती क्या हैं ? माशा अल्लाह दिमाग तो दुरुस्त है ना ?" उसके कहने के ढंग पर मैं उस घनी उत्तेजना में भी हंस पड़ी।

"पहले पानी पिलाओ, फिर एक कथा सुनाऊंगी।"

"अच्छा।" उसने सुराही से ढाल कर पानी दिया— मैं पूरा गिलास पी गई। पूरा एक गिलास खाली करके कुछ शान्ति-सी जान पड़ी।

"सुनो शफ़ीक सब-कुछ छोड़कर आज केवलमात्र देश को ही वरने आई हूं और कुछ मत पूछना। हो सके तो हमें कुछ काम दो।"

ताज्जुब के मारे कुछ देर तक शफ़ीक फटी-फटी आँखों से मेरी ओर देखता रहा, देखता ही रहा। फिर बोला—"आप

यहाँ काम करें, यह हमारा सौभाग्य है किन्तु आप.....'' मैं उसकी दुविधा समझ रही थी, झट से बोल पड़ी—''कहीं भी पड़ रहूंगी। मेरी चिन्ता न करो, शफ़ीक मुझे काम चाहिये- ऐसा काम जिससे मैं अपने हृदय की प्रतिहिंसा की ज्वाला बुझा सकूं।''

''क्षमा करना, विजया बहिन! यह प्रतिहिंसा की ज्वाला है किसके प्रति?''

जिह्वा मचल रही थी कहने को, —सुधीर— किन्तु बोल उठी—''देशद्रोही''। नहीं जानती यह अपने-आपको धोखा देना था या नहीं।

शफ़ीक असमञ्जस में पड़ गया था। वह उस संस्था का न केवल मन्त्री ही था वरन् सर्वेसवा हो था। उसके धन-जायदाद से ही संस्था चलती थी और वह निस्वार्थ भाव से अपना सब-कुछ वहीं लुटा चुका था। फिर भी मुझे स्वीकार करने में इतनी दुविधा, कुछ खटकी।

''शफ़ीक, महात्मा बुद्ध के पास जब नारी दीक्षा की प्रार्थना लेकर पहुंची तो उन्होंने कहा था—यह संस्था अब अधिक देर तक फले-फूलेगी नहीं, क्योंकि इसमें नारी का प्रवेश हो रहा है। किन्तु फिर भी उन्होंने दीक्षा देना अस्वीकार नहीं किया। आज तुमसे मैं क्या वह भी न पा सकूंगी।''

''दूंगा बहिन। तुम्हें दीक्षा क्यों न दूंगा। मैंने सुधीर के साथ तुम्हें स्टेज पर शेरनी की भांति दहाड़ते भी देखा है और मजदूर कौलोनी में हैजे से पीड़ित बच्चों की मां की सी ममता लिये सेवा करते भी देखा है। नहीं जानता तुम्हारी कौनसी

मूर्ति सत्य है। हम साम्यवादियों को तो आज तुम्हारी दुर्गा, काली मूर्ति की ही आवश्यकता है। सचमुच सारे जीवन भर ही सुनता रहा—इक़बाल की लाइन 'पत्थर की मूरतों में समझा है तू खुदा है। खाके वतन का मुझको हर जर्रा देवता है।' किन्तु किसी दिन भी बुतों में मां की मूर्ति न देख पाया। आज सचमुच ही तुम मां बनकर हमारे सम्मुख आ खड़ी हो तो हमें कितना बल मिलेगा, कितनी सजीव शक्ति। किन्तु सोचता हूं क्या तुम वैसा कर सकोगी ?"

"करना ही होगा शफ़ीक।"

"अच्छा, जब खुद मां काली आज हम साम्यवादियों को सनाथ करने आई हैं, तब आओ मां, तुम्हारा स्वागत हो।" कह कर फिर शफ़ीक गम्भीर विचारों में मग्न हो गया।

मैं स्वय बोली—"शफीक मुझे कहीं बाहर भेज दो, मैं यहां रह न सकूंगा।"

"घर क्या एकदम छोड़ दिया, विजया बहिन !"

"हां"

"तब चलो, दोनों भाई-बहिन कुल्लू साइड पर चलें। मुझे कई सप्ताह तक उधर का ही दौरा करना है। तुम जानती हो पहाड़ की और साधारण जीवन में नैतिक-पतन की कोई हद नहीं है। विशेषतया स्त्रियों की दशा बड़ी ही दयनीय है। मैं सोच ही रहा था कि उनका क्या उपाय कर पाऊंगा। सो भगवान ने समस्या हल कर दी। अब तुम आ ही गई हो तो उसका उपाय भी हो जायेगा। उनकी न केवल भूख का, वरन् नैतिक-शिक्षा का प्रबन्ध करना भी अब कुछ कठिन नहीं होगा।"

बीच की और बहुत सी बातें नहीं कहूंगी। घर फिर में गई ही नहीं। बाजार से दो धोतियां और दो जम्पर तथा दो पेटीकोट खरीदकर एक थैले में रखकर मैं सन्ध्या को ही शफीक के साथ कर्मक्षेत्र में कूद पड़ी। प्रायः दो मास तक घूम-घूमकर जो-कुछ हमने पहाड़ों में देखा- उससे अधिक घृणित शायद और कुछ हो सकता ही नहीं। मानसिक, नैतिक अधःपतन का कोई भी दृश्य इससे और अधिक भयावह न होगा। घोर दरिद्रता के बीच तन बेच डालना तो साधारण बात है, मन भी नहीं बच पाता। उसे भी टुकड़े-टुकड़े करके बेचना ही पड़ता है। वह केवल देखने और अनुभव करने की ही वस्तु है, उसे लिख कर समझाया जा सकता ही नहीं है। अनेकों भयंकर रोगों का शिकार, असन्तोष की मूर्ति, वह पहाड़ी लोग भारत के एक बड़े भाग के निवासी हैं। कांगड़े की घाटियों ने एक दिन अपने वक्षस्थल में भारत के सुप्रसिद्ध चित्रकारों और शिल्पियों को स्थान दिया था। आज वहीं पापी और हत्यारों का स्वागत किया जा रहा है, किन्तु कितना परिवर्तित दृश्य है। एक दिन तो जब मैंने एक प्रोफेसर को एक भोली कुल्लू-बाला के साथ अनुचित छेड़-छाड़ करते देखा तो मैं क्रोध से नख-शिख पर्यन्त जल उठी। क्रोध के आवेश में ही मैंने प्रोफेसर को खूब खोटी-खरी सुनाई। नीच प्रोफेसर नीचा मुख करके चला गया, किन्तु पहाड़ी-बाला का भोला मुख एकबारगी तमतमाए हुए तांबे की तरह जल उठा। किन्तु क्षणमात्र में ही एकदम शव की भांति निस्तेज, निर्जीव और पीला पड़ गया। बुझे हुए स्वर में बाला बोली—"अब बापू मारेगा जो ?"

लड़की शायद ही चौदह साल से अधिक बड़ी हो। मैंने दयार्द्र स्वर से विस्मय से पूछा—"क्यों ?"

"मुझे प्रतिदिन ठर्रे के लिये पैसे जो देने पड़ते हैं।"

लड़की स्पष्टरूप से कथा न कह पाई—अपने जीवन की। किन्तु सारांश यह था कि वह प्रतिदिन मजदूरी करके अपने और पिता के पेट भरने को अन्न एकत्रित करती है, किन्तु दिनभर कठिन परिश्रम करके भी पिता को शराब के लिये पैसे एकत्रित नहीं कर पाती थी। अत ऐसे कई बाबुओं का सन्ध्या-समय मनो-रञ्जन करके पिता की शराब के लिये धन एकत्रित कर देती है। किसी दिन वैसा न कर पाने पर उसका स्वागत लातों और घूसों से होता है। यही उस दुःखिनी की दुःखमयी कहानी थी। शफ़ीक का हृदय कोमल था। वह सुनकर बोला—"हाय री दरिद्रता! पिता और पुत्री का सम्बन्ध भी कलुषित हो उठा है, राक्षसी तेरे कारण।"

मैंने भी स्वर में स्वर मिलाया, किन्तु न जाने हृदय के कौन से अज्ञात कोने से पुकार आई कि इसकी तह में दरिद्रता का नहीं संयम का, शिक्षा का भी अभाव है। दरिद्रता पाप अवश्य करवाती होगी, किन्तु शराब की आदत तो डालना दरिद्रता के लिए सम्भव नहीं। शफीक की दी हुई विवेचना के बाद भी मेरे मन में घना संशय बना ही रहा, किन्तु उससे कह न सकी। कहने पर मजाक और व्यंग ही तो मिलते सुनने को। फिर भी शफीक बड़ा ही कमठ साथी था। उसके हृदय में दया के साथ ही साथ घनी लगन भी थी काम करने की। इसीलिये उसे मैं बहुत अधिक छेड़ती नहीं थी— उस पर मेरी सहज ही

श्रद्धा थी। अतः मन ही मन विचार करती रही। शफीक कहता था दरिद्रता मिट जाते ही यह सारे पाप स्वयं मिट जायेंगे। हमारी आर्थिक स्थिति हमारे अन्य सभी जीवन-क्षेत्रों का निर्माण करती है। यदि वह सुदृढ़ हुई तो अन्य सब आप ही सुधर जायेंगे। अर्थ सम्बन्धी समस्या प्रधान है। मार्क्स का सिद्धान्त मुझे भी अग्राह्य नहीं है, किन्तु रात्रि को अकेले में शून्य पलंग पर लेटकर मैं सोचे बिना न रह सकी कि मेरे पिता तो वैसे दरिद्री नहीं हैं। दरिद्रता ही उनके जीवन का एकमात्र अभिशाप नहीं रही है, फिर भी वह शराब पीते हैं। क्यों? क्या आर्थिक समस्या ही हमारे समाज की, हमारे युग की एक-मात्र समस्या है? सुधीर तो दरिद्री नहीं है और अर्थ सम्बन्धी प्रश्न भी उसके जीवन का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न है नहीं, कभी रहा भी नहीं। वह भी अपने भगवान के सम्मुख, चन्द्रदेव के सम्मुख परिणता पत्नी को अकारण ही धन के लोभ से विश्व की बड़ी से बड़ी कठिनाई का सामना करने के लिये अकेला ही छोड़ दे सकता है। क्यों? मुझे अर्थ-महत्व के सिद्धान्त पर अश्रद्धा होने लगी। कुछ शफीक की बातों, उसके सिद्धान्तों पर भी असन्तोष होने लगा, किन्तु यह मैं उस दिन भी भली प्रकार जानती थी कि मैं जिस रूप में एक बार समाज से बाहर आ गई हूं, उससे मेरा समाज-प्रवेश का द्वार सदैव को ही बन्द हो गया है, अतः यहां रहना ही होगा। फिर देशसेवा की धुन अभी कुछ कम नहीं हुई थी। विशेषतया इस प्रान्त के लोगों को देख-कर तो अर्थ के साथ नैतिक प्रश्न भी एक समस्या बनकर मेरे सम्मुख नाच उठा था। मन में उठने वाली इस आंधी का रुकाव मेरे पास था ही क्या?

मैं विचारों में उलझी जा रही थी कि पास के कमरे से एक दर्दभरा स्वर सुनाई दिया— शफीक पास वाले कमरे में सोता था। उस दिन शरच्चन्द्र की शुभ्र चांदनी खिली हुई थी। कमरे के द्वार बन्द थे, किन्तु खिड़की में से छनकर चाँदनी मेरे मुख पर पड़ रही थी। शफ़ीक शायद बरामदे में गा रहा था— "महफिले ग़ैर में तो चान्द चमकता है सदा, मेरी महफिल में तो चमकता है इकतारा भी नहीं।" जान पड़ता था सचमुच ही वह अपने एकाकी जीवन का समस्त दर्द कण्ठ में भरकर ही तड़फ उठा है। सचमुच ही उसकी दिल की बस्ती में कब कोई आया था— सरो सामान जमाने। मैं दयार्द्र हो उठी। एक नया ही प्रश्न था, इस बार मेरे सामने। मानव की भूख जहां तक मानव ने समझी है—वह है पेट की ज्वाला। किन्तु जो वह या तो समझ पाया नहीं, या जान-बूझकर जिस वस्तु को उन्होंने मुख्य स्थान नहीं दिया वह मन की भूख है। प्रेम की भूख, सहानुभूति की भूख, क्या सचमुच ही मुख्य नहीं है?

क्या सचमुच ही मानव केवल पेट में कुछ डालने, तन पर कुछ डालने के लिये ही लालायित रहता है? मानवमात्र को एकसा भोजन, वस्त्र और स्थान रहने के लिये ही देकर क्या हम यथार्थ सुख की नींव डाल सकेंगे? क्या उसी के बल पर व्यक्ति ऊंच-नीच, धनी-दरिद्र आदि के भेद-भाव से ऊपर उठकर मानव और केवलमात्र मानव रह जायेंगे? क्या कभी किसी एक मानव का मन दूसरे मानव के चरणों में ढेर सा प्रेम देखकर जल न उठेगा? क्या कभी कोई एक मनुष्य दूसरे के चरणों में अधिक श्रद्धा और प्रेम की भेंट अत्यधिक चढ़ते देखकर अपना उस व्यक्ति से भेद न मान बैठेगा? इससे परे भ. क्या

कभी उन एक समाज में रहने वालों, एकसाथ काम करके रोटी खाने वाले मानवों का मन किसी एक भूख की मीठी मुस्कान पाने के लिये तड़फ न उठेगा ? एक लम्बी समाज-शृंखला को लेकर जिसमें सब ही अपने हैं, किन्तु कोई व्यक्ति-विशेष अपना नहीं, क्या मानव तड़फ न उठेगा ? क्या वह सन्तुष्ट हो सकेगा ? उस समाज में, जो कि शफीक का एकान्त स्वप्न है, जहां किन्हीं दो व्यक्तियों के शारीरिक संयोग का फल भी समाज की ही वस्तु होगी, यह समाज भले ही आर्थिक प्रश्नों को हल कर दे, किन्तु केवलमात्र इसी से मानव की सारी समस्याओं का हल हो जायेगा, कहना मुझे तो कुछ ठीक जचता नहीं। इसी समय शफीक का गाना बन्द हो गया। दस-एक मिनिट चुपचाप शान्ति से बीते। मैं आँखें बन्द करके करवटें ले रही थी किन्तु नींद पलकों तक भी नहीं आई। इसी समय कमरे का-उधर का द्वार खुला, उसमें अन्दर से कोई चटखनी या हुड़का आदि था ही नहीं। शफीक कमरे में आ रहा था- न जाने क्यों एकबार देखकर मैंने फिर आँखें बन्द कर लीं। शफीक ने शायद मेरी आँखें खोलना न देखा था।

"बिचारा शफीक" मैंने कहा मन ही मन। उसके सुन्दर मुख पर नारियों की सी कोमलता थी। चाँदनी मानो मुख के चारों ओर एक लाइन सा खींचकर कहता था- देखो कहीं पास न आना, नहीं तो मुख मैला हो जायेगा।

पिछले दस दिनों से शफीक क्यों हर समय डूबा-डूबा सा रहता है। कभी एकान्त में गजलें गाता है- दर्द-भरी सी, तड़फता सी। मुझे घण्टों चुपचाप देखता ही रहता है। मैं

जान-बूझकर भी इस सत्य को अपने से आजतक छिपा ही रखने का यत्न करता था कि वह मुझसे कुछ चाहता है। क्या चाहता है सो ठीक विश्लेषण कर पाऊंगी नहीं। किन्तु इतना जानती हूं कि उसकी आंखों में, उसके स्वर में कुछ भूख है अवश्य।

सत्य मेरे सामने नाच उठा। अधखुली पलकों में से मैंने देखा वह मेरी ओर देख रहा था— मैं अकेली थी, स्त्री थी, अबला था, असहाय थी। फिर भी मुझे शफ़ीक से, उस शफ़ीक से जिसे वर्षों भैया कहकर पुकारा था- आज भी भय नहीं हुआ। वह लगभग मिनट तक मेरे मुख की ओर ताकता रहा, फिर कुछ पास आकर झुकने लगा। मैं कुछ बोलने ही वाली थी कि न जाने क्यों शफ़ीक सीधा खड़ा हो गया और फिर झटपट लगभग दौड़ता सा बाहर चला गया। उस रात मैं सो न सकी।

सुबह शफ़ीक मानो मेरी प्रतीक्षा ही कर रहा था। चाय बनाकर ज्यों ही मैं उसके पास पहुंची वह नहा-धोकर बैठा था। एक नया आश्चर्य- वह प्रायः देर से नहाता था। "कब नहाये शफ़ीक ?" मैंने पूछा।

"क्यों, क्या नहाने का समय भी नोट करना चाहिये ?"

"सो नहीं कहती, किन्तु आज इतने सबेरे स्नान कैसे कर लिया सो ही कहता हूं।"

"हूं।" मैं प्याले में चाय डाल चुकी थी। शफ़ीक ने पीना आरम्भ किया। वह कुछ घबराया हुआ सा था, बौखलाया हुआ सा। आज वह कहीं भी बाहर न जा सका। मेरे सिर में घना दर्द था। अतः मैं भी किसी पहाड़ का चक्कर न लगा सकी। निरन्तर पड़ी ही रही। शफ़ीक मेरी परिचर्या में लगा

रहा। सन्ध्या समय शफ़ीक बहुत ही सम्भलकर उठा। ठीक खिड़की के निचले चौखटे पर कोहनी रखकर बाहर की ओर देखते हुए बड़े ही रोमान्टिक ढंग से बोला "बिज्जी, मैं तुम्हें प्यार करता हूं।" सब-कुछ समझकर भी मैं चौंक उठी— इससे अधिक आश्चर्य की बात शायद और कुछ थी भी नहीं। शफ़ीक को हो क्या गया था। मैं चुप ही रही, शफ़ीक कहता ही गया— "बिज्जी, मैं तुम्हें बहुत प्यार करता हूँ, हम तुम मिलकर काम करेंगे।" आदि आदि।

मैं घबड़ा उठी। वह कहे ही जा रहा था..... ....। 'जानता हूं तुम सुधीर को प्यार करती थी, किन्तु सुधीर, छीः.....।"

मैं घबड़ा उठी—"शफ़ीक मेरे सिर में भयंकर दर्द हो रहा है, तुम कृपा करके कमरे से बाहर चले जाओ इसी समय।" मेरे स्वर में गम्भीरता और दृढ़ता इतनी अधिक थी कि शफ़ीक प्रतिवाद न कर सका। क्षणमात्र में वह कमरे से बाहर था। मैं सोचने लगी—हाय री अभागी नारी! सृष्टि भर में तुम्हें पुरुषमात्र एक ही दृष्टि से देख पाता है और वह है—कामलोलुप दृष्टि। यही व्यक्ति कुछ समय पूर्व मुझे अपनी देशसेवा के भावों से ओत-प्रोत संस्था में "माँ" की सजीव प्रतिमा समझकर ले रहा था। उसी पूजा की वस्तु माँ की प्रतिमा का यह स्वयं अपने भोग की वस्तु बनाने को पागल हो उठा है। इससे तो यही जान पड़ता है कि एक छोर से दूसरे छोर तक सब ही नारी को उसके रमणी रूप में ही देख पाते हैं। एक दिन यह व्यक्ति मुझे 'काली' रूप में पाने को उत्सुक था, किन्तु आज वही उसी नारी को कोमल रमणी-रूप में देखने को पागल है। कितनी

दयनीय अवस्था है इसकी। दो मास के सहवास में ही इसका मन इतना परिवर्तित हो गया इसकी मुझे खबर ही कहां थी। मेरे सिर में मानो भीषण अग्नि धधक रही थी—"शफ़ीक, शफ़ीक! तुम मां के चरणों में चढ़ाए हुए कुसुम हो। सौ-सौ विजया भी तुम्हारे जीवन में यदि विष-वृक्ष बनकर आयें तो भी उन्हें तुम ठोकर मार सको, यही मेरा अन्तिम आशीर्वाद है। मेरे मन के किसी कोने में तुम्हारे लिये एक दिन अटूट वात्सल्य भरा था. फिर किसी दिन वही वात्सल्य सहानुभूति में परिणत हो गया। आज जिससे वह कहीं किसी दिन मानवीय दुर्बलता से लाभ उठाकर असंयमी न बन उठे, वही व्यवस्था कर जाती हूं। जब से शफीक ने कहा था कि वह मुझे प्रेम करता है, मैं यद्यपि उससे क्रोधित नहीं हुई थी, प्रसन्न भी नहीं, पर अनजाने ही मैं उसकी ओर कुछ खिंची-सी जा रही थी। मुझे भय हुआ कि अचानक कहीं मन की दुर्बलता हमें दोनों को ही न ले डूबे। रात हो रही थी, हम लगभग स्टेशन से दस मील पर थे। शफ़ीक सो रहा था, ऐसे समय मैंने लिखीं तीन पंक्तियां—

"भाई शफ़ीक!

अचानक तुम्हारे जीवन में आई और अचानक ही चली जा रही हूं। तुम्हारी छाती के भीतर जो मानव हृदय है उस पर सदा-सर्वदा ही लिखा रहे केवल "मां"। यही आशीर्वाद इस बहिन का अन्तिम सन्देश समझना।

तुम्हारी बहिन—

"विजयश्री"

अन्धेरे में ही जल्दी से घसीटकर मैं बाहर निकल पड़ी। मेरी सम्पत्ति, मेरा छोटा-सा थैला मेरे पास ही था। शफ़ीक के तीन रुपये भी मेरे पास थे। मैं स्टेशन की ओर चांद की रुपहली चांदनी में ही चल दी। न जाने क्यों मुझे उस दिन इतनी दूर रात के समय अकेले जाने से उतना भय नहीं हुआ जितना कि उस एक घर में एक ही फर्श पर लकड़ी के पार्टीशन से विभाजित किये हुए कमरे में रात्रि व्यतीत करने से। मैंने मन ही मन कहा—"नारी तुम्हारी हार मानूंगी नहीं। अखिल विश्व चाहे जो कहे, किन्तु मैं यही कहूंगी कि नारी किसी से भी कम नहीं है, कभी भी किसी से भी हीन नहीं है।" मार्ग अनिश्चित था और मैं चली जा रही थी शान्त, चुपचाप, नीरव। भय तो मेरे पास फटकता था ही नहीं। कोई छः मील मार्ग तय कर चुकी थी—वह ठीक मेरे सामने आ खड़ा हुआ— वह कौन था? शायद 'दैत्य' कहकर उसकी परिभाषा ठीक हो सके। मैंने 'अलिफ लैला' में कुछ दैत्यों का वर्णन पढ़ा था और यह भी कुछ उनसे मिलता-जुलता ही लगा—उस सरद सी, शीतल-सी, भरी-भरी चाँदनी में मैं सहम गई. किन्तु अब क्या होता है सो तो मैं जानती ही नहीं थी। पगडण्डी छोटी थी, मार्ग और न था।

मैंने साहस करके कहा—"रास्ते से हटो, जाने दो।"

"क्यों?"

"क्योंकि मुझे जाना है।" हृदय कांपता तो था पर साहस की कमी न थी।

"न हटूं तो?" उसकी लाल-लाल अंगारे जैसी आँखें चाँदनी में भयंकर रूप से चमक उठी।

"तो मैं अपना मार्ग स्वयं बना लूंगी।" मैंने कुछ चिढ़ कर कहा।

"सो कैसे ?" वह ढिठाई से बोला—"तुम्हें इसी खड्ड में धक्का देकर। सुना दानव ? अब हट जाओ।" वह हंस पड़ा। उसकी भयंकर हास्य-ध्वनि से पत्ता तक कांप उठे। मैं भी बेतरह डर गई। "आओ" कहकर वह आगे आगे चल दिया और मुझे आश्चर्य है कि मैं उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर ही न सकी। इच्छा के विरुद्ध मन्त्रमुग्ध मैं उसके पीछे चल दी। वह आगे-आगे चल रहा था— हम कहाँ जा रहे हैं यह मुझे मालूम ही नहीं था। कुछ ही देर में हम स्टेशन पर पहुँच गये और न जाने किधर जाने के लिये उसके संकेत से मैं एक खाली फर्स्ट क्लास कम्पार्टमेन्ट में चढ़ गई। फिर वह स्वयं भी अन्दर आ गया। अन्धेरे कम्पार्टमेन्ट में उस राक्षस को भी चढ़ते देखकर मैं पसीने-पसीने हो गई। बड़ी कठिनाई से मैंने स्विच पर हाथ डालकर बत्ती को जला ही तो दिया। ट्रेन चल दी थी। आश्चर्य, एक बेंच पर दो युवक पहले से ही बैठे थे और एक तीसरी मूर्ति खिड़की से बाहर की ओर देखती हुई मेरे समीप ही बैठी थी। उसका मुख तो नहीं देख पाई थी, पर शायद युवती ही थी और शायद वह राक्षस तीसरे बेंच पर अकेला ही बैठा था। क्षणभर में ही मैंने सब-कुछ देख लिया। राक्षस जो उस दल का शायद सरदार था, और था ही।

हां, अब सरदार ही कहूँगी। बोला—"मार्ग में मुझसे भय न लगा, यहाँ तक कि मुझे खड्ड में फेंकने का भी दम भरती थीं, अब यहाँ आकर क्या बहुत डर गई हो ?"

"डरती नहीं, किन्तु आसपास के वातावरण को समझ लेना चाहती हूँ।" मैंने साहसपूर्वक कहा।

"ठीक, ठीक, यह तो मैं भी चाहता था।" वह चिल्ला उठा। "तुम पांच मिनिट तक वातावरण को समझ सकती हो, फिर बत्ती बन्द कर देनी होगी। किन्तु तुम बहुत ही समझदार लड़की हो, मुझे एक ऐसी ही लड़की की तो आवश्यकता है। सुनो, यह मेरी पत्नी है। मेरा ओर न देखो, इसकी ओर भी अब तो देखने से कोई लाभ नहीं। इसने अपनी सुन्दरता का स्वयं ही अपने हाथों नाश कर डाला है, क्योंकि वह मेरे, इसके पति के लिये तो आकर्षण की वस्तु नहीं थी, पर अन्य सब ही इसके सौन्दर्य पर मरते थे। इसीलिये तो इसने उसे नष्ट कर डाला। इतना विश्व भर में कितनी स्त्रियाँ कर सकती हैं। यह महान् है। मैंने कभी किसी दिन भी इसे सुख नहीं दिया। विवाह-दिन भी नहीं, और आज भी नहीं। यह किसी देश के नेता की पत्नी भी नहीं, इसका मर जाने पर कहीं स्मारक भी नहीं बनेगा और जीते जी कहीं रहने-बैठने का ठिकाना भी नहीं होगा। फिर भी यह सन्तुष्ट है, शान्त है, किन्तु इसमें वह साहस नहीं, वह शक्ति नहीं, वह निर्ममता नहीं जो मैंने तुममें पाई है। तुम चाहे जो हो, मुझे काम के लिये तुम्हारी आवश्यकता है और इसीलिये तुम्हें हमारे साथ रहना होगा। यदि तुम यूं न रहना चाहो और तुम्हें बरबस ही रखना पड़े तो भी मुझे रखना ही होगा। यह मानव रक्त को देखकर अचेत हो जाती है, मुझे मानव रक्त से प्रेम है। मनुष्य का खून देखकर मैं नाच उठता हूं। तुम सहज ही कह पाती हो—'आवश्यकता पड़ने पर मैं मानव को मृत्यु के मुख में ढकेलकर भी अपना मार्ग

बनाऊंगी।' मुझे इसी चीज़ की आवश्यकता है। तुम्हारा नाम चाहे जो हो, मैं तुम्हें रण-काली ही कहूंगा। नाम अधिक लम्बा होने से काली ही ठीक रहेगा। काली ही कहूंगा। तुम भैरवी बनो, काज़ी बनो, यही मेरा इस वृद्ध का आशीर्वाद है।"

"वृद्ध" शब्द पर मैंने ध्यान से उसका मुख देखा— सचमुच ही वह वृद्ध था। उसकी झुर्रियां शायद उसके मुख की कठोरता में, दृढ़ता में निहित हो उठी थीं। पर इस बार उस काले कुरूप दानव तुल्य मुख को देखकर मुझे घृणा नहीं हो आई वरन् श्रद्धा ही हुई। मैंने पहली बार भगवान को मन ही मन याद करके कहा—'सचमुच ही नारायण! तुम सत्य हो।"

बत्ती बुझा दी गई। कोने में बैठे हुए युवक की नुकीली नाक बेतरह आगे बढ़ी हुई अब भी झांक सी रही थी। उसने सचे लाइट जलाई।

इस बार उस स्त्री ने मुख अन्दर किया। मैंने देखा उसका मुख कई प्रकार के निशानों से गोरा और सुन्दर होने पर भी अत्यन्त कुरूप-सा दीख पड़ता था। पर एक विचित्र शान्ति-सी थी उसके समस्त व्यक्तित्व में। वह मुझसे एक शब्द भी नहीं बोली थी अभी तक। तीसरा युवक कुछ भावुक सा प्रतीत होता था। उसकी घनी भवें बीच में आकर बेतरह फैली हुई थीं। उसके दोनों होंठ मुड़-मुड़कर रह जाते थे, मानो वह कोई प्रतिज्ञा-सी कर रहा हो। उसका व्यक्तित्व कुछ उलझा हुआ सा जान पड़ता था। थोड़ी देर पश्चात उनकी सभा आरम्भ हुई। शीघ्र ही मैं जान गई कि यह एक क्रान्तिकारी दल था। अपराधियों को दण्ड देना ही इसका कर्तव्य है, ऐसी भावना लेकर ही यह दल चल रहा था। शायद असहाय, दुःखी और दुर्बलों

की सहायता भी ये किया करते थे। उस दिन ट्रेन के उस कम्पार्टमेन्ट में इनकी एक असाधारण बैठक थी। उसी के लिये आते हुए अचानक ही सरदार को मैं मार्ग में मिल गई। उस दिन किसी एक को दण्ड देना भी था।

दण्ड देने का अर्थ था पिस्तौल की एक गोली से उस व्यक्ति को अचानक ठण्डा कर देना। कभी-कभी यह कार्य्य कुछ कठोरता पूर्वक किया जाता था। "जो मानव का यथार्थ मूल्य नहीं समझ पाते, उन्हें संसार में जीवन-यापन करने का कोई अधिकार नहीं है। उन्हें शीघ्र ही इस लोक की यात्रा से छुटकारा देना ही न्याय है।" और यही उस दल का मुख्य उद्देश्य था। प्रतिहिंसा से मुझे प्रेम था आरम्भ से ही। अन्यायी के प्रति मेरी स्वाभाविक ही घृणा थी। इनके साथ मेरी अच्छी पट जायगी—ऐसा जान पड़ा। उनका उद्देश्य भी महान् था। क्षमा मेरे शब्दकोष में है ही नहीं। क्षमा दुर्बलता का नाम है। दण्ड देने की असमर्थता को ही मनुष्य क्षमा कहकर, महान् कहकर अपने को धोखा दे डालता है। दण्ड देना क्षमा करने से कहीं श्रेयस्कर है, उचित है और पूर्ण है। मैं उस दल में दीक्षित हो गई। दीक्षा के लिये मुझे अनेकों कठोर परीक्षाएं देनी पड़ी थीं जिनका उल्लेख जान-बूझकर नहीं करूंगी। किन्तु अन्त में सब तरह सन्तोषजनक परिणाम पाकर सरदार ने एक दिन माँ काली के नाम पर मुझे दीक्षा दे दी। वह तो मुझे सदा ही रण-काली कहा करते थे। दीक्षा के दिन ही मुझे एक पिस्तौल और एक बाढ़या छुरा मिला।

दल के कुछ पुराने रिकार्ड भी पढ़ने को दिये गए। इस दल के कुल पांच व्यक्ति सदस्य थे। एक तो सरदार—उनके

बोली—काली ! तुम मां हो कर भी नहीं जान पाई कि आंसू ही मानव को मानव बनाते हैं, आंसू न गिरा सकने पर वह या तो दानव हो उठेगा और या देवता। पर मैं तो केवल मानव ही रहना चाहता हूं। देवता बनना भी नहीं, दानव होना भी नहीं चाहता हूं मां।"

सचमुच उस रात मैं भी बहुत रोई। कौन कह सकता है वह मानव था या देवता।

दूसरा व्यक्ति वह विचित्र रमणी थी, जिसे सरदार अन्नपूर्णा या अपनी पत्नी कहकर परिचित किया करते थे। वह साधारण रमणी सरदार की छाया बनकर ही असाधारण हो उठी थी, यह सत्य मुझसे अधिक कोई नहीं जानता था।

तीसरा था वह नुकीली नाक वाला प्रोफेसर। यह वही प्रोफेसर था जिसे एक दिन मैंने कांगड़े की घाटियों में उस लड़की का छेड़ते हुए डांटा था। यह कहीं किसी कालेज में पढ़ाता था। वहीं के छात्रों को क्रान्ति का पाठ पढ़ाना ही दल में इसके जिम्मे काम लगाया था। इसकी दृष्टि में लोलुपता अत्यधिक थी। रमणी सदा ही उसके निकट समय बिताने की वस्तु था। यह उसे अपनी भाषा में रिक्रीऐशन कहा करता था। सरदार इसे बहुत भली दृष्टि से नहीं देखता हुआ भी प्रेम अवश्य करता था।

चौथा व्यक्ति था एक कहानी लेखक। उसके होंठ रह-रहकर कुछ विचित्रता से मुड़-मुड़कर रह जाते थे। वह बोलता हुआ कुछ घबड़ाता था, किन्तु अपने आस-पास के लोगों पर बड़ी ही कड़ी दृष्टि रखता था। उसकी ओर देखने से भय-सा होता था, पर वह था बड़ा ही शान्त और शिष्ट।

पाँचवा व्यक्ति था पेशेवर डाकू। न जाने वह डाकू किस प्रकार बन पाया था। उसकी कमनीय कान्ति और लड़कियों का सा कोमल शरीर देखकर मुझे तो कभी-कभी भ्रम हो जाता था कि वह पुरुष-वेश में नारी तो नहीं है। उसमें ममता की भी कमी नहीं थी। कहा जाता है कि वह शराब पीकर डाका डालने जाया करता था ताकि वह वहां रो न दे। वह अकेला ही वीरता में—सरदार गर्व से कहा करते थे—साठ-सत्तर को काट-कूटकर रख दे। ऐसा विचित्र था वह। वह हम लोगों से मिलने कभी-कभी आया करता था, अन्यथा हम तीन ही अधिकतर साथ रहते थे। अन्नपूर्णा को कभी भी कोई भयंकर काम नहीं मिलता था। वह तो स्थान-स्थान पर अन्नवस्त्रादि बाँटने का ही काम करती थीं। शिक्षित व्यक्तियों में समाचार-पत्र हमारे दल के उद्देश्यों के साहित्य अनुसार छिपे-छिपे पहुँचाती रहती थीं। सरदार का काम हममें से किसी को भी नहीं मालूम कि क्या था। मुझे गुप्तरूप से पिस्तौल द्वारा अपराधियों का हत्या करने का काम मिला था। पहली बार इस प्रकार दण्ड देते समय हृदय कांप रहा था। हाथ पिस्तौल के घोड़े तक पहुंचता ही न था। किन्तु जैसे ही गोली उस व्यक्ति को लग गई उसका तड़फना मुझे सचमुच ही कौतूहल पूर्ण दृश्य लगा।

उस दिन के पश्चात् मैंने अनेकों व्यक्तियों का रक्तपात किया और वैसा करके सदा ही मेरा मन प्रसन्न होता था। मेरी प्रतिहिंसा की ज्वाला बुझती जाती थी। मुझे शान्ति मिलती थी। इसी बीच एक बार चन्दर के पागल हो जाने के पश्चात मैं उसे पागलखाने में मिली थी। आरम्भ में ही लिख चुकी हूँ कि पागलखाने से लौटते समय सुधीर को एक अन्य रमणी के

साथ कार में उसी प्रकार रंग-रेलियां मनाते देखकर मेरी आंखों में खून उतर आया। जी चाहा कि एक ही गोली में ठण्डा कर दूं। मेरी पिस्तौल मेरी जेब में ही थी, किन्तु दल के नियमानुसार सरदार की आज्ञा के विरुद्ध मैं कर ही क्या सकती थी। जी कहकर रह गया। उसके दस दिन बाद सरदार के दर्शन हुए।

"मां काली! इस बार सुधीर पर कोप हुआ है क्या?" मैं चौंक उठा। मैंने उन्हें किसी दिन भी अपनी कथा नहीं सुनाई थी। उन्होंने मेरा चौंकना देख लिया।

"मां! सन्तान से कुछ भी न छिपाओ।"

"सचमुच सरदार अब की बार वही आज्ञा दो।"

सरदार के हृदय में बहुत से कोमल स्थान हैं, यह मैं जानती थी। किन्तु नारी-मनोविज्ञान पर भी उनका इतना अधिकार है यह मैंने उसी दिन जाना। वह कुछ देर चुप रह कर बोले—"बारी तो सुधीर की ही है, उसने इस बार एक बड़े भारी देशभक्त के प्राण संकट में डाल दिये हैं। वैसे भी वह पुराना देशद्रोही है, किन्तु सोचता हूं यह काम तुम्हें न देकर मैं स्वयं करूं।"

एक बार मेरे सिर से पैर तक बिजली सी कौंध गई। एक क्षण पूर्व मेरी यही अभिलाषा थी, किन्तु उसी को उसके मुख से सुनकर मैं घबड़ा-सी गई। फिर भी सरदार का स्वभाव जानती थी। अतः भली प्रकार सम्भलकर बोली—"सरदार वह मैं ही करूंगी। उसी से मुझे शान्ति होगी।"

सरदार के मुख का भाव बड़ा ही करुण हो उठा—"शान्ति नहीं होगी मां काली!" कुछ ठहरकर फिर बोले—

"मां मैंने तो यावज्जीवन दण्ड देना ही सीखा है, क्षमा नहीं। किन्तु अब जान पड़ता है मैं सारे जीवन भर भ्रम में ही रहा। श्रीकृष्ण का सा निष्काम कर्म करना हरेक मानव के भाग्य में नहीं है। हमारे प्रत्येक कार्य्य में स्वार्थ का, अपने निजी स्वार्थ का अंश आ ही मिलता है, तभी तो हमारे कार्य्य का महत्व घट जाता है ना? उसमें शान्ति नहीं मिलती है तो एक क्षणिक उत्तेजना। क्षमा किसी दिन भी कर सका ही नहीं। आज भी नहीं करूंगा। किन्तु माँ तुम यह अवश्य समझ लेना कि यदि किसी दिन अपनी आत्मा में क्षमा का यथार्थरूप देख पाओ तो इस दण्डविधि को तुरन्त ही क्षमा के चरणों में चुपके से चढ़ा देना।"

मैं सोच ही रही थी। अभी पिछली बार दीदी से मिली थी, वह भी तो यही कहती थीं—'नहीं, नहीं क्षमा कायरों का विधान है।' मेरी कल्पना दृष्टि के सम्मुख सुधीर का रंग-रास नाच उठा। अभी हाल का ही दृश्य है। मैं लगभग चिल्ला उठी—"सरदार, मुझे क्षमा नहीं चाहिये। मैं दण्ड ही दूंगी, तुम आज्ञा दो सरदार, शीघ्र हो।"

"मां काली, उत्तेजित न हो, काली होकर भी तुम मां की जाति की हो यह भूल न जाना। सुधीर के रक्त से तुम्हारी वेदना घटेगी नहीं वरन् और बढ जायगी। घटेगी तो केवल सच्चे मन से क्षमा करने से।"

"किन्तु उसने क्षमा चाही ही किस दिन थी?"

"यदि चाहने पर क्षमा देती हो तो उस क्षमा का महत्व ही क्या रह जाता रण-काली?"

विषय में किसी को कुछ मालूम नहीं कि वह कौन थे। उनके भूत जीवन का इतिहास शायद उनकी पत्नी भी नहीं जानती। उनका ज्ञान विशद था। वह निरक्षर थे, किन्तु इतिहास भूगोल में उनका ज्ञान सीमा रहित था। जान पड़ता है उन्होंने देश-विदेश घूमा भी बहुत है। कृष्ण चरित्र से उन्हें विशेष प्रेम था। कृष्ण को वह आदर्श अन्याय का प्रतिद्वन्द्वी कहा करते थे। कृष्ण की राजनीतिक नीति को वह सिंह-नीति कहकर प्रसन्न होते थे। उनका चरित्र विचित्र था। एक दिन उनकी पत्नी कहलाई जाने वाली देवी ने बड़े दुःख से कहा था--"वह मेरे पति हैं, किन्तु उनका मेरा पति-पत्नी का शारीरिक-सम्बन्ध कभी हुआ ही नहीं।"

मैंने आश्चर्य से कहा—"सो कैसे ?"

मेरे स्वर की सहानुभूति शायद उनकी अन्तरात्मा में उतर गई। वह धीरे-धीरे बोलीं—"वह बात अब तो भूल भी गई हूं। नाम गांव सुनकर क्या करोगी, किन्तु विवाह से पूर्व सच-मुच ही मेरा प्रेम एक युवक से हो गया था। युवक विवाह करने को राजी नहीं हुआ। मेरा कौमार्य्य उसके हाथों कभी का बिक चुका था। पिता ने धोखे से दूसरी जगह विवाह कर देना चाहा। मैंने आत्महत्या करने का भी प्रयत्न किया, किन्तु सब निष्फल— दुर्बल हृदय रमणी हूँ ना—

दूसरे की दो मास की सन्तान गर्भ में लिये विवाह-वेदी पर ही बैठी थी कि मेरे पाप की कथा भयानक रूप धारण करके मेरे श्वसुर के पास पहुंच गई। संक्षेप में पहला फेरा ले चुकने के पश्चात ही पति देव अपने पिता की आज्ञानुसार आसन छोड़ कर उठ खडे हुये। गांव वाले त्राहि-त्राहि कर उठे। पिता की

पगड़ी का सवाल था। पिता क्रोध से कह ही रहे थे—'ऐसी कुल-कलङ्किनी होते ही मर क्यों न गई।" माँ बेहोश हो गई थीं। ओह वह दृश्य मैं कल्पना में भी नहीं ला सकती। उसी समय न जाने कहां से दानव शरीर धारी देवता ने उस भयङ्कर रङ्गभूमि में प्रवेश करके पटरे पर बैठकर दो फूल छोड़कर पण्डित से कहा—'कन्यादान होगा, तुम मन्त्र पढ़ो।' पिता इनका दानवरूप देखकर घबड़ा गये, किन्तु और उपाय ही क्या था। मैं इनकी पत्नी होकर बिदा कर दी गई। दूसरी बार मिलने पर मैंने इनके चरण छूकर कहा—'मेरे देवता! मैं पापिनी हूं, किन्तु अब तुम्हारे चरण-स्पर्श से अवश्य पवित्र हो उठूंगी। मुझ पर विश्वास करो।' इन्होंने प्रेम से मुझे उठाकर मेरी आंखों की ओर क्षण-एक देखकर कहा—'देवी, तुम पापिनी हो सकती ही नहीं, तुम्हारी आंखों में क्रान्ति का सन्देश है। क्रान्ति का अर्थ पवन्द लगाना नहीं। क्रान्ति का अर्थ शोर-गुल नहीं है वरन् क्रान्ति का अर्थ है—जो अन्याय है, जो अशिव है, जो असुन्दर है उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डालना। सुन्दर शिव स्वयं ही प्रकृति मां लाकर उसके स्थान पर रख देंगी। तुमने संयम को नष्ट किया है, अच्छा किया या बुरा मैं नहीं जानता। किन्तु तुम शीघ्र ही उसी संयम को अपने जीवन का पथ-प्रदर्शक पाओगी। ठीक ही तुम्हारी दृष्टि में क्रान्ति का सन्देह है, देवी! तुम पवित्र हो, सत्य ही पूर्ण हो, तब ही क्रान्ति तुम्हारी आंखों में बसती है।' मैं कुछ घबड़ा सी गई। फिर भी मन ही मन जब उन्हें सब-कुछ अर्पण कर चुकी थी तो उनसे भय कैसा? मैंने स्थिर दृष्टि से कहा—'यह क्रान्ति है क्या?'

वह खूब जोर से एकबारगी ही हंस उठे—'सुनोगी क्रान्ति क्या है ? क्रान्ति मानव जीवन का सर्वोत्तम सत्य है। मानव जीवन का मुख्य लक्ष्य है। और यह है क्रान्ति का अर्थ कि जो कुछ विश्व में रक्खा हुआ उचित नहीं जंचता, सुन्दर नहीं दीखता उसे जड़-मूल से दृढ़ता पूर्वक, बल पूर्वक उखाड़ फेंकना. इस आकांक्षा से इस आशा से कि उसके स्थान पर उचित और सुन्दर की सृष्टि होगी, किन्तु वह सृष्टि उखाड़ने वालों के हाथों नहीं होगी वरन् होगी समय के हाथों प्रकृति के द्वारा। उन हाथों द्वारा जो सदा ही सत्य, ज्ञान और अनन्त हैं। वह दीख नहीं पड़ते, किन्तु उनसे अधिक शक्तिशाली हाथ और विश्वभर में है भी कहां? हमारे सुदूर विस्तृत देश में, इस कोटि कोटि मानव शरीर धारण करने वाले देश में, इस हिमालय से कन्याकुमारी तक फले-फूले देश में गौरांग प्रभुओं को मक्खन मिल जाता है, डबल रोटी अन्डा, मुर्गी, छेना, कबाब, फल-फूल सब ही कुछ मिल जाता है। किन्तु यह सब एकत्रित करने के लिये मां के शरीर का इतना अधिक रक्त बह जाता है कि अपनी सन्तान की भूख शान्त करने को दूध भी छाती में रह नहीं जाता। यही व्यवस्था आज विश्व भर की है। सत्ताधारी अत्याचारी को आवश्यकता से अधिक खाकर अजीर्ण हो जाता है, किन्तु जो केवल मानव ही हैं, अत्याचारी भी नहीं, पापी भी नहीं, उसे पेट भर अन्न भी नहीं मिल पाता। इसी व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर डालना हमारा उद्देश्य है। उसके बाद वहां क्या बनाना होगा ? उसकी व्यवस्था स्वयं सृष्टि-नियन्ता करेंगे। अशुभ उखाड़ भले ही फेंकें, किन्तु शुभ को सृष्टि कर सकना हमारे वश की बात नहीं है।'

उन्होंने और भी बहुत कुछ कहा जो सब कुछ तो मैं समझ भी नहीं सकी पर उन पर मेरी श्रद्धा बढ़ती ही गई। उस दिन से आज तक वह मुझसे प्रायः अकारण बोलते भी नहीं। केवल संसार की दृष्टि में मुझे अपनी स्त्री अभी तक बनाये हुए हैं। मेरे गर्भ की सन्तान जब पृथ्वी पर आने के तीसरे दिन ही चल बसी तो उन्होंने बड़े प्रेम से कहा था,— "नारी, एक बार जब पेट की सन्तान पाकर खो चुकी हो तो दुबारा उसका लोभ न करना। विश्व भर की कभी भी न खोने वाली सन्तति क्या तुम्हारी नहीं हैं? तुम मां हो चुकी हो, अब मां बन कर ही रहना—अमिट गौरवशालिनी जगद् जननी! भगवान तुम्हें शक्ति दें।"

एक दिन और उन्होंने कहा था "अन्नपूर्णा! नारी को खिलौना समझ कर एक दिन उसके साथ खूब जी भर-भर कर खेला हूँ। कदाचित तुम अपनी वासना-वृत्ति लेकर उस दिन मेरे सम्मुख आ खड़ी होत, तो मैं तुम्हें लेकर भी खेल डालता। किन्तु अब इस खेल से ऊब चुका हूं। कभी का खिलौने को मन्दिर में रखकर पुजारी बन बैठा हूं। अब मुझे फिर प्रतिमा को उठाकर खिलौना बनाने का लोभ नहीं होगा। वैसा करने की इच्छा करने पर भी तुम्हें भी खिलौना बना सकूं यह असम्भव है। तुम्हारे नेत्रों में मैंने अपनी प्रियतमा क्रान्ति के दर्शन किये हैं....."शायद यही उनका सच्चा-परिचय भी है। फिर भी उनका परिचय किसी भी वस्तु को कहना अनुचित नहीं तो कठिन अवश्य है। यह तो मैंने उनकी पत्नी से सुना था। किन्तु एक दिन उन भयंकर आंखों में मैंने स्वयं अश्रु-कण देखे थे। मेरे तिरस्कार युक्त वचन सुनकर वह भीषण दैत्य छोटे बच्चे के समान रोकर

"नहीं, नहीं मुझे यह सब नहीं सुनना है। मैं उसे दंड दूंगी।"

"फिर कहता हूं माँ, सोच लो। तुम अब भी उसे प्रेम करती हो।"

मैं यदि बिजली भी आंगन में गिर पड़ती तो इतना न चौंक उठती।

"यह झूठ है सरदार! बिलकुल झूठ है। मैं उसे घृणा करती हूं, खूब तीव्र घृणा।"

"यही तो तुम्हारा उसके प्रति उत्कट प्रेम का द्योतक है। यदि सचमुच ही घृणा करती तो इतनी जल्दी कह नहीं पाती ऐसे, तुम्हारा स्वर, तुम्हारे शब्द ही तो तुम्हारे रहस्य कह रहे हैं।"

"कुछ भी हो तुम आज्ञा दो या न दो, मुझे यह करना ही होगा।"

बड़ी देर मुख झुकाये चुपचाप बैठे रहने के पश्चात उस कठोर दैत्य ने आंखों में, अपनी भयंकर आंखों में, आंसू भरकर कहा—"अच्छा तब वही करो।"

"अभी जाती हूं।" मैंने उनके चरणों में प्रणाम किया। कितना महान् था वह व्यक्ति।

"नारायण तुम्हारे साथ रहें।" मैंने मानो आंचल पसार कर उनका आशीर्वाद ले लिया।

जाते समय अन्नपूर्णा द्वार पर ही मिली। हमारे दल में किसी एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से दल सम्बन्धी कार्य्य पूछताछ करना भयंकर अपराध समझा जाता था।

बहुत दिनों में दीख पड़ी हो काली" उन्होंने कहा। मेरा मन बड़ा ही अशान्त था।

"आज एक भयंकर काम करने जा रही हूँ।"

"क्या?" अन्नपूर्णा को किसी बहुत ही मानसिक अशान्ति के क्षण में मैंने अपनी कथा सुना दी थी। सम्भवतः उसने ही सरदार से कहा हो।

"सुधीर की हत्या करूंगी।" अन्नपूर्णा चौंक सी पड़ी। शीघ्र ही मेरा हाथ पकड़कर अपने कमरे में ले गई। वहीं चटाई पर बैठकर अनेकों बार हमने दुःख-सुख की बातें कीं थीं। बरबस मुझे चटाई पर बैठाकर बोली—"सरदार का शरीर कठोर और कुरूप है पर मन बड़ा ही कोमल है। तुम सुधीर को उनसे कह कर दण्ड से बचा लो, बहिन!"

"किसके सुधीर को बहिन, मेरा भी नहीं, दीदी का भी नहीं, एलिस का भी नहीं, चन्दर का भी नहीं, किसी का भी तो वह है नहीं बहिन!"

"किसी और का हो या न हो, तुम्हारा तो अवश्य है। बिज्जी तुम ऐसा न करना। इस काली कराली के चक्कर में न पड़ो। तुम विजया रानी हो।" बड़ी मिन्नता से कह रही थी वह "विजया एक दिन रावी के अथाह जल में डूब मरी। बहिन! अब जो देख रही हो वह रण-चण्डी ही है।"

"अपने को धोखा न दो रानी! दूसरे को धोखा देना पाप है। किन्तु अपने को धोखा देना महापाप से भी कुछ

अधिक ही है। सच कहती हूं – यदि किसी दिन सरदार स्वीकार कर लेते तो शायद भूल भी पाती, किन्तु उस पापी को जिसने एक बार मेरा सर्वस्व नष्ट किया था क्या आज भी मैं भूल पाई हूं ? और क्या कभी भी भूल पाऊंगी ?"

"तुम्हारी बात दूसरी है बहिन !" मुझे सरदार के प्रथम परिचय के वाक्य याद आ गये। "तुम नारी थीं और नारी हो। नारी के अतिरिक्त किसी दिन अन्य कुछ नहीं बनी, किन्तु मैं नारी थी ही कब ? शायद रुधीर को पाकर नारी हो जाती। किन्तु वह मेरे जीवन में अभिशाप ही होता।"

"भूलती हो बिज्जी, नारी चाहे जो बन जाये किन्तु वह रहेगी नारी ही। किसी तरह भी वह नारीत्व को बहा पायेगी नहीं। तुम रुधीर को क्षमा कर दो।" उसका स्वर बड़ा ही कातर था। "करूंगी, किन्तु जब मेरे रिस्तौल की गोली उसकी छाती में होगी, तब सचमुच ही उसे क्षमा कर दूंगी और स्वयं को भी।"

अन्नपूर्णा मेरे पैरों के निकट ही औंधी गिर कर रो पड़ी—"कितनी कठोर हो तुम।"

"चन्दर पागल न होती तो शायद वैसा न कर पाती। किन्तु आज मुझे विश्व भर में किसी की भी तो चिन्ता है नहीं।"

"आह" वह पड़ी ही रही। मैं खड़ी हो गई। "जाती हूं अन्नपूर्णा बहिन ! फिर कभी मिली तो इस हत्या की पूरी कथा सुनाऊंगी।" मैं ज्यों ही द्वार तक पहुँची, जान पड़ा कि अन्नपूर्णा अचेत होकर गिर पड़ी। जान-बूझकर मैंने अन्नपूर्णा के इस हद तक पहुँचे हुए अस्वाभाविक दुःख पर ध्यान नहीं

दिया.....एक अपरिचित की मृत्यु सम्भावना से इतना दुःख ! द्वार से बाहर नहीं हुई थी कि अन्नपूर्णा चिल्ला उठी—"जातो हो तो सुनती जाओ, सुधीर ही मेरे जीवन का प्रथम और अन्तिम प्रेमपात्र था। मृत्यु से पूर्व उससे कह देना कि नलिनी अन्तिम क्षण तक तुम्हारी ही रहेगी।" मैं चौंक कर ठिटक गई। फिर बड़ी जोर से ठठाकर हंस उठी—

"कह दूंगी, नलिनी बहिन ! किन्तु किस-किस के सन्देश वह दूसरे जगत में अपनी छाती के समीप रखकर ले जायगा ?" उसी प्रकार अवज्ञा की हंसी हंसते हुए मैं बाहर हो गई, किन्तु दुःख है-नलिनी का सन्देश कभी भी सुधीर को पहुंचा पाई नहीं। यह नलिनी से मेरी अन्तिम भेंट थी। कितनी करुण, कितनी दर्द भरी, और कितनी अधूरी। जी चाहा लौटकर उसे सान्त्वना दूं, पर हृदय समवेदना से नहीं प्रतिहिंसा से भरा हुआ था। मैं द्रुतगति से चली गई, चलती ही गई, जबतक कि स्टेशन पर पहुंच कर ट्रेन में बैठ नहीं गई। चलती ही गई— मैं भी और मेरी विचारधारा भी।

"अन्त"

कथा थोड़ी ही रह गई है। मुन्ना भी कुछ रो सा रहा है। अतः उसे भी देखना ही होगा। अभी तक कुछ उसका प्रबन्ध कर सकी हो नहीं हूँ। एलिस यद्यपि शैल और गिरजा को भली प्रकार सम्भाल लेती है। फिर भी अभी तक मुझे सन्तोष नहीं हुआ है।

हां, तो सिलसिले वार ही कहूं। एक प्रकार से अन्नपूर्णा बहिन के आंसुओं की उपेक्षा करके जिस समय मैं ट्रेन में बैठ

गई तो मेरा मन बहुत उत्तेजित था। मैं उस डिब्बे में अकेली ही थी और मेरी विचारधारा भी दौड़ रही थी, सरपट चाल से। इसी अनिश्चित सी अवस्था में मैं शहर पहुँच गई। उस समय रात्रि होगई थी। मेरे पास कुछ भी सामान नहीं था। काम करके मुझे दूसरी रात्रि के पूर्व ही घर लौटना जो था।

तीन बजे थे, मैं यूं ही एक हल्की सी बैंच पर वेटिंग रूम में जाकर लेट रही। रेलगाड़ी में तो सो सकी ही नहीं थी। लेटते ही होश नहीं रहा। प्रातः जब आंख खुली तो नौ बज चुके थे। प्रोफेसर का पीरियेड ग्यारह बजे होता था, यह मुझे मालूम था। यद्यपि प्रोफेसर के पास जाने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं थी परन्तु समाचार-वाहक तो दल का वही था। एक तेज तांगा लेकर उसके घर पहुंचते २ साढ़े दस बज गये। जाने से पूर्व वेटिंग रूम में ही स्नान कर लिया था।

समाचार देने की आवश्यकता न थी, खुले द्वार से अन्दर पहुँचते ही ड्राईंग रूम सामने पड़ता था। प्रोफेसर भोजन कर रहा था, मुझे देखते ही चिल्ला उठा खुशी में—"ओह एक दम विनया" वह मुझे व्यंग से 'विनया' ही कहा करता था।

"हां एकदम, अपने नौकर को एक थाली और लाने को कहो, बातचीत फिर होगी।"

"ठीक" उसने बेयरर को एक थाली और परोसवा कर लाने को कहा। कल दिन भर ही लगभग उपवास में बीता था। मैं खाने पर टूट पड़ी।

"पन्द्रह मिनिट और हैं, मुझे पौने ग्यारह कालिज जाना है।" उसने घड़ी की ओर देख कर कहा।

"मुझे समाचार चाहिये सुधीर चन्द्र बैरिस्टर के..... आज चार बजे से लेकर दस बजे तक के प्रोग्राम का।"

मैंने एक कौर मुख में देते हुये कहा—"आज सुधीर की बारी है, ओह बिचारा। "तुम कितनी निष्ठुर हो विनया !"

"तुम्हारा हाथ क्या किसी दिन भी कांपा नहीं ? कितनी सुन्दरहै तुम्हारी मुख-छवि और कितनी आकर्षक, किन्तु कितना भीषण. कितना कठोर है तुम्हारा कर्म विधान।"

कई बार इससे पूर्व भी प्रोफेसर मुझे मेरे सौन्दर्य के विषय में बहुत कुछ सुना चुका था, किन्तु अब इन चीजों का असर होना मुझ पर समाप्त हो चुका था, घड़ी में ग्यारह बजने में बीस मिनिट थे, मैंने मुस्कराकर कहा—"प्रोफेसर ! पाँच मिनिट और हैं उठकर हाथ धो लो। मैं तब तक पैर फैलाकर यहां सोऊंगी। समाचार मुझे साढ़े तीन बजे तक मिल जायें।" कहकर मैंने कठोर दृष्टि से प्रोफेसर को ओर देखा। उसने अपने बेयरर को बुलाकर कुछ समझाकर विदा कर दिया।

"आप खुशी से आराम करें। घर आपका ही है।" वह जब कुछ चिढ़ जाता था तो आपका ही प्रयोग होता था, अन्यथा तुम ही कहा करता था। मैंने इसकी परवा भी नहीं की। जाते समय फिर एक बार मेरी ओर मधुर दृष्टि से देखकर बोला—दो बजे आ जाऊंगा विनया !"

"नहीं साढ़े तीन बजे आना। डेढ़ घण्टा कहीं और ही बिता देना।"

उसने कुछ इधर-उधर करके अत्यन्त संकोच से कहा,—"मैंने अपने एक मित्र को दो बजे का समय दिया है।"

प्रोफेसर के घर में रसोई के अतिरिक्त दो ही कमरे थे—एक का प्रयोग बैठक और खाने के कमरे की भांति होता था और दूसरा सोने आदि के लिये।

"यह मैं नहीं जानती। बेयरर से कह दो कि उसे आने पर विदा कर दे।"

"वह तो तुम्हारे काम से जायेगा और मेरा मित्र तो..... स्त्री है।"

"छिः, अभी स्वभाव छूटा नहीं, बूढ़े तो हो गये हो, प्रोफेसर !"

"तुम यह घर सम्भाल लो तो स्वभाव छोड़ दूं विनया।" निर्लज्जता पूर्वक उसने कहा।

"मैं नहीं जानती, मैं साढ़े तीन बजे तक घर में रहूंगी और तुम्हारे साथ एक क्षण भी इस घर में ठहरना असम्भव है। पौने ग्यारह हो गये, तुम जाओ।"

"क्या तुम मुझसे सदा इसी प्रकार घृणा किया करोगी विनया ?" उसने दीनता से पूछा।

"जाओ, प्रोफेसर" मैंने दृढ़ता से कहा। खिसिया कर वह चला गया। खाना लगभग समाप्त ही था। दो चार कौर और खा कर मैं एक पुस्तक शेल्फ में से निकाल कर पढ़ने लगी। मस्तिष्क को आज मैं एक क्षणभर भी सोचने के लिये देना नहीं चाहती थी। मुझे डर था कि कहीं मैं स्वयं ही अपने लक्ष्य से भ्रष्ट न हो जाऊं, अधिक भावना में पड़कर।

पुस्तक में जी लगा नहीं। रह-रह कर मन न जाने क्यों अन्नपूर्णा की दीन-कातर मूर्ति की ओर ही दौड़ जाता था।

वह सुधीर के जीवन की भीख माँगती है ? किसलिये ? सुधीर तो एकमात्र उसका है नहीं। और मैं सुधीर के प्राण नष्ट करने को तत्पर हूं, किसलिये ? उससे मेरी कुछ हानि तो है नहीं। कितनी विभिन्न प्रकृति है दो व्यक्तियों की, दो नारियों की। अपनी विवेचना पर मैं स्वयं हंस पड़ी। प्रोफेसर साढ़े तीन बजे तक नहीं आया। दो बजे के लगभग, एक सुन्दर-सी लड़की, शायद कोई कालेज की छात्रा हो, आई भोली सी। मुझे भी इस समय किसी व्यक्ति की आवश्यकता थी। मैंने प्रोफेसर की बहिन कहकर अपना परिचय उसको दिया। पहले तो शायद उसको विश्वास ही नहीं हुआ किन्तु शीघ्र ही मुझसे बड़े खुले मन से बात करने लगी। उसकी बातों से जान पड़ता था कि वह प्रोफेसर का बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखती है। जी तो चाहता था कि उससे कह दूं कि वह दुष्ट कदापि भी किसी की श्रद्धा भक्ति का पात्र नहीं, किन्तु बहिन होकर बहिन का पार्ट खेलना ही था।

"अभिनय सफल रहा, किन्तु अपने जीवन में उस भोली लड़की को कभी भूल सकूंगी नहीं। कितनी निर्दोष, कितनी सरल थी वह और उसका श्रद्धा का पात्र कितना दुष्ट कितना चंट।

तीन बजे के लगभग लड़का चली गई। मैंने वर्षों बाद दर्पण के सम्मुख खड़े होकर अपनी मुख-छवि देखी। वह सरल यौवन का निर्दोष लावण्य न जाने कहां चला गया था। आंखों में कुछ तीव्रता तो आ गई थी किन्तु हिंसक कठोरता की ही अधिकता थी।

मैं कह उठी "मां की लाड़ली विजया ! तुम कब की ही मर गई हो अब जी न उठना। यहाँ से चार फर्लांग की दूरी पर

वह घर है जहाँ कि उस विजया का जन्म हुआ था, किन्तु वह विजया तो मर गई है। अब तुम रण-काली हो, केवल रण-काली ; कहीं भूलकर भी विजया न बन बैठना।"

मां की स्मृति से रोकते-रोकते भी दो चार आंसू मेरी आंखों से गिर पड़े। बड़ी तीव्र इच्छा हुई कि दौड़कर चार फर्लाङ्ग की दूरी पार करके मां के चरणों में गिर कर कहूं—"अभागी अनाथा लड़की को जिस दिन गोद में लेकर तुम विवाह के कुछ ही घन्टों बाद मां बन गई थी वह क्षण ही अशुभ था। उस दिन से आज तक सदा ही यह तुम्हारी बिज्जी तुमसे प्रेम-वात्सल्य, सब कुछ भर-भर झोली लेती ही रही, किन्तु बदले में तुम्हें दुःख-दर्द के अतिरिक्त कभी भी कुछ न दे सकी।"

मुझे स्पष्ट रूप से जान पड़ा कि मां कह रही है रो-रो कर—"मेरी दुःख देने वाली बिज्जी भी पास रहकर निरन्तर दुःख ही देती रहती तो भी मैं सुखी रहती, किन्तु आज वह भी कहां है ?"

मैंने अपना शरीर दर्पण के सम्मुख से खींच लिया। मन से कहा-"मेरी मां एक ही है, केवल एक; और वह है भारत मां! मेरा देश! अन्य कोई मेरी मां हो सकती ही नहीं.....।"

इसी समय बेयरर ने आकर सूचना दी कि आज लगभग पांच से आठ-नौ बजे तक सुधीर नदी के तट पर ही होंगे। किसी पिकनिक में शामिल होने जा रहे हैं। मैं समाचार सुन कर खिल-खिला उठी। घर की अपेक्षा बाहर ऐसे काम करने में अधिक सुविधा रहती है। मुझे कुछ विश्वास सा हो गया कि स्वयं भगवान की ऐसी ही इच्छा है। मैं विश्वास के साथ नदी

की ओर पाँच बजे के लगभग पैदल ही चल दी। चाहती थी कि छः बजे तक का समय उन्हें आनन्द— अन्तिम बार सांसारिक आनन्दों का भोग करने के लिये दे दूं।

कथा थोड़ी सी और है, संक्षेप में ही कहे देती हूं। कुछ बेसुध-सी अवस्था में मैं नदी-तट पर पहुँची। दूर से पुल पर खड़े होकर मैंने दूरबीन लगाकर देखा- सचमुच ही सुधीर वहीं था। सुन्दर नए सूट में उसकी छवि कुछ अधिक ही खिल उठी थी। आस-पास चार-पांच व्यक्ति और भी थे किन्तु मैंने उन पर ध्यान दिया ही नहीं। मेरा निशाना अचूक ही था। मैंने पिस्तौल साड़ी के भीतर ही साधी। हाथ रुक सा गया। एक बार जी चाहा कि नदी के गम्भीर जल में इस मनुष्य-मारक यन्त्र को सदा के लिये जल-समाधि दे दूं। अतल जल में सो कर यह फिर कभी भी किसी हंसते हुए प्राणी की हंसी सदा के लिये बन्द न कर पाये। पर नहीं, नहीं, मैं तो क्रान्तिकारी थी ना? सृजन करना मेरा काम नहीं, नष्ट करना मात्र ही मेरा काम है। मैं तो नष्ट करूंगी ही। सरदार कहते थे—"शरीर से मोह करना तो कायरता है। जिसका मन इतना दृढ़ नहीं कि वह अनिश्चित वस्तु-आत्मा की अमरता पर सहज ही विश्वास कर सके, वही तो शरीर को लेकर दुःख-सुख मानता है, अन्यथा शरीर का अस्तित्व, इसमें सत्यता का भास है ही कहां?" क्षण-मात्र में खिल-खिलाता हुआ मुख पृथ्वी पर सदा के लिये लेट जायेगा, यह हंसी फिर सुनाई देगी नहीं.....।

किन्तु अनेकों मुखों की हंसी नष्ट कर डालने के पश्चात् आज यह अचानक दुर्बलता क्यों? नहीं, नहीं, इसे दंड देना ही

होगा। इसने मेरा लोक और परलोक दोनों ही नष्ट कर डाला। इसने दीदी का जीवन प्रभात काल में ही सुखा डाला। इसने देश के महाप्राण नष्ट करने का सम्पूर्ण उद्योग कर डाला, यद्यपि न जाने कैसे ठीक फांसी के प्रातःकाल ही सरदार उस व्यक्ति को जेल की सुदृढ़ दीवारों से सुरक्षित निकाल लाये। प्राण बच तो गये सरदार की चतुराई से, पर सुधीर ने तो उन्हें फांसी की काली डोरी के हवाले करके ही चैन की सांस ली थी। मैं स्वयं धीरे-धीरे दुर्बलता का अनुभव करने लगी, किन्तु स्वयं को दृढ़ रखने के लिये मैंने कहा—

"मैं अवश्य इसे दंड दूंगी, दूंगी, दूंगी।"

क्षणमात्र में ही गोली उस ओर जा चुकी थी। आश्चर्य से मैंने देखा कि कुछ ही सैकेन्ड पश्चात किनारे खड़ी हुई कार भी दौड़ती चली गई। समझी सुधीर को अस्पताल की ओर ले चले हैं। इस समय तक अन्धकार छा गया था, उस सूने में हत्या करने वाले का पता पाना भी कठिन है, शायद यही सोचकर वह लोग उसे अस्पताल जल्दी से लेकर चले गये होंगे। एक अभिलाषा थी सुधीर से मृत्यु के पूर्व दो बातें करने की। एक तो अन्नपूर्णा बहिन का सन्देश देना था और दूसरी मुझ जैसी नारी के लिये एक विचित्र ही इच्छा थी, वह थी मृत्यु के मुख में अपने हाथों ही पहुँचाये हुए सुधीर के चरणों पर सिर रखकर एक बारगी हाहाकार कर उठना। बिजली की चमक की भांति यह इच्छा हुई कि आज यह चिर प्रिय सखि पिस्तोल को अन्तिम बार अपनी ही छाती से लगाकर यहीं जल समाधि कर लूं। सम्भलकर दूर-वीक्षण यन्त्र उठाया, उधर की ओर दृष्टि कर डाली। अरे, यहां तो कई व्यक्ति पड़े या खड़े हुए हैं।

शीघ्रता से मैं उस ओर बढ़ी, बढ़ती ही गई। यह चार मिनट मेरे लिये चार युगों से कम न थे। हाय, मैंने पहुंचते ही पहुंचते देखा दीदी— घायल, दीदी से लिपट गई। मेरी गोली का शिकार सुधीर नहीं वरन् हुई थी दीदी, त्यागमयी दीदी, छाती पर सब कुछ शान्ति पूर्वक सह जाने वाली मेरी दुःखिनी, चिर विधवा दीदी— मैं रो उठी।

"हाय दीदी, मेरे हाथों यही होना था क्या ?" मैं विलाप कर उठी।

"नहीं, बिज्जी तू अपनी दीदी को थोड़े ही संसार से बिदा करना चाहती थी। फिर भी तेरी हिंसा-वृत्ति को कोई भेंट तो लेनी ही थी। मैं संसार में और रहकर करूंगी ही क्या ? यह सोचकर सुधीर के स्थान पर अपनी बलि देकर ही तेरी गोली ठंडी कर रही हूं।" दीदी ने अत्यन्त कष्ट से रुक-रुक कर कहा।

"ओह, मेरी दीदी, सुधीर तो बचेगा नहीं, बच पायेगा ही नहीं, बच सकेगा ही नहीं किन्तु तुमने व्यर्थ ही उस दुष्ट के स्थान पर अपनी बलि दी।"

सुधीर मर चुका है यह सोचकर मुझे उसके प्रति सहानुभूति हो गई थी। पर नीच कायर सुधीर अपने स्थान पर प्राण देने वाली अद्भुत क्षमताशालिनि रमणी को घायल रेत में बिना किसी प्रिय जन के दो चार आँसू भी देखे मरने को छोड़कर, नन्हे-नन्हे तीन जीवों को उस दृश्य का मूक साक्षी बनने को, अपनी व्यथित अभागी पगली पत्नी को मौन बैठे रहने को छोड़ कर, स्वयं प्राणभय से कार द्वारा भाग गया चोरों की भांति, छीः।

"दीदी, तुम्हारे प्राण बचाने ही होंगे, मैं शीघ्र ही कोई सवारी ढूंढ कर लाती हूं।"

मुझे स्वयं अपने शब्दों पर विश्वास नहीं था। गोली ठीक हृदय के समीप ही लगी थी।

"मेरे प्राणों का सर्वोत्तम उपयोग हो चुका है, अब उन्हें बचाने की कोई आवश्यकता नहीं रही। वह बचेंगे भी नहीं..... और जिन्हें कभी किसी दिन भी प्यार न कर सकी वह आज कितनी उत्सुकता से मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं, मुझे जाना ही होगा बिज्जी.....फिर मुझ जैसी भाग्यशालिनी कौन होगी.....। जाने से पूर्व किसी प्रिय जन की आँखों के कोने में दो बूंद आंसू देख पाना बड़ा सौभाग्य है बिज्जी, सो तू नहीं जानती।"

न जाने किस असाधारण शक्ति द्वारा दीदी डूबे से स्वर में सब कुछ कहे जा रही थी। मैं एक-एक अक्षर पी रही थी। बच्चियां दोनों सहम सी गई थीं। मुन्ना तो नर्स सहित बारादरी की ओर गया हुआ था। दोनों बच्चियां सहमी सी चन्दर की गोद में छिपी थी और चन्दर चकराई हुई सी नदी की लहरों की ओर देख रही थी। वह शायद घटना को समझी भी नहीं थी। और कोई भी वहां नहीं था।

मैं रोती ही रही। दीदी फिर बोलीं, धीरे-धीरे जैसे स्वर कुएं में से आ रहे हों—"विश्व भर की अनुभूतियों से बड़ा विश्वास है और उससे भी बड़ी एक वस्तु है—वेदना, किन्तु इस वेदना से भी बड़ी जो वस्तु है वह है क्षमा। यह किसी दिन भी भूल न जाना बिज्जी रानी!" मैं चुप ही रही। कितनी सरलता से यह नारी कितने सहज में ही अपनी हत्या-कारिणी

को भी क्षमा कर पाई थी, मेरे लिये यह नई ही वस्तु थी। आँखों की गंगा-यमुना उस अनुपम अद्भुत क्षमा शालिनी रमणी के मुख पर अंकित अन्तिम भाव भी पढ़ने नहीं देती थी। मेरा ऐसा भाग्य था ही कहां ?

"बिज्जी ! पिता कभी का मर गया, माँ भी आज मर रही है। इन चार अनाथ बच्चों को तेरे हाथों में सौंप रही हूं। किसी दिन भी तुमसे मेरे सिद्धान्त मिले नहीं, फिर भी तुमसे अधिक सुरक्षित, सुव्यवस्थित हाथ इनकी सम्भाल के लिये ढूंढ पाती नहीं हूं। यही अपने बिल में मैंने अनेकों मास पूर्व लिख रक्खा है।"

मैं चकरा गई। दीदी को अन्तिम समय कष्ट देना उचित नहीं, किन्तु मैं यह पूछने का कौतूहल दबा सकी ही नहीं। "दीदी, सारे जीवन भर तो तुम्हें रुलाती ही, जलाती ही रही, फिर भी मुझ पर तुम्हारा ऐसा गम्भीर विश्वास हुआ कैसे ?"

"जला पाई हो, यही तो विश्वास का कारण है। विश्व में दूसरों को रुला पाने, जला पाने योग्य भी साहस हर किसी में नहीं होता। तुममें वह शक्ति, वह साहस, वह दृढ़ता है भैरवी ! इसी से तो तुम्हें इतना प्यार कर पाई थी। तुम पर इतना विश्वास आज भी कर सकी हूँ।"

अब चन्दर शायद कुछ समझकर चीख उठी—"माँ री ! तुम कहां हो ? दीख पड़तीं नहीं।"

"माँ को और अधिक देखकर क्या करोगी चन्दर !—अभागी" मैंने फटे से स्वर में कहा।

दीदी के संकेत से मैंने चन्दर को घसीटकर उनके पास कर दिया, उन्होंने चन्दर को प्यार करके कहा—"जो दुःख और सुख दोनों में स्वयं ही वरदान स्वरूप है, उन्हें क्या दूं जान नहीं पड़ता। फिर भी जो सदा शिव हैं उनकी दिव्य दृष्टि में तेरा मूल्य किसी दिन भी कम न हो, यही माँ का आशीर्वाद है।"

कुछ रुक-रुक कर कहने लगीं—"मुन्ने को कोई भी आशीर्वाद नहीं दूंगी। चन्दर जैसा बहिन का भाई होना स्वयं ही एक वरदान है किन्तु बच्चियों को मन से आशीर्वाद देती हूं कि वह चन्दर जैसा विश्वास, सहज-स्नेह और सहनशीलता तथा तेरे जैसा तेज पा जायें।" रक्त घाव से बह रहा था फिर भी दीदी डूबते स्वर से न जाने कैसे रुक-रुक कर अव्यवस्थित स्वर में सब-कुछ कहे जा रही थीं। पलक भर में चन्दर बच्चियों को गोद से गिरा कर दीदी से लिपट गई, रोने के लिये नहीं वरन् गाने के लिये। चन्दर गा रही थी। बिचारी पगली!

"भज मन नारायण को नाम..... ....." चन्दर के स्वर चढ़ रहे थे, किन्तु दीदी के प्राण, स्वर धीमे होते-होते डूब गये, डूब गये। उस समय रात्रि का घोर अन्धकार छा गया था। कार भी ड्राईवर लेकर तब तक पहुँच गया था।

दीदी के प्रति अपने अन्तिम कर्तव्य पूरे कर ही रही थी कि एक अन्धेरी सन्ध्या में सरदार जी आ खड़े हुए। घर की रीति के अनुसार सन्ध्या दीपक को प्रणाम करके, यद्यपि मुझे इसमें तनिक भी विश्वास नहीं था पर वैसा न करती तो दीदी की आत्मा को कष्ट जो होता, ज्यों ही सिर उठाया दीख पड़ी सरदार की कल्याणी शिव मूर्ति। मैंने उन्हें भीतर ले जाना चाहा पर वह बोले— "नहीं, नहीं, यहीं बैठूंगा। काली तुम भी बैठ जाओ।"

वह सचमुच ही तुलसी चौरे के पास वाले वृक्ष के पास ही बैठ गये। मैं भी समीप ही धरती पर बैठ गई।

"पहली ही बार तुमसे गलती हुई काली!"

"मुझसे गलती नहीं हुई। दीदी ने स्वयं ही इच्छा से सुधीर की मृत्यु अपने ऊपर ओढ़ ली।"

"जानता हूं, तुम लोग वैसा कर सकती हो, सहज ही कर पाती हो मां काली! तुम लोग मां की जाति की हो ना, इसीलिये तो मैं तुम्हारी इतनी भक्ति करता हूं।"

"अब क्या आज्ञा है सरदार!"

"तुम्हें आज्ञा दूंगा मां, काली? तुम ही तो आज तक मुझसे सब कुछ करवाती रही हो। जिस दिन तुम्हारी इच्छा नर संहार की थी तुमने किया। आज यदि तुम उमा-रूप में भुवन-मोहनी बनकर संसार का पालन करना चाहोगी तो विश्व भर में किसकी सामर्थ है जो तुम्हें वैसा करने से रोक सके।" सरदार ने सहज स्वर में कहा।

"सरदार जी, क्रान्ति लुभावनी है, सुन्दर है। उसकी आवश्यकता है, अवश्य है। नष्ट होना करना भी आवश्यक है किन्तु यह आज ही समझ पाई हूं कि प्राण देना प्राण लेने से कहीं अधिक कठिन है और रचना क्रांन्ति से छोटी तो किसी प्रकार हो सकती ही नहीं है।"

"जानता हूँ, जानता हूं मां, काली! रचना और क्रान्ति दोनों ही आवश्यक हैं। तुम करती हो निर्माण और पुरुष करता है संहार। भूले से नारी को भी संहार कार्य करते देखकर सोचा था कि मैं विश्व में एक सफल परिवर्तन कर सकता हूं,

किन्तु आज जान पड़ा कि वह मेरा झूठा अभिमान था, व्यर्थ का ही दावा था। नारायण की रचित सृष्टि में आमूल परिवर्तन तो क्या ? मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति एक तिनका भी नहीं बदल पाते। कितना ही छुपा ले नारी, उसके व्यक्तित्व में कोमलता का एक प्रबल झंझाघात किसी न किसी कोने में अवश्य ही छिपा रहता है। वह एक न एक दिन प्रकट होकर ही रहेगा, चाहे जिस समय हो।"

"नहीं, नहीं, सरदार मेरा स्थान आज भी घर से बाहर ही है। मैं आज भी संहारपूर्ण क्रान्ति की भक्त हूं। मुझे निर्माण करना आता ही नहीं।"

"वह तुम्हें किसी दिन सीखना पड़ता भी नहीं, माँ। वह सब तो तुम जन्म से सीख कर ही आती हो।"

"नहीं महाराज, मुझे इस प्रकार दल से बाहर न करो। मैं क्रान्ति की ही पुजारिन हूं। जीवन के प्रभात में जो ग्रहण कर चुकी हूँ उसे आज त्याग नहीं सकूंगी, किसी प्रकार भी नहीं।"

"तब इन नन्हे बच्चों की जो माँ बन बैठी हो उसका क्या करोगी कालो ? नहीं, नहीं, नर-संहार का काम अब पुरुषों को ही दूंगा, तुम कल्याणकारी प्रतिमा हो। कल्याण ही करो, शिव ही तुम्हारा ध्येय है। तुम्हारे चरण मंगल ही करेंगे। संहार का काम तुम्हारा नहीं है माँ। काली मूर्ति त्याग कर अब उमा रूप ग्रहण करो, मां अन्नपूर्णा !"

"नहीं सरदार ! यह मेरे जीवन का ध्येय नहीं है। इसे लेकर मैं जीवन-यापन कर सकूंगी नहीं। इनका प्रबन्ध करके मुझे शीघ्र ही तुम्हारे चरणों में आना ही पड़ेगा।"

"सुनो मां, उत्तेजना समाप्त हो गई। मैंने भी आज जीवन की सुनहली सन्ध्या में जीवन की भूल समझ ली। काली रूप त्याग कर विश्व-जननी का रूप धारण करो। अखिल विश्व की सन्तान तुम्हें गुहार लगा रही है जननी! जननी ही बनो और कुछ भी नहीं। जननी बनकर सन्तान को हृदय से लगा सको—यही आशीर्वाद देता हूं।"

सरदार का स्वर बड़ा ही करुण था "जननी हो सकने पर भी क्या इन्हीं चार सन्तानों में बंधी रह सकोगी मां? कार्य क्षेत्र तो तुम्हारा तब भी विस्तृत होगा, अत्यधिक विस्तृत। किन्तु उसका विस्तार संहार के लिये नहीं निर्माण के लिये होगा। संहार छोड़कर निर्माण व्रत धारण करो, मां!"

"अच्छा, चलता हूं। मां के दर्शनों की इच्छा थी सो हो ही गये," उन्होंने फिर कहा। मैं इसी बीच गम्भीर-विचार निमग्न हो गई थी। कुछ चौंककर बोली—"अभी चले जाओगे सरदार, कुछ देर ठहरो ना।" मेरे स्वर में विश्व भर का आग्रह भरा था, पर मैं विश्वास पूर्वक जानती थी कि सरदार को विश्व भर में उनकी इच्छा से हटा सकने वाला कोई जन्मा ही नहीं; बल पूर्वक भी नहीं, विनती से भी नहीं, करुणा उत्पादन करवा करके भी नहीं, किसी प्रकार भी नहीं, किसी तरह भी नहीं।

"मां, तुम्हारी छाया में तो रहता हूं। तुम्ही लोगों की स्नेह, यत्न की छाया में पलकर बड़ा हुआ हूं। आज दिन भी अन्नपूर्णा का आदर, सेवा, यत्न और प्यार लेकर ही जी रहा हूं। पर इस समय और तुम्हारी छत्रछाया में ठहर न सकूंगा मां!" कहकर वह एकदम उठ खड़े हुए।

"कुछ मेरे हाथ से ग्रहण तो करो सरदार, भोजन तैय्यार ही होने वाला है।"

"तुम्हारा प्रसाद पा सकता तो धन्य हो उठता मां, पर ठहरने का समय नहीं है। स्टेशन पर मेरा भोजन भली प्रकार हो जायेगा।" कई बार सरदार का मूल भोजन जड़मात्र भक्षण भी देखा था। वह याद करके आज इच्छा होते हुए भी यह कहने का साहस नहीं हुआ कि स्टेशन का भोजन भी कोई भोजन होता है, घर पर ही खा जाइये। मैंने भी अनेकों वर्षों के गत जीवन में हर प्रकार का ही भोजन पेट की कटोरी में भरा था जीवन रक्षा के लिये। यहां तक कि एक बार तो चार दिन पश्चात मुझे केवल मात्र एक जंगली सुअर के अधपके मांस पर ही रात्रि व्यतीत करनी पड़ी थी। पर फिर भी सरदार के भोजन के साथ उसकी तुलना करना भी कठिन है, चुप रह गई। सरदार चले गये। जाते समय मैंने चरण छूने का प्रयास किया। पर वह हंसकर बोले— "मां सन्तान को आशीर्वाद देती है, कुछ लेती नहीं।"

वह दैत्य शरीर देवता मन लेकर चला गया।

सरदार अपने व्यक्तित्व की कुछ ऐसी अमिट छाप मेरे मन पर छोड़ गये कि मैं वहां अधिक दिनों तक ठहर न सकी। चन्दर मेरे पास अपने पिता के घर में ही आ गई थी।

एक दिन वधु वेष में लाल साड़ी पहनकर सिर पर सौभाग्य-सिन्दूर धारण करके वह इसी घर से श्वसुरालय गई थी। तब साथ उसका पति, उसका स्वामी था। आज माथे पर एक छोटी सी लाल बिन्दू धारण किये, साधारण श्वेत-साड़ी

पहने, मस्तिष्क शक्ति विहीन चन्दर इसी घर में लौट आई। इस बार उसके साथ एलिस नर्स थी।

कितनी बड़ी विधि की विडम्बना है। मैं घने दुःख से रो उठी। सचमुच ही रोने से अधिक सत्य शायद जीवन में है ही नहीं। जिन आंखों से सहज ही आंसू नहीं गिर पाते, उनसे कभी भी कुछ हो सकेगा इसमें सन्देह ही होता है।

एलिस, चन्दर तथा बच्चों को भली प्रकार सम्भाल लेती थी। प्रातः से शाम तक निरन्तर काम करते-करते भी उसके मुख पर कभी थकान का छाया तक नहीं दीख पड़ती थी। वह प्रसन्न थी, बहुत प्रसन्न। इस कच्ची गृहस्थी की क्या व्यवस्था करनी होगी सो मैं किसी प्रकार भी सोच पाई नहीं। मेरा मन वहां लगता ही नहीं था। अतः एक दिन मैंने ट्रस्ट की व्यवस्था कर ही तो दी। चन्दर की मस्तिष्क शक्ति अब भी लौटी नहीं थी।

एक दिन गम्भीर रात्रि के अन्धकार में बच्चों को प्यार करके, चन्दर के गले से लिपट कर मैं चल ही तो दी सरदार की ओर। ट्रेन के कम्पार्टमेण्ट में चढ़ते ही देखा सुधीर को। उतरने को मुड़ी, पर ट्रेन तब तक चल दी थी। सुधीर मुझे देख कर चौंक उठा—धीरे-धीरे मेरे निकट आकर उसने कहा—"विजया, तुम्हारे नाम को यूं ही उच्चारण करने का भी मेरा अब अधिकार रहा ही कहाँ है? फिर भी मुझे क्षमा करो। मैं पश्चाताप की अग्नि से जल रहा हूं सम्पूर्ण रूप से। मन में भयंकर अग्नि धधक रही है। मेरे जीवन में तीन नारी मूर्तियां आई थीं—तुम सी शक्तिशालिनी,

दृढ़ और विजयिनी सुरभि, देवी सी त्यागमयी, स्वच्छ और शान्त चन्दर सी पवित्र पुण्यमयी और लक्ष्मी मूर्ति। तीनों ही अनुपम थीं, किन्तु हायरे दुर्भाग्य! मैंने किसी का भी मूल्य नहीं जाना, किसी को भी पहचाना नहीं, किसी का भी आदर नहीं कर पाया। सदा सबके प्रति असह्य अपराध ही करता आया। सुरभि उस लोक में चली गई, जहां से वह लौटेगी नहीं। चन्द्रिका मेरे पाप अपराध के बदले सहर्ष अपनी चेतना देकर भी प्रायश्चित करके मुझे उस अग्नि की ज्वाला से बचा रही है, उससे क्षमा मांग सकूंगा ही कब? वह तो क्षमादान से भी परे पहुंच गई है। केवलमात्र तुम्हीं चेतना सहित बची हो। विजया मुझे क्षमा करके रौरव नरक की ज्वाला से बचा लो।" स्वर बड़ा ही दीन था।

"और एलिस को, एक सीधी-सादी गांव की भोली सुन्दरी नलिनी को एकदम भूल ही गये सुधीर? तुम्हारे पाप का प्रायश्चित रावी के किनारे नहीं हो सका। आज भी मेरे हाथ में मानव-मारक यन्त्र है। आज ही तुम्हें इस लोक की समस्त यन्त्रणाओं से छुड़ा देती हूं।" मैंने कठोरता पूर्वक कहा।

"तब वैसा ही करो विजया!" उसने करुण स्वर में कहा। व्यथित भाव से बैंच पर बैठ गया। पिस्तौल हाथ में लेकर भी मेरे कानों में गूंज रहा था—"दण्ड से क्षमा किसी प्रकार भी छोटी नहीं है।"

मन एकबारगी डोल गया। धीर प्रशान्त स्वर में मैंने कहा—"छीः, नहीं, नहीं, तुम्हारे रक्त से हाथ रंगूगी नहीं और फिर वैसा करने पर तुम्हारा तिल-तिल करके जलने का प्राय-

श्चित भी कहां पूरा हो सकेगा," कहकर मैंने पिस्तौल सचमुच ो खिड़की की राह उस भयंकर जंगल में फेंक दी, जहां से ट्रेन ता रही थी। मेरा मन कांप रहा था। हृदय में सुधीर के प्रति क प्रेम सा उमड़ा पड़ता था। क्रोध का कहीं चिन्ह तक भी तो न था। आंखों के आंसू रोककर मैंने कहा—"सुधीर! मैंने तुम्हें क्षमा किया। अभिमान से नहीं, वरन् इसलिये कि दण्ड नहीं दे सकी। दीदी ने प्राण देकर तुम्हारे पाप का प्रायश्चित किया, चन्दर ने चेतना देकर। अब तुम्हारा पाप रहा ही कहां है जो मैं तुम्हें दण्ड दे सकूं। जो नारी सचमुच ही दूसरों के ताप, दोष भी अपनी छाती के रक्त से धो डालती हैं, धो पाती हूं, वह धन्य हैं। उन्हीं पुण्यमयी देवियों के प्रताप से तुम्हारा चरित्र भी अकारण ही निर्मल हो उठा है—यह कभी भी भुला न देना, सुधीर। भगवान तुम्हारा मगल करें।"

"नहीं, नहीं, मुझे क्षमा न करो बिज्जी, जान पड़ता है क्षमा की ज्वाला दण्ड से कहीं अधिक तीव्र है। मुझे दण्ड ही दो।"

ट्रेन खड़ी हो गई, मेरा गन्तव्य स्थान आ गया था। मैंने अन्तिम शब्द कहे—"क्षमा कर चुकी हूं सदा के लिये—दण्ड की व्यवस्था मानव के लिये मानव को करना उचित ही नहीं है। वह तो वही करेंगे जो स्वयं मानव-भाग्य-विधाता हैं। और क्या कहूँ। भगवान तुम्हें सुमति दें। भगवान तुम्हारा कल्याण करें।" मैं उतर गई। सुधीर देर तक मेरी ओर देखता रहा। मैं भी कुछ देर तक उस स्थान से हिल न सकी।

उसी दिन मैंने सरदार के चरणों में बैठ कर कह डाला—'गुरुदेव ! मनुष्य को अभिमान करना शोभा नहीं देता। एक दिन अभिमान से कहा था कि मैं मानव दुर्बलता को कुचल डालूंगी। किन्तु कुचल पाई कहाँ ? तुम्हारा मनुष्य-मारक यन्त्र त्याग चुकी हूं। अब यही आशीर्वाद दो कि विश्व भर में मानव मात्र में उसी एक निर्माण-कर्ता, सृजनकर्ता, विश्व-नियन्ता की मूर्ति देख सकूं।"

उन्होंने भरी हुई आँखों से कहा—"मां, तुम मां ही हो, चाहे उमा रूप में हो, अन्यथा काली अथवा दुर्गा रूप में। रूप से भिन्न होने पर भी तुम मां हो, यह कभी भूल न जाना। माँ की सभी सन्तानें एक सी हैं, वह उनका संहार भी करती है अपना ही जान कर, अपना अंश, अपना रूप ही जान कर और फिर सृजन भी और पालन भी। इन सब में भेद है ही कहाँ ? भेद रहता भी कहाँ है ? कल तक तुम रणकाली थीं, आज माँ अन्नपूर्णा हो, पर मुझे तो तुम्हारा एक ही रूप, एक ही रसमयी मूर्ति दिखाई पड़ती है। कहीं भी कुछ भेद नहीं है, माँ। सन्तान की दृष्टि से माँ सदा एक सी ही है।"

मैं कुछ भी न कह पाई। शायद उनके चरणों में सिर रखना चाहता थी। किन्तु दूसरे ही क्षण मैं वहां अकेली थी। कहीं दूर से स्वर लहरी आ रही थी—"नर तुम नारायण का रूप.....पाया नर ने तुम से नित्य स्वरूप..... नर तुम नारायण का रूप.....।"

मैं मां हूं विश्व जननी, जगज्जननी.....अखिल विश्व ब्रह्माण्ड मेरी ही सन्तान है..... मैं शक्ति हूँ, मैं

शिव की कर्तृत्व प्रधान शक्ति हूं.....मैं ब्रह्म हूं..... मेरे मन में गूँज रहा था.....।

स्वर लहरा रहे थे.....नर तू..... ...नारायण का रूप.....।"

॥ समाप्त ॥